

अनुकरणीय गुरु

प्रधान सम्पादक

डा. के. के. शर्मा

अनुकरणीय गुरु

प्रधान सम्पादक

डा. के. के. शर्मा

अनुकरणीय गुरु

प्रधान सलाहक
डा. के. के. बाली

467

A1SS

अनुकरणीय गुरु

संस्मरणात्मक लेखों का संकलन

ANUKARANIYA GURU

A Collection of Reminiscences

THE JOURNAL

OF THE

AMERICAN

ASSOCIATION OF

70834

अनुकरणीय गुरु

संस्मरणात्मक लेखों का संकलन

प्रधान सम्पादक

डा. के.के. शर्मा

उपप्रधान सम्पादिका

डा. सिप्रा बैनर्जी

सह- सम्पादक

डा. रमेश दत्त

डा. रागिनी भूषण डा. कुलजीत चीमा

आई० बी० ए० पब्लिकेशन्स

अम्बाला कैन्ट - 133 001

आदिगुरु मूलप्रकृति
आद्याशक्ति
के चरणों में
समर्पित

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः।

— सम्पादक मण्डल

	पृष्ठ संख्या
प्राक्कथन -	XI
सम्पादकीय-डा. के. के. शर्मा .	XIII
अनुकरणीय गुरु-एक विहंगावलोकन-डा. सिप्रा बैनर्जी	XXV
1. आदरणीय, वन्दनीय गुरु-पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय	1
2. मेरे अपने सद्गुरु-पंडित जगन्नाथ भारद्वाज	7
3. अनुकरणीय गुरु-श्री विष्णु प्रभाकर	15
4. मेरे अनुकरणीय गुरु-डा. संसार चन्द्र	23
5. मेरे अनुकरणीय गुरु-पद्मश्री चिरंजीत	29
6. मेरे चिरस्मरणीय गुरु-श्री समीर बैनर्जी	35
7. मेरे मार्गदर्शक गुरु-श्री गोपेश्वर	45
8. अनुकरणीय गुरु-डा. श्रीमती रमा दुबलिश	50
9. अनुकरणीय गुरु श्री सूर्यपाल सिंह-श्री माताप्रसाद	54
10. संस्मरण शिवजी का: प्रसंग उनके क्रोध का -विद्यावाचस्पति डा. श्रीरंजन सूरिदेव	61
11. मेरे पण्डित जी, मौलवी साहब और वत्सल गुरु पं. अयोध्यानाथ शर्मा-डा. रमानाथ त्रिपाठी	68
12. खट्टी मीठी यादें-डा. अरुण कुमार सेन	76
13. वर्तमान सन्दर्भ में गुरु की प्रासंगिकता-डा. बालाशौरि रेड्डी	83
14. Some Reminiscences About My Great Teachers -Dr. D. B. Sen Sharma	89
15. Those Who Inspired Me -Padmabhushan Julio Francis Rebeiro	97

16. Gratitude-Dr. N.B. Patil	100
17. मेरे गुरु-डा. मेला राम शर्मा	103
18. मेरे अनुकरणीय गुरु-डा. सत्यव्रत शास्त्री	108
19. मेरे गुरु-श्री सुनीति कुमार चैटर्जी	113
20. Anukaraniya Guru-Shri B.P. Singhal	118
21. मेरे अनुकरणीय गुरु-पद्मश्री सरदार मिल्खा सिंह	127
22. मेरे गुरु-श्री भाल भागवत	133
23. पण्डित चुन्नीलाल सूदन मेरे पिताश्री, मेरे गुरु -डा. कृष्णलाल शर्मा सूदन	139
24. मेरे आध्यात्मिक गुरु-डा. देवेन्द्र मोहन	145
25. अनुकरणीय गुरु के प्रति श्रद्धा-प्रसून-श्री विद्यासागर चतुर्वेदी	151
26. My Well Remembered Guru-Dr. Brij R.K. Kashyap	165
27. My Gurus at Santiniketan-Prof. Sovan Som	167
28. गुरु स्मरण-डा. प्रभाकर पाण्डुरंग आपटे	171
29. मेरे अनुकरणीय गुरु-डा. के. के. शर्मा	177
30. गुरु-शिष्य परम्परा और मैं-डा. श्रीमती अनीता सेन	188
31. मेरे गुरुदेव-स्वामी सत्यमित्रानन्द गिरि	195
32. Homage To My Unforgettable Gurus -Prof Dr. Devendra Kaushik	201
33. जो राह बताकर चला गया, कितने दीपक वह जला गया -श्री चन्द्रकान्त महादेव आपटे	206
34. मेरे टीचर एवं मेरे विद्यार्थी-डा. दलीप कौर टिवाणा	210
35. मेरे प्रतिभावान् गुरु-सरदार हरपाल टिवाणा	218
36. मेरे श्रद्धेय गुरु-डा. सुरेन्द्र शर्मा	223
37. Teachers Who Inspired Me Most -Dr. Harbhajan Singh Deol	227

38. अनुकरणीय गुरु—श्री निर्मल कुमार	231
39. My Guruji And My Inspiration -Dr. Krishna Kumar	241
40. हजरत मदनी जिनके किरदार का मैं मुतास्सिर हूँ —श्री मुहम्मद हसीब सिद्दीकी	246
41. Anukaraniya Guru.-Dr. O.C. Handa	250
42. Anukaraniya Guru.-Shri V. Balachandran	254
43. जिन्होंने मेरी इतिहास में रुचि जगाई—डा. सतीश मित्तल	257
44. अनुकरणीय गुरु—डा. महाराज कृष्ण जैन	262
45. मेरे अनुकरणीय गुरु—पद्मश्री चमन लाल	269
46. अनुकरणीय गुरु—डा. देवेन्द्र मोहन लाल गर्ग	276
47. मेरे गुरु, मेरे रहबर—श्री मुहम्मद सुलेमान	279
48. अनुकरणीय गुरु—श्री नरेन्द्र कोहली	285
49. My Anukaraniya Guru-Shri John Stanley	304
50. जिन्होंने मुझे मार्ग दिखाया—डा. विनोद कुमार तनेजा	306
51. मेरे अनुकरणीय गुरु—डा. सी. भास्कर राव	310
52. प्रथम गुरु भये जनक हमारे—पण्डित जगदीश प्रसाद	316
53. अद्वितीय गुरु—श्री किशन सिंह चौहान	320
54. मेरे विद्या गुरु—डा. जसवीर सिंह साबर	326
55. श्रद्धेय गुरुवर आचार्य दिवाकर दत्त शर्मा—श्री केशव शर्मा	330
56. मेरे अनुकरणीय गुरु—डा. सिप्रा बैनर्जी	335
57. स्मरणीय—अविस्मरणीय—डा. सुरेशचन्द्र त्यागी	344
58. अध्यापकों में गुरु परिचय—डा. जगमोहन सिंह राजपूत	351
59. एलेना—श्रीमती मधु भादुड़ी	360
60. गुरु बिना ज्ञान नहीं—डा. कैलाशचन्द भारद्वाज	368
61. मेरे प्रेरणा स्रोत—डा. योगेश कुमार गुप्ता	370

62. अनुकरणीय गुरु—श्री विरेन्द्र कुमार शर्मा	373
63. Anukaraniya Guru Satchidanandji Maharaj -Swami Taranand	376
64. मेरे श्रद्धेय गुरुजन—डा. समरेन्द्र कुमार रे	387
65. अनुकरणीय गुरु—श्री रमेश वालिया	393
66. इक शब के मुसाफिर—डा. रमेश दत्त	398
67. मेरे गुरु और मैं—श्री कँवलजीत	404
68. I Owe Much To Prof.P.C. Gupta-Shri V.N. Rai	408
69. मेरे अनुकरणीय गुरु डा. डी.एम.एल. गर्ग—श्री सुभाष बत्रा	409
70. मेरे गुरु—श्रीमती सुषमा स्वराज	412
71. प्रणाम—डा.श्रीमती रागिनी भूषण	417
72. अनुकरणीय गुरु—डा. श्रीमती इन्दिरा भार्गव	424
73. मेरे गुरु—पद्मश्री सुश्री बचेन्द्री पाल	428
74. श्री गुरवे नमः—डा. शशि कश्यप	433
75. अनुकरणीय गुरु—श्री राजेन्द्र कुमार त्यागी	437
76. Footsteps Worthy To Be Followed.-Ms. Mona Kavi	441
77. गुरुर्देवो भव—डा. एन. सिंह	443
78. मेरे गुरु—पद्मश्री वैद्य बालेन्दु प्रकाश	450
79. सब उनकी दुआ है—डा. श्रीमती कुलजीत चीमा	456
80. सादर नमन—डा. श्रीमती साधना (शर्मा) कश्यप	463
81. मेरे श्रद्धेय, मेरे अनुकरणीय—डा. सीमा जैन	467

Ankaraniya Guru- Name Index	475
Our Contributors	485

प्राक्कथन

‘सहारनपुर सन्दर्भ – सहारनपुर की महान् विभूतियां’ नामक पुस्तक (लेखक डा. के. के. शर्मा एवं डा. सिप्रा बैनर्जी) का कार्य प्रगति पर था। हम (सम्पादक मण्डल) में से एक, डा. सिप्रा बैनर्जी ने उस सन्दर्भ में लघुकथा के जनक आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र रचित एक संस्मरण पढ़ा जिसमें आचार्य जी ने अपने गुरु को स्मरणांजलि अर्पित की थी। विषय ने पाठिका के हृदय को स्पर्श किया और उनके अब तक के चिन्तन कि ‘प्रत्येक सफल व्यक्ति की सफलता के मूल में उसके माता-पिता के साथ गुरु का भी अवश्यमेव योगदान होता है’ को बल मिला। उन्हें लगता रहता था कि वह मंच कहां जहां अपने गुरुजनों के प्रति कृतज्ञता को अभिव्यक्ति दी जा सके, उन्हें स्मरणांजलि और श्रद्धांजलि अर्पित की जा सके। उसी चिन्तन का फल था ‘अनुकरणीय गुरु’ की योजना। योजना को मूर्तरूप देने के लिए एक सम्पादक मण्डल का गठन किया गया—प्रधान सम्पादक—डा. के. के. शर्मा, पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग, जे. वी. जैन पी. जी. कालिज, सहारनपुर, उपप्रधान सम्पादिका डा. सिप्रा बैनर्जी, रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, मु. ज. खे. गर्ल्स पी. जी. कालिज, सहारनपुर, सहसम्पादक डा. रमेश दत्त, रीडर एवं अध्यक्ष, इतिहास विभाग, जे. वी. जैन पी. जी. कालिज, सहारनपुर, श्रीमती मंजु भार्गव प्रवक्ता, संगीत विभाग, मु. ज. खे. गर्ल्स पी. जी. कालिज, सहारनपुर और डा. श्रीमती कुलजीत चीमा, प्रवक्ता, कोशकारी विभाग, पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला। किन्हीं अपरिहार्य कारणवश श्रीमती मंजु भार्गव स्वयं को उक्त योजना के साथ सम्बद्ध नहीं रख पाई। उनके स्थान पर डा. रागिनी भूषण रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, पोस्टग्रेजुएट स्कूल कालेज फार वूमैन, जमशेदपुर को सम्पादक मण्डल में सम्मिलित किया गया। विगत साढ़े तीन वर्षों से ‘अनुकरणीय गुरु’ को आकार प्रदान करने का हम सभी का अथक प्रयास चलता रहा। योजना मात्र 51 संस्मरणात्मक लेखों के संयोजन, सम्पादन की ही थी परन्तु विदग्ध लेखकों का सहयोग ऐसा मिला कि संख्या जब 81 तक पहुंच गई तब हमें सीमा रेखा खींचनी पड़ी। हमारी योजना थी कि भारत के विभिन्न राज्यों में जीवन के विविध क्षेत्र में कार्यरत महानुभावों के लेखों को इस पुस्तक में सम्मिलित किया जाए। सौभाग्य से हमें इस विषय में आशातीत सफलता प्राप्त हुई। तभी ‘अनुकरणीय गुरु’ के लेखक प्रायः सम्पूर्ण भारत से सम्बद्ध हैं तो भारत से बाहर अमेरिका, कनाडा, यू.के.,

मिन्स (प्राक्त्तन रूस), यूरोप आदि से भी लेख प्राप्त हुए हैं। लेखक जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों से सम्बन्ध रखते हैं। लेखकों की आयु-सीमा शताधिक वर्ष से चौतीस वर्ष तक है। इस प्रकार जिन अनुकरणीय गुरुजनों को प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रद्धासुमन अर्पित किये गए हैं वे लगभग सौ-सवा सौ वर्ष की समय-सीमा में व्याप्त हैं।

गुरु-शिष्य परम्परा आज इतिहास की चीज़ बनती जा रही है। आधुनिक टेक्नोलॉजी ने गुरु को पूरी तरह नकारने का प्रयास किया है परन्तु 'अनुकरणीय गुरु' के माध्यम से यह हस्त अमलकवत् स्पष्ट हो जाता है कि अतीत में गुरु जितने अनिवार्य, अपरिहार्य, आदरणीय और श्रद्धेय थे, आज भी उतने ही हैं।

हमारे सम्माननीय लेखकों के सक्रिय सहयोग की ही परिणति है कि 'अनुकरणीय गुरु' आपके हाथों में है। हमारे लेखकों के प्रति हमारी आन्तरिक कृतज्ञता ज्ञापित है। इस योजना को साकार करने में जिन महानुभावों का विशेष सहयोग प्राप्त हुआ उनमें उल्लेखनीय हैं श्री बी.पी. सिंहल, सेवानिवृत्त आई.पी.एस. तथा वर्तमान सदस्य, राज्य सभा; श्री जॉन स्टेनले, डी.आई.जी. (बी.एस.एफ.) फरीदकोट; डा. रवीन्द्र कुमार दुबे, पूर्व अध्यक्ष, धातु एवं अभियन्त्रिकी विभाग, आई.आई.टी., कानपुर; डा. श्रीमती शशि कश्यप, रीडर एवं अध्यक्ष, एस. एन. डी. टी. यूनिवर्सिटी फार वूमेन, मुम्बई; श्री मुहम्मद सुलेमान, दारुल उलूम, देवबन्द; श्री रजनीकान्त शुक्ल, हरिद्वार; डा. सीमा जैन, खतौली; श्रीमती मंजु गुप्ता, अध्यक्ष कला विभाग, मु. ज. खे. गर्ल्स पी. जी. कालिज, सहारनपुर; डा. डी.एम.एल. गर्ग, पूर्व अध्यक्ष, रसायनशास्त्र विभाग, जे. वी. जैन पी. जी. कालिज, सहारनपुर, डा. लीलाधर वियोगी, पूर्व अध्यक्ष, हिन्दी संस्कृत विभाग, सनातन धर्म कालिज, अम्बाला छावनी। आप सभी के प्रति सकृतज्ञ चित्त का आभार ज्ञापित है। श्री कुलदीप मित्तल, एटोज कम्प्यूटर, सहारनपुर और श्री सत्यव्रत बैनर्जी, आई०बी०ए० पब्लिकेशन्स, अम्बाला छावनी के प्रति भी आभार। जिनका भी प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सहयोग प्राप्त हुआ, उनका भी आभार।

शिक्षा के क्षेत्र में दिन प्रतिदिन गिरते नैतिक मूल्यों के इस दूषित वातावरण में 'अनुकरणीय गुरु' यदि अमावस्या की रात्रि में टिमटिमाते माटी के दीपक की भांति स्वल्पमात्रा में भी मार्गदर्शन दे सका, वर्तमान पीढ़ी को आत्म मंथन का अवसर और भावी पीढ़ी को कुछ दिशा निर्देश दे पाया तो हमारा यह प्रयास सफल सार्थक होगा।

सम्पादक मण्डल

सम्पादकीय

असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मा मृतं गमय।

‘मुझे असत्य से सत्य की ओर ले चलो, अन्धकार से आलोक की ओर ले चलो, मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो। नहीं चाहिए मुझे असत्य, नहीं चाहिए अन्धकार, नहीं चाहिए मृत्यु। चाहिए सत्य, ज्ञान और चाहिए अमृत’। सृष्टि की प्रारम्भिक अवस्था में या कहें सुदूर अतीत में मानव ने की थी यह प्रार्थना। आकुल अन्तर से उसने असत्य के प्रति, अज्ञानान्धकार के प्रति, मरणधर्मिता के प्रति अपनी अस्वीकृति व्यक्त की थी, उन्हें नकार दिया था। बदले में चाहा था सत्य, आलोक और अमरता। प्रार्थना तो स्पष्ट है परन्तु प्रश्न उठता है किससे की थी उसने यह प्रार्थना। नीले गगन के तले, दिग्दिगन्त में फैले विस्तृत भूखण्ड के ऊपर, प्रकृति की एकान्त गोदी में बैठे उस एकाकी मानव ने किसके दरबार में पेश की थी यह अर्ज़ी? किसके कर्णकुहरों तक पहुंचाने के लिए मचाई थी यह गुहार? कौन? कौन था वहां उसके अन्तःकरण की यह वाणी सुनने के लिए? अवश्य ही वह कोई ऐसा होगा जिसे प्रार्थयिता अपने से श्रेष्ठ मान रहा था, अधिक क्षमतासम्पन्न, अधिक योग्य, अधिक शक्तिशाली स्वीकार कर रहा था। वह अवश्यमेव कोई ऐसा था जिसे सत्य और असत्य का, तमस् और आलोक का, मृत्यु और अमरता का पार्थक्य ज्ञात था और जिसके पास इनका ठिकाना भी था। इन विशेषताओं से सम्पन्न वह कहीं सृष्टि का आदि गुरु ही तो नहीं था? हां, वह गुरु ही था। अब आप चाहें तो उसे परब्रह्म कह लें, ईश्वर, परमात्मा, परमेश्वर, वेद, अन्तःकरण, अन्तरात्मा कुछ भी कह लें, कोई नाम धर लें पर था वह गुरु ही, पथप्रदर्शक, दिशानिर्देशक, उचित-अनुचित का विभेदक, और सर्वोपरि गु-अन्धकार का, अज्ञान का रोधक, निरोधक, विनाशक। गुरु ही तो सत्य से साक्षात् करवाने वाला, अज्ञान के अन्धकार को तार-तार करने वाला, ज्ञान के भास्कर को उद्भासित करने वाला, नश्वरता, क्षणभंगुरता, सामयिकता की बेड़ियों में जकड़े मरदेह से हटाकर चिरन्तन आत्मा की अनुभूति करवाने वाला होता है। वह गुरु ही था, यह गुरु ही है, यह गुरु ही रहेगा चाहे उसे कितना नकारा जाए, अवांछित और अनावश्यक करार दिया जाए। आज चाहे कितना भी शोर मचाया जाए कि साइबर क्रान्ति हमारी अब तक की जीवनशैली और समस्त व्यवस्था को आमूल-चूल बदल कर रख देगी, उसका पूरा ढांचा ही परिवर्तित कर देगी और आज प्रचलित तथा प्रयुक्त अधिकांश विषय, व्यवस्था, यहां तक कि व्यक्ति भी कल नकार दिये जाएंगे, और तो और आज का सम्मानित बुद्धिजीवी आगामी जगत् में अकेला और असहाय होगा, साइबर

स्कूलिंग के युग में उस अध्यापक के लिए कोई स्थान नहीं होगा, दुनिया में उसकी कोई उपयोगिता नहीं होगी फिर भी वास्तविकता तो यह है कि एक सामान्य, सुन्दर, स्वाभाविक जीवन के लिए—मानवीय जीवन के लिए गुरु चाहिए। हमें विज्ञान और तकनीकी की भी आवश्यकता है, आवश्यकता ही नहीं अनिवार्यता भी है क्योंकि उनके बिना जीवन अपूर्ण है, पंगु है पर उसके बावजूद कहता हूँ गुरु चाहिए, गुरु ही चाहिए।

गुरु क्यों चाहिए? गुरु चाहिए उसे (शिष्य को) उसी से परिचित करवाने के लिए। मानव को ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति माना जाता है। उस मानव के लिए अम्युदय और निःश्रेयस—जागतिक उन्नति और पारमार्थिक उपलब्धि—का लक्ष्य सदा बना रहता है। वह आहार, निद्रा, भय, मैथुन के अतिरिक्त भी कुछ करता है, कर सकता है और करना चाहता है। ऐसे मानव की पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करें तो दिखता है उसके जीवन के तीन आधार स्तम्भ हैं, तीन अवलम्बन हैं माता, पिता और गुरु। माता-पिता जन्म देते हैं, रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, वसा, चर्म, मेदा—सप्त धातुओं से युक्त शरीर का निर्माण करते हैं और उस शरीर में अपने जाने-अनजाने में आनुवंशिकी गुणसूत्रों का सम्प्रेषण करते हैं। उसके चित्त में संस्कारों को संचालित करते हैं। लालन-पालन कर उसके अस्तित्व को सुनिश्चित करते हैं, उसे नाम देते हैं, परिचय देते हैं और मानव समाज में परिचित करवाते हैं, प्रवेश करवाते हैं। और सबसे बड़ी बात उसे गुरु की शरण में पहुंचाते हैं। अब बारी आती है गुरु की। गुरु उसे उसकी (अपनी नहीं) पहचान देता है। भौतिक अथवा सांसारिक दृष्टि से वह शिष्य क्या है, क्या कर सकता है, उसकी क्या और कितनी क्षमता है, कैसी सामर्थ्य है, उसमें कौन-कौन सी योग्यताएं हैं जो उसी के अनजाने में उसी में छुपी हैं—इन सभी की पहचान गुरु ही तो करवाता है। और फिर उसे एक परिवार की सीमा से निकालकर उसका अपना परिचय बनाने में, उसे प्रतिष्ठित होने में, उन क्षमताओं और योग्यताओं को काम में लाने में उसका सहायक बनता है गुरु उसके ज्ञान-चक्षुओं का उन्मीलन करके। संक्षेप में गुरु शिष्य को उसके लक्ष्य की पहचान भी कराता है और उस लक्ष्य तक पहुंचने का मार्ग भी बताता है। यह ठीक है कि इसके लिए प्रयास और प्रयत्न तो शिष्य को ही करने पड़ेंगे। श्रम के बिना तो कुछ सिद्ध नहीं होता सो उसे श्रम करना पड़ेगा। ध्यान देने की बात यह है कि जीवन में श्रम की नहीं, सिद्धि की पूजा होती है और सही दिशा में किया गया श्रम ही सिद्धि तक पहुंचाता है। श्रम सही दिशा में हो रहा है, इसका सही मूल्यांकन ज्ञान के बिना सम्भव नहीं। ज्ञान अपने आप अध्ययन, चिन्तन, मनन, भ्रमण आदि के द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है और आधुनिक टेक्नालॉजी के द्वारा और मुख्य-रूप से किसी अध्यापक या शिक्षक के अध्यापन के माध्यम से भी परन्तु ऐसा ज्ञान तो एकांगी होता है। वास्तविक ज्ञान गुरु के बिना सम्भव नहीं। इस एकांगी ज्ञान को सूचना-संग्रह अथवा शिक्षा कह लें परन्तु उसमें और वास्तविक ज्ञान में बहुत अन्तर होता है। गुरु अपने अनुभव, जीवन भर के परिश्रम, अपने आचार-आचरण, चिन्तन-मनन आदि से शिष्य को दिशा-निर्देश देता है, उसका मार्गदर्शन

करता है और जीवन की कठिन से कठिन परिस्थिति में संयम, धैर्य और साहस से कार्य करने का, परिस्थिति विशेष में संघर्ष करने का मार्ग बताता है। गुरु का यह दिशा-निर्देश शास्त्रीय-ज्ञान से, पाठ्य-पुस्तकीय ज्ञान से अधिक होता है, विलक्षण होता है, होता है उपादेय और महत्वपूर्ण। यह मात्र बौद्धिक विकास नहीं, यह तो सम्पूर्ण व्यक्तित्व का घटन होता है, सच्चे अर्थों में शिष्य का पुनर्जन्म होता है और यही प्राचीन काल की द्विज बनने की प्रक्रिया थी।

गुरु का यह कार्य जैसा प्राचीन काल में था वैसा वर्तमान काल में भी है। अतीत की ओर झांके तो सामने आती है उस काल की गुरु-शिष्य की एक स्वस्थ परम्परा। उस समय गुरु का कोई विकल्प नहीं था। गुरु शिष्य का ही नहीं, समाज का भी पूजनीय और समादृत व्यक्ति होता था। ऐसे गुरु अधिकतर ऋषि हुआ करते थे-ज्ञानपुंज-जो केवल पुस्तकीय ज्ञान ही नहीं कराते थे अपितु शिष्य को कसौटी पर कसकर देखते थे और जो शिष्य कसौटी पर खरा उतरता था-जैसे सत्यकाम जाबालि- उसे अपना सम्पूर्ण ज्ञान दे देते थे। ऐसे कुछ प्रसिद्ध गुरुओं में वशिष्ठ, विश्वामित्र, धौम्य, सान्दीपनि, परशुराम आदि के नाम स्मरणीय हैं।

उस समय गुरु शिष्य का अध्यापन करते थे परन्तु यह अध्यापन उनका जीविकोपार्जन का साधन मात्र नहीं था। कुलपति पर हजारों विद्यार्थियों के भरण-पोषण का भी दायित्व होता था परन्तु उन्हें शिष्यों से प्रतिदान की न अपेक्षा थी और न कुछ लेने की आकांक्षा। तपोपूत तथा साधना-निरत उनका जीवन तो सर्वस्व त्यागी समतुल्य होता था। ऐसी अवस्था में वे समाज को देते थे, अपने लिए कुछ लेते नहीं थे। जो लेते भी थे वह अपने शिष्यों के लिए। ऐसे व्यक्ति किसी के ईर्ष्या-द्वेष का पात्र कैसे बन सकते थे? उनका कोई क्योंकिर असम्मान करने की भी सोच सकता था? स्वाभाविक रूपेण वे सभी के सम्मान और श्रद्धा के भाजन होते थे। तभी तो गुरु की महिमा का गान करता हुआ भारतीय संस्कृति का आधारभूत पुराण साहित्य थकता नहीं है। ब्रह्मवैवर्त पुराण का कहना है कि यह गुरु ही है जिसने देव, मन्त्र, पूजा का विधान तथा जप आदि की पहचान करवाई। देव के द्वारा तो गुरु दिखाया नहीं जाता, जबकि गुरु द्वारा देव-साक्षात्कार करवाया जाता है, अतः देव से भी गुरु महत्तर है।

उसने गुरु को सर्वदेवमय तो माना ही है साथ ही उसे परब्रह्म भी स्वीकारा है-

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।

गुरुः प्रकृतिरीशाद्या गुरुश्चन्द्रोनलो रविः॥

गुरुर्वायुश्च वरुणो गुरुर्माता पिता सुहृत् ।

गुरुरेव परं ब्रह्म नास्ति पूज्यो गुरोः परः॥

वस्तुतः गुरु को ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर आदि मानना शाब्दिक अर्थ में नहीं है, यह तो प्रतीकात्मक है। ब्रह्मा के समान गुरु शिष्यरूपी भूमि में ज्ञानरूपी बीज डालकर

सद्विचारों का वपन करता है। उनको परिपोषित करता है, व्यवहार में लाता है अतः विष्णु है और अज्ञान का, अन्याय का, दुर्विचारों का शमन करता है अतः शिव है।

वे गुरु शिक्षा देते समय विषय का मात्र बाह्य परिचय नहीं देते थे अपितु उसके मर्म को समझाते थे क्योंकि वह सारा विषय उनका आत्मसात् किया हुआ होता था। उनकी धारणा में कहीं कोई अस्पष्टता अथवा विरोधिता विराजती नहीं थी। अस्तु, उस विषय के ज्ञान के साथ ही उसके उपयोग के विषय में बताते, उचित और अनुचित का बोध करवाते, उनके विवेक को जागृत करते थे। इस समस्त प्रक्रिया में गुरु का व्यवहार शिष्यों के प्रति भेदभाव रहित तथा निष्पक्ष होता था।

विश्वामित्र द्वारा राम को अपने साथ ले जाने की मांग दशरथ से की जाने पर गुरु वशिष्ठ ने विचलित राम को जो उपदेश दिया, उनके मन में आई दुर्बलता को दूर करने के लिए जो शिक्षा दी वह कुरुक्षेत्र की समरभूमि में किंकर्तव्यविमूढ़ अर्जुन को दिए कृष्ण के उपदेश से कम नहीं है। गुरु वशिष्ठ ने अपने कर्तव्य का निर्वाह किया और शिष्य में आत्मबल, साहस और शक्ति का संचार किया। यह मात्र शास्त्रीय ज्ञान नहीं वरन् व्यक्तित्व के गठन का भी प्रयास था। सान्दीपनि के आश्रम में रहते हुए दो बिल्कुल विपरीत सामाजिक तथा आर्थिक स्तर से सम्बन्धित कृष्ण और सुदामा ने जो शिक्षा पाई, जो पारस्परिक व्यवहार और मित्रभाव का पाठ पढ़ा, वह व्यवहार में स्पष्ट दिखाई देता है जो एक आचार स्तम्भ के रूप में आज भी सामने है।

प्राचीन शिक्षा-पद्धति की इस विशेषता को कभी विस्मृत नहीं करना चाहिए कि तत्कालीन शिक्षा जहां सर्वांगीण होती थी वहीं 'रसनाग्रनर्तकी' के समान विद्या को कण्ठस्थ भी करवाया जाता था। इससे शिष्य अपने ज्ञान का सर्वदा तथा प्रत्येक परिस्थिति में उपयोग करने की क्षमता को अर्जित कर लेता था परन्तु इसके साथ उसके व्यक्तित्व गठन का एक महत्त्वपूर्ण प्रयास यह होता था कि केवल गुरुमुख से श्रवण मात्र विद्यार्जन के लिए अपर्याप्त था। गुरु तथा शिष्य के मध्य संवाद की परम्परा थी। इससे शिष्य में जहां मौलिक चिन्तन की प्रवृत्ति स्वतःस्फूर्त होती थी वहीं अपने विचारों की अभिव्यक्ति की क्षमता भी उत्पन्न होती थी। गुरु के प्रति अत्यधिक श्रद्धाभाव उसे मौन नहीं बनाता तो उद्दण्डता उसे मुखर भी नहीं बनाती थी। जिज्ञासु शिक्षार्थी पूर्ण सम्मान एवं श्रद्धा के साथ इस संवाद-प्रक्रिया में भागीदारी करता था। उपनिषद् साहित्य इस गुरु-शिष्य के मध्य संवाद का सुन्दर निदर्शन है तो गीता का कृष्ण-अर्जुन संवाद तो इस सम्बन्ध में सभी शंकाओं का समाधान-रूप ही है। अत्याधुनिक शिक्षण पद्धति इन्ट्रैक्शन का मूल यहां स्पष्टतया परिलक्षित होता है। इसके साथ ही तत्कालीन शिक्षा की व्यावहारिकता पर भी ध्यान केन्द्रित करना उचित होगा। वस्तुतः शिक्षा केवल गुरुमुख से श्रवण कर बुद्धिस्थ अथवा कण्ठस्थ करने तक सीमित नहीं थी। श्रवण के उपरान्त उस पर मनन

होता था। तदुपरान्त उसका मन्थन कर सार भाग को आत्मसात् कर अपने आचरण में ढालना होता था तभी जाकर विद्या की पूर्णता मानी जाती थी।

यह तो रही शिष्य के अभ्युदय के सम्बन्ध में गुरु के प्रयासों की एक झलक। इसके साथ ही शिष्य के निःश्रेयस का मार्ग भी तो गुरु ही बतलाता था। भारतीय मान्यतानुसार मानव जीवन का चरम लक्ष्य है पुरुषार्थ चतुष्टय में से अन्तिम अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति। मोक्ष है आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, ब्रह्मदर्शन, ब्रह्मानुभूति करना। यह गुरु ही है जो शिष्य को बतलाता है कि यह जगत् मिथ्या है और ब्रह्म सत्य है और तब क्रमशः उसे इस बोध तक पहुंचाता है कि वह शिष्य ही ब्रह्म है—‘तत्त्वमसि’। गुरु यहां तक शिष्य का हाथ पकड़कर पहुंचा देता है। इसके अनन्तर तो उसे स्वयं साधना करनी है, तपना है और तब ‘अहम् ब्रह्मोस्मि’ को उपलब्धि करनी है। यदि जीवन में गुरु का सहारा न मिले तो इस आत्मज्ञान की प्रक्रिया तो अपूर्ण ही रह जाएगी। अब यह अलग बात है कि निःश्रेयस तक पहुंचने के लिए वह अभ्युदय के सोपानों का अतिक्रमण करके आए या सीधा ही वहां तक पहुंच जाए।

‘अनुकरणीय गुरु’ का उद्देश्य गुरु-शिष्य के सम्बन्धों का विश्लेषण करना नहीं है, उद्देश्य है गुरु-शिष्य सम्बन्धों के माध्यम से यह देखना, यह खोजना कि अनुकरणीय गुरु वास्तव में कौन है? वह कैसा है? और क्यों है वह अनुकरणीय? यह भी देखना है कि शिष्य अनुकरणीय गुरु का चयन कैसे करे। शिष्य में जिज्ञासा और अभीप्सा जितनी अधिक होती है, उतना ही गुरु के निकट जाने का मार्ग प्रशस्त होता है। शंका उत्थापित हो सकती है कि चारों ओर के इस भ्रष्ट माहौल में, दूषित पर्यावरण में ‘अनुकरणीय गुरु’ का उल्लेख हास्यास्पद या कुछ सीमा तक अप्रासंगिक तो नहीं। आज गुरु-शिष्य सम्बन्धों की जितनी छिछलेदारी की जाए, शिक्षालयों तथा शिक्षण-पद्धति की जितनी कटु आलोचना की जाए, जितना गुरुओं पर दोषारोपण किया जाए वह सब अनेकांश में सच होने पर भी सच यह भी है कि आज भी अनेक ऐसे गुरु हैं जिन्हें अनुकरणीय कहने से नकारा नहीं जा सकता है। आज गुरु प्राचीन गुरुओं के प्रतिरूप ही होंगे ऐसी दुराशा नहीं की जा सकती। उनकी तुलना करना भी बेमानी है क्योंकि तुलना करने के लिए समान अवस्था, परिस्थिति और काल का होना आवश्यक है। अतः विरागी क्रान्तद्रष्टा ऋषि गुरुओं के साथ घोर संसारी व्यावहारिक गुरुओं को एक तुला में तोलना उचित नहीं क्योंकि प्राचीन काल के गुरु समाज के आदर्श होते थे। वे सच्चे अर्थों में सत्य के अन्वेषक थे, उनका जीवन सर्वहिताय सर्वजनाय समर्पित था। उनका सत्व स्व के लिए नहीं, पर के लिए था, दस के लिए था, देश के लिए था और था अपने शिष्यों और अनुयायियों के लिए। यदि वे गृहस्थ थे तो सांसारिक जीवन भोगते हुए भी वे संसार से ऊपर थे। वस्तुतः अरविन्द घोष ने जिस अतिमानव की कल्पना की है, उसी श्रेणी में उन्हें अनायास रखा जा सकता है।

उनका घर घर नहीं गुरुकुल था, था आश्रम जहां विद्यार्थियों को सच्चे अर्थों में मानव बनने का प्रशिक्षण दिया जाता था, देश के लिए अच्छे नागरिक का निर्माण होता था। अच्छा नागरिक अर्थात् ऐसा व्यक्ति जो आदर्श जीवनयापन कर सके, देश और समाज का हित सोच सके, हित कर सके, श्रेष्ठ संस्कारों से संस्कृत होकर जो धर्म तथा संस्कृति के प्रति श्रद्धावान् हो और सर्वोपरि आत्मचिन्तन का प्रयासी हो, आत्मोपलब्धि का अभिलाषी हो। इन गुरुकुलों में बालक उपनयन संस्कार के उपरान्त आता और अपना सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य आश्रम व्यतीत कर समावर्तन संस्कार की अनुमति गुरु से प्राप्त कर ही संसार में लौटता था, गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता था। गुरुकुल में रहते हुए प्रत्येक स्तर और कुल के बालक को प्रायः एक ही प्रकार का जीवनयापन करना पड़ता था—अहं का परित्याग करके भिक्षाटन करना, ज्ञान के प्रति जिज्ञासु होना, अध्ययनशील होना, ब्रह्मचर्य आदि यम-नियमों का पूर्णतया पालन करना, माता-पिता को छोड़कर गुरु के प्रति ही पूर्ण समर्पित होकर रहना। और इस प्रकार के शिष्यों के गुरु दायित्व का वहन करने वाले गुरु भी कोई असंयत अथवा सामान्य जीवन-यापन नहीं करते थे। गुरु जहां अपने शिष्य को पूरे मन से, पूरे भाव से अंगीकार करता था वहीं उसके कल्याण के लिए भी प्रतिबद्ध हो जाता था। वह शिष्य को सब कुछ देने को तत्पर रहता जो उसके पास होता। शिष्य पर गुरु का पूर्ण विश्वास गुरु को शिष्य के पूर्ण श्रद्धा और सम्मान का पात्र बना देता था। ऐसे उदाहरणों का अभाव नहीं जहां प्रवास में जाते हुए गुरु अपने युवक शिष्य पर अपना समस्त दायित्व, यहां तक कि अपने परिवार का दायित्व भी सौंप निश्चिन्त होकर चला जाता था और शिष्य भी पूरी निष्ठा और भक्ति से शुचिता पूर्वक गुरुमाता सहित समस्त दायित्व का निर्वाह करता।

वस्तुतः प्राचीन काल में गुरु समाज का सर्वाधिक सम्मानित व्यक्ति था। राजा का उत्तरदायित्व राज्य-संचालन के साथ प्रजा के भरण-पोषण का होता था तो साथ ही गुरुकुलों का सम्पूर्ण दायित्व भी उसी के कंधों पर न्यस्त रहता। गुरुकुल के प्रति राजा के मन में विशेष सम्मान तथा आदर का भाव होता था। दण्ड-मुण्ड का विधाता होने पर भी राजा गुरुकुल के कुलपति ऋषि के प्रति ससम्भ्रम आदर भाव रखता था। ऋषि वरतन्तु-शिष्य कौत्स के आगमन-वार्ता से महाराज रघु स्वयं सिंहासन छोड़कर ऋषिप्रवर का स्वागत करने पहुंच गए तो हस्तिनापुर-नरेश दुष्यन्त कुलपति कण्व के सन्देश वाहकों के आगमन की सूचना मात्र से उनके स्वागत सत्कार के लिये व्यग्र हो गया। उक्त दोनों उदाहरण गुरु के प्रति सम्भ्रमयुक्त भक्तिभावना को ही द्योतित कर रहा है।

प्राचीन भारत की ऊपर विवेचित शिक्षा सम्बन्धित दृश्यावली के बाद जब एकदम वर्तमान काल की शिक्षा-प्रणाली, शिक्षा-संस्थाओं, गुरु-शिष्य सम्बन्धों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है तो एक विषय के दो पूर्णतया विपरीत रूप दिखाई देते हैं। शिक्षा संस्थानों

में फैले भ्रष्टाचार, अध्यापकों का वेतन बढ़ाने के लिए विद्यार्थियों का हित सोचे बिना समय असमय दीर्घ हड़तालों पर चले जाना, कर्तव्य से विमुख होना, गुरु का धनार्जन की मशीन के रूप में परिणत हो जाना, उनकी विद्यार्थियों के प्रति संवेदनशीलता का अभाव, विद्यार्थियों का गुरु को मात्र फीस के बदले पढ़ाने वाला कर्मचारी मानना आदि अनेक हताशाजनक और दुःखद स्थितियाँ सामने आती हैं परन्तु जैसे हरितिमायुक्त प्रदेश एक दिन में रेगिस्तान में परिणत नहीं होता उसी प्रकार शिक्षा-जगत् की यह स्थिति भी एक दिन की देन तो नहीं है। इतिहास साक्षी है कि देश की बदलती राजनैतिक परिस्थितियों ने धीरे धीरे शिक्षा जगत् को इस रूप में परिणत किया, परिवर्तित किया। इस कारण उस बदलती हुई ऐतिहासिक परिस्थितियों पर एक विहंगम दृष्टि डालनी समीचीन प्रतीत होता है।

ब्राह्मण काल में जहाँ वेद और वैदिक साहित्य का अध्ययन शिष्यों के लिए अनिवार्य था वहाँ बुद्धकालीन भारत में शिक्षा-पद्धति में परिवर्तन आ गया था। बुद्ध ने बौद्ध संघ व्यवस्था को जन्म देकर विश्व में पहली बार एक निश्चित स्थान अपने शिष्यों के रहने के लिए बनाया। वहीं पर उनके शिक्षण, अध्ययन और प्रशिक्षण की व्यवस्था थी। इसलिए एक अनुशासित शिक्षा-व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ। यह व्यवस्था वास्तव में बौद्ध भिक्षुओं के लिए थी। ये स्थान उस समय के सबसे अधिक प्रभावशाली केन्द्र थे।

बौद्ध धर्म के हास के साथ साथ ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार हुआ। पाली और प्राकृत का स्थान संस्कृत ने ले लिया। पुनः प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन होने लगा और गुरु-शिष्य सम्बन्धों का एक नया विस्तृत रूप हमारे सामने आया। बड़े बड़े विश्वविद्यालय जैसे तक्षशिला, विक्रमशाली, नालन्दा आदि स्थापित हुए और उनके अतिरिक्त काशी, उज्जयिनी और हरिद्वार शिक्षा के प्रमुख केन्द्रों के रूप में विकसित हुए। इस प्रकार एक बार पुनः वैदिक शिक्षा के अतिरिक्त नाट्य, शिल्प, चित्रकला आदि महत्त्वपूर्ण विषयों की शिक्षा दी जाने लगी जिनके उदाहरण आज भी महत्त्वपूर्ण मन्दिर-शिल्प, अजन्ता और एलोरा की गुफाओं, महरौली का लौहस्तम्भ, बम्बई के पास के एलिफेन्टा केव्स, उदयगिरि की गुफाएँ, हाथीगुम्फा अभिलेख, मथुरा-कलाशैली और गान्धार-कलाशैली में निर्मित मूर्तियों आदि में मिलता है। यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि बौद्धकाल से पूर्व जो शिक्षा सैद्धान्तिक अधिक और व्यावहारिक कम थी, वह अशोक के काल के बाद सैद्धान्तिक के साथ साथ व्यावहारिक भी हो गई। शिक्षा जितनी व्यावहारिक होगी उतना ही अधिक प्रशिक्षण की आवश्यकता होगी। जितना अधिक प्रशिक्षण रचनात्मक होगा उतना ही गुरु-शिष्य का सम्बन्ध बढ़ेगा। पारदर्शिता और दक्षता आएगी।

प्राचीन भारत की सांस्कृतिक धरोहर और राजपूत कालीन मन्दिर, महल, किले और चित्रकला मुस्लिम शासकों के आने से पूर्व तक भारत की प्राचीन स्थापत्य-कला

और इंजीनियरिंग शिक्षा की याद दिलाते हैं। भारत में जैसे जैसे मुसलमान आते गए और ज्यों ज्यों उनका साम्राज्य स्थापित होता गया वैसे वैसे शिक्षा के ये प्रमुख केन्द्र समाप्त हो गए और शिक्षा मन्दिरों और संस्कृत पाठशालाओं तक सीमित रह गई। आदि शंकराचार्य ने बौद्धमत व्यवस्था के आधार पर दसनामी अखाड़ों का निर्माण किया, संन्यासियों के रहने और उनकी शिक्षा के लिए इन्हें प्रमुख केन्द्रों के रूप में स्थापित किया। मुस्लिम और मुगलकाल में हिन्दुओं के लिए मन्दिर, मुसलमानों के लिए मस्जिद और मकतब ही शिक्षा के लिए शेष बचे। परिणामतः गुरु शिष्य सम्बन्धों में अन्तर आता गया परन्तु ऐसा नहीं था कि गुरु को समाज में आदर या सम्मान न मिलता हो। शिक्षा में भेदभाव होने लगा था। अमीर, गरीब और उच्च घराने के बच्चों को समान रूप से शिक्षा नहीं दी जा रही थी। इससे शिक्षक की मनोवृत्ति में भी अन्तर आ गया था। उस समय के एक महान् व्यक्ति, शिवाजी के समर्थ गुरु रामदास का नाम इस सन्दर्भ में अपवाद रूप है। मुगलकाल के पतन होने के बाद राजनैतिक अस्थिरता और अंग्रेजों के आगमन ने तो शिक्षा के उद्देश्य को ही बदल दिया। लार्ड मैकाले ने अंग्रेजी शिक्षा लागू करते समय उसके उद्देश्य को बतलाते हुए कहा था 'India would train a class of persons Indian in blood and origin but English in taste, habit and spirit'. वह भारत को अंग्रेजी साम्राज्य के स्वामिभक्त क्लर्क उपलब्ध कराना चाहता था और प्राचीन भारतीय संस्कृति के उन आदर्शों को समाप्त करना चाहता था जिन पर वह टिकी हुई थी अर्थात् आचारहीन और संस्कार विहीन व्यक्ति तैयार करना उसका उद्देश्य था। 1838 में अपने पिता को पत्र लिखते समय उसने इस तथ्य का रहस्योद्घाटन किया।

यही शिक्षा प्रणाली देश पर लागू की गई। यह दूसरी बात है कि इस शिक्षा प्रणाली में भी शिक्षित होने वाला एक वर्ग देशभक्त और ईमानदार निकला क्योंकि उनके शिक्षकों ने वह सब कुछ उन्हें दिया जिसमें वे स्वयं पढ़कर आए थे परन्तु परतन्त्र भारतवर्ष ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक शिक्षा का हास, गुरु-शिष्य सम्बन्धों के बिगड़ते हुए रूप को समझा और धार्मिक-सामाजिक सुधार आन्दोलनों के साथ साथ इस बात की ओर ध्यान दिया कि आने वाली पीढ़ी को गलत मार्ग की ओर अग्रसर करने का प्रयास किया जा रहा है और उसे ठीक करने का एकमात्र उपाय है प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली को लागू कर संस्कारयुक्त शिक्षण पद्धति स्थापित करना जिससे गुरु-शिष्य सम्बन्धों को नई दिशा दी जाए। आर्य-समाज, थियोसाफिकल सोसाइटी और रामकृष्ण मिशन ने इस दिशा में तो कार्य किया और नारा दिया 'स्वदेशी शिक्षा'। आर्य समाज ने तो यहां तक कहा, 'Go back to Vedas' इस नारे को रचनात्मक रूप देने के लिए गुरुकुलों की पुनः स्थापना की गई, राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाएं देश के विभिन्न भागों में स्थापित की गईं। ये गुरुकुल और शिक्षा-संस्थान सरकार से किसी प्रकार का अनुदान नहीं लेती थी और

न ही उनके द्वारा दी जाने वाली डिग्रियों या उपाधियों का प्रयोग करती थी। बंगाल विभाजन के काल में देश में हुए स्वदेशी आन्दोलन के समय इन शिक्षा संस्थाओं की भरमार हो गई थी। यहां तक कि इन शिक्षा-संस्थाओं के कर्णधारों को देशद्रोही की संज्ञा तक दी गई। स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपत राय, विपिन चन्द्र पाल, लोकमान्य तिलक, सिस्टर निवेदिता, अरविन्द घोष के नाम इनमें उल्लेखनीय हैं।

राष्ट्रीय शिक्षा का उद्देश्य अच्छे नागरिक तैयार करना था—ऐसे नागरिक जो देशभक्त हों, राष्ट्रहित में क्रियाशील हों और गरीबों, अछूतों और पिछड़े लोगों को उठाने का कार्य करते हों। राष्ट्रीय सन्त स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, लाला हंसराज, स्वामी श्रद्धानन्द आदि के नाम इनमें स्मरणीय हैं। मुस्लिमों को शिक्षित और जागृत करने में दारुल-उलूम, देवबन्द और अलीगढ़ आन्दोलन के प्रवर्तक सर सैय्यद अहमद खां का महत्वपूर्ण योगदान है।

उपर्युक्त कहने का तात्पर्य केवल यह है कि अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से जहां एक ओर आधुनिक शिक्षा दी जा रही थी, शिक्षा को अधिक व्यावसायिक और जीविकोपार्जन का साधन बनाया जा रहा था, स्कूल कालिज और विश्वविद्यालय स्थापित किये जा रहे थे, वहाँ दूसरी ओर आधुनिक शिक्षा राष्ट्रीय विद्यालयों में भारतीय संस्कृति को केन्द्रित करके दी जा रही थी। उस समय के उस संक्रमण काल में भी शिक्षक की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका थी। यह दूसरी बात है कि शिक्षक वेतन भोगी हो गया था। एक निश्चित पाठ्यक्रम को पढ़ाना और एक निश्चित समय सारणी के अन्तर्गत कार्य करना ही उसका उत्तरदायित्व था। दूसरी ओर विद्यार्थी के मन में भी धीरे धीरे यह भावना जागृत होने लगी थी कि वह शिक्षा-प्राप्ति के लिए धन व्यय कर रहा है। इसी कारण गुरु-शिष्य सम्बन्धों में एक स्वाभाविक अन्तर अनिवार्य था। उस अन्तर के कारण धीरे धीरे यह भावना बनती जा रही थी कि अध्यापक और शिष्य में प्राचीन गुरु-शिष्य जैसा पारस्परिक सम्बन्ध नहीं रह गया था।

वस्तुतः मैकाले द्वारा स्थापित शिक्षा प्रणाली अपने समस्त गुण-दोषों सहित स्वतन्त्र भारत में आज भी लागू है। राष्ट्रीय शिक्षा सम्बन्धी कई समितियों की रिपोर्ट के बाद भी शिक्षा में आमूल-चूल परिवर्तन नहीं हुआ। संविधान के अनुच्छेद 30 के अनुसार अल्पसंख्यकों को अपनी शिक्षा संस्थाएं चलाने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। इसके अतिरिक्त जिला परिषद्, नगर-पालिका और सरकारी स्कूलों में दी जाने वाली शिक्षा अलग अलग स्तर पर शिष्य और अध्यापक तैयार करती है। महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में भी कहीं एकरूपता अथवा समान स्तर की बात नहीं है। प्रान्तीय सरकार अथवा विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अनुदान के मुख्यापेक्षी उन संस्थाओं की अपनी समस्याएं हैं। इस प्रकार बाहरी दृष्टि से विवेचन करने पर स्थिति चारों ओर से जितनी भयावह प्रतीत होती

है उतनी ही निराशाजनक भी। अब 'अनुकरणीय गुरु' के माध्यम से प्राप्त उपलब्धियों पर भी एक दृष्टिपात करना प्रासंगिक है।

'अनुकरणीय गुरु' के माध्यम से सौ, सवा सौ वर्षों का शिक्षा-जगत् का इतिहास हमारे सामने है। यह ठीक है कि यह सम्पूर्ण भारतवर्ष के शिक्षा जगत् का इतिहास नहीं है तथापि सैम्पल स्टडी के रूप में इसे लिया जा सकता है। इसके अध्ययन से प्रथमतः यह बात सामने आती है कि 19 वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में जो शिक्षा-प्रणाली थी और जिस प्रकार के शिक्षा-संस्थान थे, उनमें मूलतः परिवर्तन आ गया था। छात्र और शिक्षक अभी भी उन्नति के लिए प्रयत्नशील थे परन्तु रास्ता बिल्कुल भिन्न था। छात्र ट्यूशन करने और शिक्षक ट्यूशन कराने में रुचि लेने लगे थे। इन सबका परिणाम यह हुआ कि एक ओर शिक्षा के क्षेत्र में गिरावट आई और दूसरी ओर अध्यापक की मर्यादा कम हुई। यह बात फैली कि वे प्रयोगात्मक परीक्षाओं में अच्छे नम्बर देने के लिए छात्रों से पैसे लेते हैं, जातीयता अथवा वर्गभावना से उनके साथ पक्षपात करते हैं। शिक्षकों में एक ऐसा वर्ग भी तैयार हुआ जो केवल शिक्षा देता और वेतन लेता था। छात्रों का पाठ्यक्रम समाप्त करा देना ही उसके कर्तव्य की इतिश्री थी। कुछ शिक्षक ऐसे भी थे जो न तो ट्यूशन करते और न ही कक्षाओं में पढ़ाते— पूर्णरूपेण कर्तव्य विमुख। इन सब बातों से छात्रों में अपने अध्यापकों के प्रति उदासीनता आई और अध्यापक का अभिभावकों और छात्रों के मध्य पहले जैसा सम्मान न रहा।

उपर्युक्त परिस्थिति को एक शब्द में विषम ही कहा जा सकता है परन्तु सौभाग्य की बात है कि 'अनुकरणीय गुरु' श्रावण के मेघाच्छन्न रात्रि में बीच बीच में द्योतित होते पूर्णिमा के चन्द्र की ज्योत्स्ना की भांति कुछ आशा की किरण लेकर आया। तभी यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि शिक्षण संस्थानों में बहुसंख्यक शिक्षकों के स्थान पर गिने चुने अध्यापकों में ही कर्तव्यपरायणता और छात्रों के प्रति निष्ठा बच गई—वे अभी भी अध्यापन में रुचि लेते थे। अध्ययन से पता चलता है कि इस कालावधि में भी ग्रामीण तथा कतिपय नगरीय प्राइमरी और जूनियर हाईस्कूलों में कार्यरत अध्यापकों द्वारा पढ़ाये गए शिष्य जीवन में प्रतिष्ठित हुए हैं, उच्च पदों पर पहुंचे हैं और उसके बाद भी सकृतज्ञ-चित्त से अपने उन गुरुओं को याद करते हैं। उन गुरुजनों के अनुशासन, वात्सल्य, कर्तव्यनिष्ठा, दायित्व-निर्वाह की भावना के साथ साथ अध्यापन के प्रति सजगता और सफलता ने उन्हें उनके शिष्यों के लिए अनुकरणीय बना दिया और अपने जीवन के अनुकरणीय को विस्मृत करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। पब्लिक स्कूलों में पढ़े हुए शिष्यों का अपने गुरुओं का प्रेमपूर्वक और श्रद्धासहित स्मरण इस बात की पुष्टि करता है कि शिक्षा का क्षेत्र कुछ भी रहा हो, गुरु की अनुशासनप्रियता, उसका व्यवहार और मूल्यों पर आधारित शिक्षा उनके लिए उपयोगी सिद्ध हुई।

लेखकों ने यह तो स्वीकार किया है कि उनके गुरु स्वयं अनुशासित थे और शिष्यों को दृढ़ अनुशासन में रखते थे परन्तु विशेषकर उच्च कक्षाओं में इस अनुशासन का अर्थ यह कदापि नहीं था कि शिष्य उनके अनुशासन की कठोरता से भयाक्रान्त हो अथवा उसकी एकरसता से ऊब जाए क्योंकि गुरु दण्डित करने और कठोर बनने के साथ उन तरुण छात्रों के साथ मित्रवत् व्यवहार भी करते थे जो अनुरागमय तो था ही साथ ही मर्यादित हास-परिहास युक्त भी। स्वाभाविक रूप से ऐसे गुरु शिष्यों के लिए परम श्रद्धाभाजन, आत्मीय, साथ ही प्रेरक बन बैठे। उन गुरुजनों के परीक्षण-निरीक्षण के माध्यम से सैद्धान्तिक शिक्षा के अतिरिक्त व्यावहारिक शिक्षा, अभिनय की शिक्षा, कला तथा संगीत की शिक्षा, साहित्य की शिक्षा के अतिरिक्त चिकित्साशास्त्र आदि विविध प्रकार की शिक्षा में लेखकों ने तद् तद् विषय में पारंगतता तो पाई ही साथ ही उन गुरुजनों के व्यक्तित्व की छाप से प्रभावित उन्होंने भी मूल्य-आधारित जीवन शैली को ही अपनाया।

‘अनुकरणीय गुरु’ ने जहां अपवाद स्वरूप महान् गुरुओं की शृंखला सामने ला उपस्थित की है उसके साथ ही इस तथ्य को भी उद्घाटित किया है कि अभी भी निष्ठावान्, जिज्ञासु और अभीप्सा वाले छात्र शिक्षण संस्थाओं में उपलब्ध हैं जो अपने अध्यापकों के अध्यापन, उनकी योग्यता, उनकी शिक्षण शैली, उनके पाण्डित्य और उन सबसे बढ़कर अपने गुरुओं के नैतिकतापूर्ण अनुकरणीय आचार-व्यवहार से प्रभावित हैं। जो अपने शिष्य के सम्पूर्ण विकास के लिए सचेत हैं, शिक्षा देने के साथ साथ उनके सहयोगी हैं, उनके मार्गदर्शक हैं वे विद्यार्थी-जीवन की समाप्ति के दीर्घकाल पश्चात् आज भी अनुकरणीय गुरु के पद पर आसीन हैं तभी तो ‘अनुकरणीय गुरु’ में ऐसे व्यक्तियों के लेख हैं जो अपने जीवन में उच्च पदों पर प्रतिष्ठित हैं, पद की गरिमा बनाए रखी तथा जीवन में स्वयं आदर और सम्मान के पात्र बने। वे आज भी अपने गुरुओं को स्मरण करते हैं और आने वाली पीढ़ी के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

‘अनुकरणीय गुरु’ का कार्य प्रारम्भ करते समय तात्पर्य केवल उन गुरुओं से नहीं था जिनसे शिक्षा प्राप्त की गई। ऐसे व्यक्तियों को भी सम्मिलित किया जाना था जो मार्गदर्शक, प्रेरक और प्रशिक्षक रहे हों। कृष्ण और अर्जुन तथा स्वामी रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द का उदाहरण देते हुए अपने तात्पर्य को स्पष्ट किया गया था अतः कुछ लेखकों ने सेवाकाल में अपने उच्च अधिकारी को जिसने उन्हें रचनात्मक और व्यावहारिक ज्ञान का प्रशिक्षण दिया, कर्तव्यनिष्ठ और सच्चरित्र होने का पाठ पढ़ाया, को अपने ‘अनुकरणीय गुरु’ के रूप में स्वीकारा है। कुछ ने अपने व्यक्तिगत व्यवहार और जीवन शैली से प्रभावित किया, कुछ गुरुओं ने अपने शिष्यों को प्रशिक्षित करने में विशेष रुचि ली और अपना समय लगाया परिणामतः शिष्य अन्तरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त करने में भी

सफल हुए। वास्तव में गुरु अनुशासित, दृढ़ और निष्ठावान् शिष्य को सब कुछ देने के लिये तैयार रहता है। गुरु उसका मित्र भी होता है, सहयोगी भी होता है और मार्गदर्शक भी।

इन सबके अतिरिक्त कुछ लेखकों ने अपने जीवन में गुरु रूप में स्मरण किया जिनके एक वाक्य, एक सन्देश और एक अनुभव ने उनकी जीवन धारा ही बदल दी। गुरु का आयु से कोई सम्बन्ध नहीं, प्रेरणा तो किसी से भी ली जा सकती है। माता-पिता तो जीवन में प्रेरणा के स्रोत होते ही हैं परन्तु कभी कभी मित्र, पत्नी और सहकर्मी भी अपने क्रियाकलापों से अनुकरणीय बन जाते हैं।

‘अनुकरणीय गुरु’ पुस्तक की प्रस्तुति से पूर्व जो लक्ष्य निर्धारित किया गया था, वह तो पूरा हुआ ही साथ में यह अध्ययन आने वाली पीढ़ी के लिए एक मील के पत्थर की तरह उपयोगी सिद्ध होगा ऐसी आशा है। आज के बिगड़ते हुए माहौल में जहां धर्म-निरपेक्षता के नाम पर नैतिक शिक्षा से छात्र को वंचित रखा जा रहा है वहीं उनके संस्कार भी प्रभावित हो रहे हैं। वास्तविकता तो यह है कि सामाजिक परिवर्तन से सामाजिक परिवेश बदलता है और उस बदलते परिवेश का प्रभाव शिक्षण संस्थाओं पर पड़ता है। यदि छात्र उद्विग्न हो रहा है, अनुशासित नहीं है तो उसके लिए अभिभावक और अध्यापक दोनों उत्तरदायी हैं। अच्छे अध्यापक और अच्छे छात्रों के निर्माण में कोई तो दिशा बोधक चाहिए जो प्रेरणा देने का कार्य कर सके। ‘अनुकरणीय गुरु’ इस दिशा में एक पथ प्रदर्शक के रूप में कार्य करेगा ऐसा विश्वास है।

के.के. शर्मा

प्रधान सम्पादक

अनुकरणीय गुरु—एक विहंगावलोकन

नाना प्रकार के सुगन्ध, वर्ण और रूप के पुष्पों का स्तवक अपने में एक अनिर्वचनीय पावनता और मनोरमता को समाहित किये रहता है। उसी भांति विविध आयु, क्षेत्र, रुचि, वृत्ति और प्रवृत्ति के 81 लेखकों के संस्मरणात्मक लेखों का संकलन 'अनुकरणीय गुरु' अपने में एक अनाविल श्रद्धा और कृतज्ञता को समेटे हुए है।

एक संकलन के लिए 81 की संख्या पर्याप्त अधिक है। अधिकता के साथ विविधता का आना स्वाभाविक है और इसी विविधता के माध्यम से गुरु-शिष्य सम्बन्ध की पवित्रता और असाधारणता को अभिव्यक्त करना, उसकी शाश्वत-धर्मिता को रेखांकित करना 'अनुकरणीय गुरु' की योजना का लक्ष्य था जिससे वर्तमान पीढ़ी को एक दिशा-निर्देश और भावी पीढ़ी को एक सन्देश दिया जा सके। उस दृष्टि से 'अनुकरणीय गुरु' एक सफल, सार्थक प्रयास है।

विविधता है लेखकों की आयु में, जन्मस्थली और कर्मक्षेत्र में, भिन्नता है उनके शिक्षा संस्थानों में, पृथक्ता है उनके द्वारा प्राप्त शिक्षा और विशेषज्ञता में, अन्तर है उनके क्रिया-कलाप में, उनके चिन्तन-मनन में, उनकी रुचि और प्रवृत्ति में, वृत्ति और कृति में, और एकता है, समानता है गुरुजनों के प्रति कृतज्ञता में, उनके प्रति श्रद्धा में। अभिव्यक्ति की भाषा और शैली में भिन्नता हो सकती है और है भी परन्तु मूलस्वर सभी का एक ही है, 'हम आज जो भी हैं, जैसे भी हैं, जहां भी हैं, उसमें हमारे गुरुजनों का बहुत बड़ा योगदान है, है उनका मार्गदर्शन, उनका उपदेश, उनका निर्देश और सर्वोपरि है उनका आशीर्वचन'।

'अनुकरणीय गुरु' का विहंगावलोकन करने के लिए, उसका विवेचन-विश्लेषण करने के लिए अनिवार्य है इन लेखों तथा इनके लेखकों-दोनों पर दृष्टिपात करना। गुरु सभी के श्रद्धेय हैं, सम्मान्य हैं, महत्त्वपूर्ण हैं परन्तु उनको पाठकों तक पहुंचाने वाले लेखकों पर एक विहंगम दृष्टि पहले डालनी सम्भवतः अधिक उपयुक्त हो। अनुकरणीय गुरु के प्रबुद्ध, सम्मानित 81 लेखकों में से 67 पुरुष तथा 14 महिलाएं हैं। उन सभी की आयु के तारतम्य पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होता है कि इनमें से सर्वाधिक वयोज्येष्ठ लेखक कीर्तिशेष आचार्य बलदेव उपाध्याय जी ने अपनी शतवार्षिकी पूर्ण होने से मात्र कतिपय मास पूर्व अपना लेख हमें दिया तो कनिष्ठतम लेखिका डा. सीमा जैन की आयु

मात्र 34 वर्ष है। समस्त लेखकों की आयु को यदि दशकों के हिसाब से व्यवस्थित करें तो तालिका इस प्रकार बनती है—

100 वर्ष से अधिक आयु वाले	—01
90 से 100 वर्ष पर्यन्त आयु वाले	—कोई नहीं
80 से 90 " " " "	—04
70 से 80 " " " "	—11
60 से 70 " " " "	—31
50 से 60 " " " "	—18
40 से 50 " " " "	—14
30 से 40 " " " "	—02
कुल	—81

स्पष्ट है कि जिस कालखण्ड में हमारे प्रबुद्ध लेखक अपने गुरुजनों के सम्पर्क में आए, जिस अनुभव को उन्होंने अपने लेखों का आधार बनाया, वह कालावधि 65 वर्ष के लगभग की है और जिन गुरुजनों की चर्चा वे कर रहे हैं, उनका समय लगभग 125 वर्ष से अधिक की अवधि में व्याप्त है क्योंकि शतायु लेखक के गुरु—चाहे वे उनके माता—पिता, चाचा हों अथवा उनके शिक्षा गुरु—लेखक से आयु में कम से कम पच्चीस वर्ष बढ़े तो अवश्य ही रहें होंगे। इस प्रकार प्रस्तुत योजना में सन् 1875 ई. से लेकर 2000 ईस्वी तक की शिक्षा—पद्धति तथा गुरु—शिष्य परम्परा पर प्रकाश पड़ रहा है।

भौगोलिक दृष्टि से लेखकों और उनके गुरुजनों के अवस्थान की भूमि विश्वव्याप्त है। यदि केवल लेखकों के वासस्थान पर दृष्टिपात करें तो ज्ञात होता है कि 81 में से 6 लेख विदेशों में और 75 भारत में, वह भी उसके विभिन्न प्रान्तों में लिखे गए हैं। उसे भी एक तालिका द्वारा प्रस्तुत करना अधिक सुविधाजनक रहेगा—

विदेश

ग्लास्टर (यू.के.)	—	1
मिन्स्क (प्राक्तन यू.एस.एस.आर.)	—	1
डबलिन (आयरलैण्ड)	—	1
कनाडा	—	1
लॉस एन्जिल्स (यू.एस.ए.)	—	1
कुकेविल्ले (यू.एस.ए.)	—	1
भारत		
अरुणाचल प्रदेश	—	1

(लेखक लेख भेजने के समय अरुणाचल प्रदेश के महामहिम राज्यपाल थे)

चेन्नई (तमिलनाडु)	—	1
बम्बई (महाराष्ट्र)	—	6
पुणे (महाराष्ट्र)	—	1
कलकत्ता (पश्चिम बंगाल)	—	4
जमशेदपुर (बिहार)	—	6
पटना (बिहार)	—	1
पिलानी (राजस्थान)	—	1
दिल्ली (यू.टी.)	—	12
चण्डीगढ़ (यू.टी.)	—	3
काशी (उत्तर प्रदेश)	—	1
देहरादून (.. ..)	—	4
सहारनपुर (.. ..)	—	11
हरिद्वार (.. ..)	—	1
गाजियाबाद (.. ..)	—	1
इलाहाबाद (.. ..)	—	1
रुड़की (.. ..)	—	1
देवबन्द (.. ..)	—	2
मंगलौर (.. ..)	—	1
खतौली (.. ..)	—	1
छर्गा-अलीगढ़ (.. ..)	—	1
पटियाला (पंजाब)	—	4
फरीदकोट (.. ..)	—	1
अमृतसर (.. ..)	—	2
शिमला (हिमाचल प्रदेश)	—	2
अम्बाला (हरियाणा)	—	2
रोहतक (.. ..)	—	1
रायपुर (मध्य प्रदेश)	—	2

लेखक जीवन के विविध क्षेत्रों से सम्बद्ध हैं —

प्राक्तन राज्यपाल, प्राक्तन केन्द्रीय-मन्त्री तथा वर्तमान राज्यसभा सदस्य, प्राक्तन आइ.पी.एस तथा वर्तमान राज्यसभा सदस्य, वर्तमान राजदूत, भारतीय उच्चायोग में काउन्सिलर, सेक्रेटरी केबिनेट, प्राक्तन डी.जी.पी., वर्तमान डी.आई.जी. (बी.एस.एफ.); साहित्य के क्षेत्र में—हिन्दी के प्रख्यात गान्धीवादी साहित्यकार, कवि, नाटककार तथा

प्राक्तन निदेशक नाटक (आकाशवाणी), उपन्यासकार, कवि, दलित-साहित्यकार, सम्पादक, समीक्षक, कला-समीक्षक तथा संगीत-समीक्षक, उर्दू की शायरा, पंजाबी की प्रख्यात उपन्यासकार, संगीत के क्षेत्र में-प्रख्यात गायक, गायिका, संगीतकार तथा गीत लेखक, पंजाबी नाटक निर्देशक तथा चलचित्र-निर्देशक, चलचित्र तथा दूरदर्शन अभिनेता, प्राक्तन मंच एवं चलचित्र अभिनेता; क्रीड़ा के क्षेत्र में ओलम्पिक विजेता प्रख्यात पूर्व धावक, तेज चाल धावक, प्रथम महिला एवरेस्ट विजयी तथा जानी मानी पर्वतारोही, ओलम्पियन प्रसिद्ध कुश्तीगिर तथा कुश्ती प्रशिक्षक, चिकित्सकों में हड्डी रोग विशेषज्ञ, स्त्री रोग विशेषज्ञा, होमियोपैथिक चिकित्सक, आयुर्वेद के विख्यात अनुसन्धानकर्ता तथा वैद्य, चुम्बक-चिकित्सक, वैज्ञानिक, मजदूर नेता, समाज सेवी, कृषक तथा विविध विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों एवं अन्य शिक्षा संस्थानों के नाना संकायों के अध्यापक, गवेषक, निर्देशक तथा अन्य अनेक कर्मक्षेत्रों में लब्धप्रतिष्ठ प्राक्तन या वर्तमान अधिकारी अथवा अन्यत्र कार्यरत।

हमारे सभी लेखक सम्माननीय हैं, आदरणीय हैं तथापि उल्लेखनीय है कि उनमें से दो पद्मभूषण, पांच पद्मश्री, कतिपय साहित्य अकादमी, शलाका-पुरस्कार, डालमिया पुरस्कार, मूर्तिदेवी पुरस्कार आदि से अलंकृत हैं तो कुछ पुलिस मेडल, मेरिटोरियस सर्विस मेडल प्राप्त हैं, अन्य कुछ राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित हैं। इनके साथ ही कतिपय लेखक अभी ऊपर उठने की प्रक्रिया में हैं-अल्प परिचित अथवा अपरिचित। स्पष्ट है कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों तथा स्तरों के लेखकों के लेख प्रस्तुत ग्रन्थ में सादर संकलित हैं जो अपने अपने ढंग से अपने अपने जीवन में गुरु की महत्ता को रेखांकित कर रहे हैं।

लेखकों के इस संकेतमात्र परिचय के उपरान्त अब अवसर है उनके सम्मानित गुरुजनों पर एक विहंगम दृष्टिपात करने का। 'अनुकरणीय गुरु' में हमारे 81 लेखकों ने अपने कुल 424 गुरुजनों को श्रद्धासुमन अर्पित किये हैं परन्तु गणना में गुरुजन 404 ही हैं क्योंकि कतिपय गुरुजनों को एकाधिक लेखकों ने उल्लिखित किया है। गुरु के विषय में यहां यह स्पष्ट करना प्रासंगिक ही होगा कि प्रस्तुत सन्दर्भ में गुरु से अभिप्राय मात्र आध्यात्मिक गुरु अथवा शिक्षा गुरु से नहीं लिया गया है वरन् गुरु वे हैं जो शिक्षक हैं, पथप्रदर्शक हैं, दिशानिर्देशक हैं, जीवन के लिए आलोक स्तम्भ स्वरूप हैं, प्रभावित करने वाले हैं, प्रेरित करने वाले हैं, जीवन के मन्त्रदाता ही नहीं उसके दार्शनिक भी हैं। इस भाँति व्यापक अर्थ में गुरु को स्वीकार करने के कारण उनका विद्यार्थी के साथ सम्पर्क की सीमा विस्तृत तथा व्यापक हो गई है। यह निस्सन्दिग्ध है कि इन गुरुजनों में शिक्षा गुरुओं की संख्या सर्वाधिक है। गुरुओं के सम्बन्ध में एक रोचक तथ्य यह भी है कि जहां कुछ व्यक्तियों ने जीवन में मात्र किसी एक ही व्यक्ति को अनुकरणीय गुरु के उच्च आसन पर प्रतिष्ठित किया है, वहीं अन्य लेखकों ने गुरु की संख्या एकाधिक स्वीकार की है। इनमें

सर्वाधिक 26 गुरुओं को अपने जीवन में अनुकरणीय स्वीकार करने वाले लेखक भी हैं तो केवल अपने पिताश्री को यह गौरव प्रदान करने वाले दो लेखक भी हैं। महिला गुरुओं की संख्या अत्यल्प है जिनमें से 16 माता हैं। उक्त गुरुओं को यदि विविध श्रेणियों के अन्तर्गत किया जाए तो उनमें सर्वाधिक शिक्षा गुरु हैं 256। शिक्षा गुरु से यहां अभिप्राय केवल स्कूल, कालिजों, महाविद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों के विविध संकायों के शिक्षकों से है। संगीत, कला, चिकित्सा आदि के शिक्षकों की परिगणना अलग से की जा रही है।

गुरुओं को जिन श्रेणियों में परिगणित किया गया है उनमें पारिवारिक सम्पर्कों में आबद्ध गुरुजन, परमेश्वरी मां आद्या शक्ति, आध्यात्मिक गुरु, अमूर्त गुरु, दीक्षा गुरु, कला तथा संगीत के गुरु, क्रीड़ा के प्रशिक्षक-गुरु, राजनैतिक गुरु, साहित्य-गुरु, अभिनय, चलचित्र आदि से सम्बन्धित गुरु, विशेषज्ञता के क्षेत्र के चिकित्साशास्त्र आदि से सम्बन्धित गुरु, जीवन के प्रेरक-गुरु आदि हैं। इनमें से शिक्षा के विविध स्तरों से सम्बन्धित शिक्षा गुरु सर्वाधिक हैं अतः उनका विवेचन सुविधा की दृष्टि से अन्त में किया जा रहा है।

व्यक्ति का जीवन घर से-माता की गोदी से प्रारम्भ होता है अतः पारिवारिक गुरुओं और उनमें से भी माता-गुरु पर सर्वप्रथम दृष्टिपात करना समीचीन प्रतीत हो रहा है। 16 लेखकों ने माता को अनुकरणीय गुरु का गौरव प्रदान किया है। ध्यातव्य है कि जहां एक लेखक ने अपने गुरु के आदेशानुसार माता-पिता को साक्षात् भगवान् का स्थान ही दे डाला वहीं उक्त 16 लेखकों ने माता को उनकी ममता, वत्सलता अथवा स्नेहाधिक्य के कारण गुरु स्वीकार नहीं किया अपितु उनके व्यक्तित्व के उदात्त भाव, अन्याय की प्रतिरोधक शक्ति, उनके आदर्शों, नैतिक उपदेशों एवं कठोर अनुशासनप्रियता के कारण उन्हें अपना आदर्श माना है। उसमें भी एक रुचिकर तथ्य यह है कि जहां कतिपय महिलाओं ने माता को अनुकरणीय स्वीकारने के पीछे दैनन्दिन जीवन के लिए उपयोगी विषयों के प्रशिक्षण के साथ पुरुष वर्चस्व वाले समाज में शालीनता तथापि विश्वासपूर्वक व्यवहार करने के उपदेश को आधार माना है वहीं अधिकतर पुरुषों के क्षेत्र में माता मुख्यतया उनके चरित्र की परिष्कर्ता, नैतिकता की नियामक तथा मूल्यबोधों के प्रति सचेतन करने वाली तथा पुत्र के जीवन की दिशा-निर्देशक भी रहीं हैं। 17 व्यक्तियों ने पिता को अनुकरणीय गुरु के रूप में अनुमोदित किया है। पिता के क्षेत्र में उनकी कर्तव्यनिष्ठा, समदृष्टि, परोपकारिता, सरल-हृदयता, निर्भीकता, सच्चरित्रता, नैतिकता, धार्मिकता आदि विशेषताओं ने उन्हें अनुकरणीय बना दिया है। दो लेखकों ने तो पूर्णतया व्यक्तिगत सम्पर्क से ऊपर उठकर पिता को अपने जीवन के महानायक-हीरो-के रूप में ही अंगीकार कर लिया है। इन सभी क्षेत्रों में पिता का पाण्डित्य, समाज के प्रति समर्पण-भाव, सर्वस्व त्याग का आदर्श, असाधारण कर्मठता तथा कुशलता आदि

वैशिष्ट्य ही प्रेरक तत्त्व रहे हैं। आठ लेखकों ने माता-पिता दोनों को ही अपना अनुकरणीय माना है। उसके पीछे भी उपर्युक्त गुणावली ही आधार है।

माता-पिता की तुलना में कम संख्या में होने पर भी अन्य पारिवारिक सम्बन्ध भी अनुकरणीय गुरु के पद को अलंकृत करने वाले सिद्ध हुए हैं। इन सम्पर्कों में दो पितामह (बाबा), एक मातामह (नाना), एक मातामही (नानी), एक चाचा, एक ताऊ, एक बुआ, एक पुरुष लेखक के श्वसुर, एक महिला लेखिका के श्वसुर भी अनुकरणीय गुरु के पद पर प्रतिष्ठित हुए हैं। सामाजिक मूल्यों के बदलते परिवेश में यह तथ्य सम्भवतः कुछ रुचिकर सिद्ध हो कि जहां किसी विवाहिता महिला (चाहे उनकी संख्या अत्यल्प मात्र दस है) ने 'सर्वदेवमयपति' अथवा 'पतिपरमेश्वर' की संस्कृति वाले देश में रहकर भी अपने पति को अनुकरणीय गुरु स्वीकार नहीं किया है वहीं एक लेखक ने प्रत्यक्ष तथा एकाधिक ने अप्रत्यक्ष रूप से पत्नी को गुरु के सम्मानित पद पर प्रतिष्ठित किया है। नारी जगत् के लिए यह एक शुभ तथा आशाप्रद संकेत है। पारिवारिक उक्त सम्पर्कों को अनुकरणीय मानने के पीछे उन व्यक्तियों की विशिष्टता, उनकी विलक्षण गुणावली, कर्तव्यपरायणता, चारित्रिक दृढ़ता, सामान्य स्तर से ऊपर उठकर व्यवहार करने की क्षमता आदि कारण रहे हैं। यहां इस तथ्य को रेखांकित करना सम्भवतः अवांछित न होगा कि संगीत के क्षेत्र में संगीतज्ञ पिता को गुरु मानने के पीछे पिता का एक औपचारिक शिक्षक के रूप में कठोर अनुशासन में स्वयं बांधकर तथा पुत्र को बांधकर संगीत की शिक्षा देना तथा साथ ही वात्सल्य पूरित हृदय से व्यवहार करना ही प्रमुख आधार रहा है।

अपने अन्तःकरण को गुरु मानने के साथ आद्याशक्ति मां भगवती को भी गुरु रूप में स्वीकार किया गया है। बाह्य जगत् से सम्बन्धित गुरु जीवनोपयोगी क्षेत्रों का पथ प्रदर्शन करते हैं परन्तु आद्याशक्ति मां भगवती तो समस्त अन्तःकरण को ही आलोकित करती हैं। अन्तःकरण का ही प्रसंग आया तो उन गुरुओं की भी बात कर ली जाए जो बाह्यतः संसार में विराजमान नहीं हैं तथापि लेखक उनकी अमूर्त उपस्थिति से ही प्रेरित तथा प्रभावित हैं। इनको अमूर्त गुरु अथवा बौद्धिक गुरु की संज्ञा से सम्बोधित किया जा सकता है। ऐसे गुरु हैं महाभारतकार महर्षि वेदव्यास, धर्मसमाज के संस्थापक देवात्मा (सत्यानन्द अग्निहोत्री), प्रख्यात दार्शनिक आनन्द के. कुमारस्वामी एवं सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् तथा वैयाकरण पं. चारुदेव शास्त्री। उक्त मनीषियों ने प्रत्यक्षतः उपदेश न देकर अपनी कृतियों के माध्यम से लेखकों को प्रबुद्ध किया, उन्हें मार्गदर्शन दिया। स्वामी विवेकानन्द भी एक ऐसे ही गुरु हैं जिनका साहित्य प्रेरक बना। इसके विपरीत मां आनन्दमयी हैं जिन्होंने अपनी रचना तो नहीं वरन् अपनी उपस्थिति से प्रेरणा प्रदान की। उनका अपना जीवन चरित ही प्रेरणा पुंज रहा। इसके साथ मन्त्र-दीक्षा गुरु भी हैं जिन्होंने अपने आध्यात्मिक जीवन, स्पर्श एवं उपदेश से भक्त लेखक के हृदय को

आलोकित किया, उनके जीवन को स्पन्दित किया। इसी सन्दर्भ में उन सात सर्वस्व त्यागी, अलौकिक शक्ति-पुंज आध्यात्मिक तेज से देदीप्यमान संन्यासियों को भी लिया गया है जिन्होंने अपनी अलौकिक शक्ति के प्रदर्शन से ही लेखकों को न केवल चमत्कृत तथा विमोहित किया अपितु अपने सदाचरण, मानव कल्याण की भावना, दयार्द्रता, करुणा, परोपकारिता, नैतिकता, संयम एवं सदुपदेशों के माध्यम से भी लेखकों को अनायास अपना शिष्य बना लिया तथा स्वयं को उनके अनुकरणीय गुरु के सम्मानित तथा श्रद्धेय पद पर आसीन कर लिया।

कला के गुरु हों अथवा संगीत के, उनका अपने अपने विषय में पारंगत होना तो अनिवार्य है ही परन्तु उसके साथ कुछ और भी वैशिष्ट्य होना चाहिए किसी के मन की पूर्ण श्रद्धा का पात्र बनने के लिए। विषय-ज्ञान के साथ अपनी कला की समस्त जमा पूंजी शिष्य को उधाड़कर दे देना आवश्यक है। शिष्य को एक सफल कलाकार या संगीतकार बनाना, समाज में उसे प्रतिष्ठित करना भी गुरु का प्रधान कर्तव्य है। कक्षा की सीमा में गुरु के कर्तव्य की इतिश्री कभी नहीं होती है तथापि कक्षा में गुरु का कठोर अनुशासक बने रहना भी छात्र की कल्याण-कामना के उद्देश्य से ही होता है। महान् कलाकार, महान् संगीतज्ञ वास्तव में साधक हैं, उपासक हैं जिन्होंने भौतिक सुखों में लिप्त हुए बिना, सच्चे संन्यासियों की भांति निरासक्त भाव से मिट्टी की कुटिया में रहकर, केवल आवश्यक तथा कुछ सीमा तक अपरिहार्य वस्तुओं के माध्यम से जीवन यापन किया परन्तु अपने शिष्यों को अच्छी शिक्षा दी, संस्कार दिए, मानवता का पाठ पढ़ाया। उन्होंने न शिष्य की मौलिकता पर आंच आने दी और न व्यावहारिकता का दामन छोड़ा और तभी शिष्यों के भविष्य की चिन्ता करते हुए उनके योगक्षेम को वहन करते हुए उन्हें जीवन में प्रतिष्ठित होने का सहारा भी दिया।

क्रीड़ा के प्रशिक्षक औपचारिक रूप से समय-सीमा में बंधकर यदि प्रशिक्षण मात्र दे तो उन्हें अनुकरणीय कौन माने? अनुकरणीय गुरु की श्रेणी में तो वे ही प्रशिक्षक प्रतिष्ठित होते हैं जिनका धर्म, जिनका ज्ञान, जिनका ध्यान अपने छात्र को सर्वोच्च शिखर पर पहुंचाना हो। इसके लिए आवश्यकतानुसार वे शोध करें, प्रतिस्पर्धी खिलाड़ी की कमजोरियों को रेखांकित करके अपने छात्र को उनसे लाभ उठाने का निर्देश दें, क्रीड़ाक्षेत्र से बाहर, समाज में भी स्वाभिमान से जीने योग्य बनाएं, ऐसे ही अनुकरणीय गुरु प्रशंसित हुए हैं, सम्मानित हुए हैं। उन्हीं में से कतिपय के दर्शन यहां हो रहे हैं।

राजनैतिक गुरु के लिए दल-विशेष की प्रतिबद्धता से अधिक उपादेय है देश-मातृका के लिए सर्वस्व समर्पण की भावना, ईमानदारी, निष्ठा तथा मानवीय मूल्यों को जीवन में आत्मसात् करना। गुरु के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है उनका अपने शिष्यों के लिए श्रद्धेय बने रहना। जिस क्षण व्यक्ति अपनी किसी कमजोरी, स्वार्थपरता

अथवा मानसिक क्षुद्रता के कारण अनुयायियों की श्रद्धा खो देता है, वह गुरु के उच्च आसन से नीचे गिर जाता है। इससे विपरीत परिस्थिति में ही व्यक्ति श्रद्धेय बनता है, सम्मान्य बनता है।

साहित्य की विधाओं के समान साहित्यिक गुरुओं को भी विविध श्रेणियों में व्यवस्थित किया जा सकता है। सभी विधा के प्रख्यात साहित्यकारों अथवा साहित्यिक गुरुओं का एक ही लक्ष्य होता है—उदीयमान लेखक को न केवल प्रोत्साहित करना, उत्साह प्रदान करना अपितु प्राचीन काव्याचार्यों द्वारा प्रतिपादित 'काव्यज्ञ-शिक्षा' के अनुरूप उन्हें शिष्य तुल्य मानकर उनकी रचनाओं का गुण-दोष-विवेचन करना, साहित्य के सूक्ष्म किन्तु महत्त्वपूर्ण तथ्यों से उन्हें अवगत करवाना। अनुकरणीय गुरुओं की मृंखला में साहित्य के कई महत्त्वपूर्ण विधाओं के गुरु सामने आते हैं। प्रख्यात कवि नूतन काव्य-रचयिता को मात्रिक तथा वार्णिक छन्दों से परिचित करवाते हैं, भावों के अनुरूप छन्दविधान का निर्देश देते हैं तो उर्दू शायर उरुज के नियम-कानून समझाने में पीछे नहीं रहते हैं। उनकी मौजूदगी में शायर अपना कलाम पढ़े इससे ज्यादा गुरु के लिए खुशी और शिष्य के लिए खुशकिस्मती की बात और क्या होगी। छन्द से अलग हटे तो लब्धप्रतिष्ठित नाटककार गुरु के दर्शन होते हैं जो तरुण नाटककार के रेडियो-नाटक रात को सुनते हैं और सुबह होते न होते शिष्य को बुलाकर उसके नाटक के गुण-दोषों से उसे परिचित करवाते हैं, उसका मार्ग-दर्शन करते हैं। इसी भाँति अनुभव सम्पादक अपने साथ सम्बद्ध प्रशिक्षु सम्पादक को मात्र सैद्धान्तिक उपदेश नहीं देते वरन् उसे व्यावहारिक ज्ञान भी प्रदान करते हैं।

अभिनय सैद्धान्तिक नहीं, क्रियात्मक विषय है चाहे नाटक में हो अथवा चलचित्र में। परिचालक गुरु तभी सफल हो सकता है जब वह मात्र सैद्धान्तिक उपदेश न दे वरन् मंच पर क्रियात्मक रूप से शिष्य को प्रशिक्षित करे। अभिनय एक कला है—उसका प्रशिक्षण भी एक कठिन तपस्या का मुखापेक्षी है। ऐसे अनुकरणीय गुरु सामने आए हैं जिन्होंने अपने हाथ से काम करके प्रशिक्षुओं को शिक्षा दी है। उनको अभिनय की मूल भावना—अनुकार्य के जीवन के साथ एकात्म होना—का गुर तो बताया ही है साथ ही अपने उच्च मानवीय मूल्यों से समृद्ध आचरण द्वारा शिष्यों के समक्ष इस रहस्य को उद्घाटित किया कि महान् कलाकार होना पर्याप्त नहीं, सफल अभिनेता मात्र बनना सब कुछ नहीं, उसके साथ, सच्चे अर्थों में मानव बनना है—महामानव।

चिकित्साशास्त्र में अनुकरणीय गुरु वे माने गए हैं जिनमें अपने विषय का पूर्ण पाण्डित्य तो है ही, व्यावहारिक ज्ञान भी पर्याप्त मात्रा में है परन्तु उन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है रोगियों के प्रति उनके हृदय में कर्तव्य भावना के साथ साथ संवेदना और ममता का होना। रोगी की देखभाल करना उनका दायित्व या कर्तव्यमात्र ही नहीं है वरन्

उनका धर्म भी है। रोगी में ही उन्हें अपने आराध्य को देखना होता है। जो चिकित्सक रोगी को वही चिकित्सा दे जो वह स्वयं अपने लिए ले सके, जो चिकित्सक अपना शारीरिक कष्ट, अपनी पीड़ा की उपेक्षा कर रोगी के रोग का उपशमन करने को प्रस्तुत हो, वही श्रद्धेय है, वही अनुकरणीय है।

मानव का सम्पूर्ण जीवन ही एक शिक्षालय है। यदि सीखने की प्रवृत्ति है तो वह कहीं भी कभी भी कुछ सीख सकता है। इस दृष्टि से कर्मक्षेत्र एक विशाल शिक्षा संस्थान है। व्यक्ति यदि पुलिस के समान अनुशासित एवं कठोर क्षेत्र में है तो वहां अपने वरिष्ठ अधिकारियों के आचार-आचरण, दिन प्रतिदिन के व्यवहार से व्यक्तिगत तथा आफिशियल जीवन में बहुत कुछ सीख सकता है। ऐसे कतिपय महानुभाव गुरुजनों के दर्शन होते हैं अनुकरणीय गुरुओं में। ऐसे गुरु अध्यापन आदि अन्य कर्मक्षेत्रों में भी सहजलभ्य न सही, दुर्लभ नहीं हैं। कर्मक्षेत्र के गुरु से जहां नैकट्य स्वाभाविक होता है, वहीं उनका निर्देश व्यक्ति की व्यावसायिक प्रतिष्ठा के साथ कल्याण-कामना की भावना से प्रेरित होने के कारण सहज ग्राह्य भी बन जाता है। एक नव-नियुक्त तरुण अध्यापक से यदि उसका प्रथम अधिकारी-प्रधानाचार्य प्रतिदिन स्वयं पढ़कर, पाठ्य विषय को स्वयं प्रस्तुत कर कक्षा में जाने का उपदेश देता है तो वह समय, स्थान, परिवेश तथा कहने वाले की सद्भावना के कारण सुनने वाले के कर्णकुहरों से प्रवेश कर उसके हृदय में बस जाता है। इसके विपरीत अपनी सन्तान तुल्य कनिष्ठ सहकर्मी भी अपने उदात्तभाव, निष्कलुष आचरण तथा चारित्रिक दृढ़ता आदि के कारण अपने वरिष्ठ सहकर्मी के गुरु के पद पर आसीन हो सकती है।

जीवन में अनेक ऐसे भी व्यक्तियों के सम्पर्क में आना पड़ता है जिन्हें किसी विशेष श्रेणी के अन्तर्गत रखकर उन्हें औपचारिक गुरु की उपाधि चाहे न भी दे सके परन्तु वे हमारे जीवन में ऐसे प्रेरणादायक बनकर आते हैं कि हृदय उन्हें अनायास गुरु स्वीकार कर उनके समक्ष श्रद्धाबनत हो जाता है। ऐसे गुरुओं की संख्या अनुकरणीय गुरुओं में लगभग पैंतीस है। ऐसे प्रेरक व्यक्ति आपके सहकर्मी, आत्मीय हो सकते हैं, आपके छात्रावास के वार्डन अथवा सुपरवाइजर हो सकते हैं, आपके सामान्य परिचित, अथवा जीवन पथ पर चलते हुए क्षणिक सहयात्री भी हो सकते हैं। उनका कोई वैशिष्ट्य, उनके आचरण की उज्ज्वलता, उनकी कर्तव्यनिष्ठा, उनकी कर्मठता, यहां तक कि संवेदनापूरित उनकी वाणी का प्रसाद भी आपको विमुग्ध ही नहीं करता, आपको आलोड़ित करता है, करता है प्रभावित और अपने अनजाने और अनचाहे वह आपके अनुकरणीय बन बैठते हैं।

अब प्रसंग आता है शैक्षणिक गुरुओं का-गुरु अभिधान से जो सहज परिचित हैं। शिक्षा-शास्त्री पारिभाषिक रूप से इन शिक्षा-गुरुओं का जैसा चाहे श्रेणी-विभाजन

करें, यहां विषय के सहज प्रतिपादन के लिए उन्हें प्राइमरी एवं मिडल, हाईस्कूल तथा इन्टर, उच्च अर्थात् स्नातक एवं स्नातकोत्तर, शोध-निर्देशक तथा विदेशी गुरु की श्रेणी में विभाजित किया जा रहा है। इन श्रेणियों के अन्तर्गत अपने जिन गुरुजनों को सकृतज्ञ-चित्त से स्मरण किया गया, उनको अपनी अनाविल श्रद्धा अर्पित की गई है, उनकी संख्या क्रमशः इस भांति है—

प्राइमरी - 35 + मिडल -11	=	46
हाईस्कूल-इन्टर	=	59
उच्च	=	121
शोध-निर्देशक	=	11
विदेशी-गुरु	=	7

इनके साथ प्रधानाचार्यों तथा प्राचार्यों की संख्या 12 है। इस प्रकार कुल शिक्षा गुरुओं की संख्या है 256। यह संख्या शिक्षा जगत् से सम्बन्धित अनेक रहस्य अपने में छुपाए हुए है। यदि इस संख्या का भलीभांति विवेचन-विश्लेषण किया जाए तो शिक्षा शास्त्रियों को शिक्षा, शिक्षा-पद्धति, शिक्षा-संस्थान आदि के सम्बन्ध में अनेक तथ्य ज्ञात हो सकते हैं। यहां उपलब्ध सामग्री के आधार पर मात्र कतिपय बिन्दुओं पर प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है।

शिक्षा-गुरुओं की संख्या के सम्बन्ध में सबसे पहले यह प्रश्न मन में उठता है कि उच्चस्तर पर 121 गुरुजनों को अनुकरणीय स्वीकार किया गया है जबकि प्राइमरी तथा मिडल स्तर पर क्रमशः 35 एवं 11 को ही क्यों? व्यक्ति प्राइमरी तथा मिडल की प्रक्रिया से गुजर कर ही उच्च स्तर तक पहुंचता है। यदि इन 46 अध्यापकों को अनुकरणीय मानने वाले लेखकों के वयः क्रम पर दृष्टिपात करे तो ज्ञात होता है कि उन उन्नीस लेखकों में से दस षष्ठी पूर्ति कर चुके हैं तथा अवशिष्ट नौ लेखक 59 वर्ष से 34 वर्ष तक की आयु के हैं। अब एक अन्य आधार पर विचार किया जाए। इन उन्नीस लेखकों में से मात्र दो के शिक्षा संस्थान दार्जिलिंग तथा पूना तथा तृतीय का सम्भवतः बम्बई अथवा गोआ है जो सुसमृद्ध, सुशिक्षित, सुसंस्कृत नगरों की श्रेणी में आते हैं और स्वाभाविक रूप से इन तीनों के विद्यालय अंग्रेजी माध्यम के थे, शेष 16 शिक्षालय अधिकतर ग्रामीण स्थलों पर यथा गोल्लल गुडूर (आन्ध्र प्रदेश), कोटअदु (पाकिस्तान), एबटाबाद (पाकिस्तान), मछलीशहर, चरथावल, टोपरी, सरसोहेड़ी, चतरसाली, खतौली, देवबन्द आदि उत्तर प्रदेश के ग्राम अथवा कस्बे हैं। केवल सहारनपुर और मेरठ दो जनपद उस श्रेणी में सम्मिलित हैं और कहना न होगा कि ये सभी हिन्दी माध्यम के स्कूल हैं।

इन अध्यापकों की गुणावली पर भी एक विहंगम दृष्टिपात करना उपयुक्त

रहेगा। अधिकतर ग्रामीण परिवेश के उक्त अध्यापक नाटककार भवभूति की परिभाषा के अनुसार 'वज्र से भी कठोर तथा कुसुम से भी कोमल' प्रकृति के प्रतीत होते हैं। उदाहरण स्वरूप एक गुरुजी बालक से सभी पैसे अपने पास इस उद्देश्य से सुरक्षित रख लेते हैं कि वह कुछ अपव्यय न कर बैठे परन्तु उसके कष्ट-धनाभाव-में अपनी तथा अपने साथियों की पुरानी कापियां बेचकर छात्रावास के लिए अपने हिस्से की लकड़ियों की व्यवस्था करने की बात सुनकर और उस शिशु छात्र को फफक फफक कर रोते हुए देखकर गुरु का कुसुमसदृश हृदय न केवल द्रवित हो जाता है वरन् वे विद्यार्थी का समस्त दायित्व भी अपने कन्धों पर ले लेते हैं।

उक्त ग्रामीण परिवेश में गुरु बच्चों के केवल शिक्षक ही नहीं वरन् उनके संरक्षक, अभिभावक तथा परम आत्मीय भी थे और उनका अपने शिष्यों पर पूरा अधिकार भी था। छात्रावास में रहने वाले छात्रों का अपने गुरु से नैकट्य कुछ अधिक ही था। वे गुरुजी का बदन दबाते, उनके पैर दबाते, उनके लिए चिलम भरकर लाते या अन्य सेवा टहल करते। एक विद्यार्थी तो अपने गुरु की भैंस चराता तथा उसके लिए घास भी लाता था परन्तु इन सब कार्यों को करने से उन छात्रों के मन में कोई मलाल नहीं था। इसका कारण यह है कि सामान्य शिक्षकों और इन अनुकरणीय गुरुओं के व्यवहार में, उनके आचरण में, उनके शिष्य के लिये किए जाने वाले क्रिया-कलाप में अन्तर है, बहुत बड़ा अन्तर। उक्त गुरुओं का जीवन अपने शिष्यों के लिए एक खुली किताब के समान था—उनका सादा सपाट जीवन सात्विक था, विद्यार्थियों का चरित्र-निर्माण करना उनका ध्येय था। वे वही खाते जो विद्यार्थी खाते, वहीं सोते जहां विद्यार्थी सोते—सार यह कि विद्यार्थियों से अधिक सुख-सुविधा का उपभोग करना प्रशनातीत था। दूसरी बात—शिक्षक का जो प्रथम तथा प्रधान कार्य—शिक्षण— उसमें कहीं कोताही नहीं, नहीं कहीं प्रमाद। घड़ी की सूई देखकर नौकरी बजाने वाला अध्यापक नहीं, वे तो चौबीस घंटे विद्यार्थी की कल्याण कामना में निरत रहने वाले गुरु हैं। ऐसे गुरु के लिए विद्यार्थी मात्र विद्यार्थी कहाँ रहते हैं, वे तो अपने हो जाते हैं, परम आत्मीय और तभी वे विद्यार्थी के लिए अनुकरणीय गुरु क्यों न हों?

प्राइमरी तथा मिडल कक्षाओं के अनुकरणीय अध्यापकों की संख्या उच्चस्तर के अनुकरणीय गुरुओं से कम होने के विषय में दो प्रबुद्ध लेखकों की मान्यता है कि 'प्रारम्भिक-शिक्षा की अवधि में विद्यार्थी में यह विवेचना शक्ति ही नहीं पनपती कि जीवन में कौन अनुकरणीय है और क्यों। यह तो उच्च शिक्षा के समय ही विद्यार्थी बुद्धि से विश्लेषित करके अच्छे बुरे का भेद कर पाता है। तभी किन्हीं विशिष्ट व्यक्तित्व सम्पन्न महानुभाव को अनुकरणीय गुरु का आसन देता है सोच समझकर, जान बूझकर'। यह मान्यता अनेक अंश में सटीक है। प्रारम्भिक अवस्था में बच्चा भगवान् की तरह भावों का

भूखा होता है। वह प्यार देता, प्यार चाहता है। माता-पिता के स्नेहचल से निकला शिशु गुरु में माता-पिता को ही खोजता है अतः उसे कुछ गुरु अच्छे लगते हैं और कुछ नहीं। जो अच्छे लगते हैं, आवश्यक नहीं कि बच्चे का अबोध अन्तःकरण उसे अपना अनुकरणीय ही मानता हो, वैसा ही वह बनना चाहता हो। इसके लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है। एक लेखक अपनी प्राइमरी की अध्यापिका को वर्तमान समय में-अपनी सेवा निवृत्ति के लगभग दस वर्ष पश्चात् भी सकृतज्ञता तथा भावुकता से इस लिए स्मरण करते हैं क्योंकि उन्हें उस बचपन में भी यह लगता था कि उनकी ममतामयी माता के समान वह अध्यापिका भी बिना कहे उनकी समस्या, उनके मन की बात समझ जाती थी और प्यार से पठन-पाठन में उनकी कठिनाई अनायास दूर कर देती थी। इसके विपरीत एक प्रख्यात लेखक को अपनी प्राइमरी कक्षा के अंकगणित के मास्टरजी आज भी याद आते हैं जिनका गणित के प्रश्न समझाने का तरीका इतना सहज था कि केवल उन्हें ही नहीं, उनके साथियों को भी सरलता पूर्वक सब कुछ समझ आ जाता था। इतने गुणी अध्यापक को लेखक अनुकरणीय मानने से कतरा जाते हैं क्योंकि समृद्ध परिवार के वे अध्यापक निर्धनों को ऋणरूप में धन देकर निष्ठुरता पूर्वक उनसे ब्याज बटोरते थे, जितना हो सके उनका शोषण करते थे। विषय में विदग्धता होने पर भी मानवीयता, संवेदनशीलता, नैतिकता का अभाव व्यक्ति को शिशु की दृष्टि में भी कहां अनुकरणीय रहने देता है?

हाईस्कूल तथा इन्टर तक आते आते विद्यार्थी पाठ्य विषय के प्रति अधिक सजग हो जाता है अतः प्रथम दृष्टि में वे ही अध्यापक अनुकरणीय बन जाते हैं जिनका विषय पर पूर्ण अधिकार के साथ साथ अभिव्यक्ति की शैली में रोचकता होती है।

ग्यारहवीं कक्षा में प्रवेश लेने को प्रस्तुत छात्र-विशेष जब विषय का चयन करने में असमंजस की स्थिति में था तथा बिना किसी पूर्व योजना के अकस्मात् मित्र के साथ इतिहास की कक्षा में जा बैठा और अध्यापक के धाराप्रवाह, रोचक तथा पाण्डित्यपूर्ण भाषण को सुना तो न केवल उस विषय के प्रति उसकी रुचि जागृत हुई अपितु वही विषय उसके जीवन का ध्येय बन बैठा। इसी प्रकार दसवीं कक्षा में पढ़ाते हुए इतिहास के अध्यापक ने इस ढंग से ऐतिहासिक स्थलों का रोचक शब्दचित्र खींचा कि छात्रावस्था की समाप्ति पर लेखक ने पहले उन ऐतिहासिक स्थलों का साक्षात् परिदर्शन किया। हिसाब के सरल शैली में अध्यापन करते अपने अध्यापक को देख एक लेखक यह सोचने को मजबूर हो गए कि काश प्रेमचन्द उनसे पढ़ते तो उन्हें भी हिसाब सरल प्रतीत होता। भूगोल के अध्यापक द्वारा पढ़ाया भूगोल तो उन्हें आज भी कण्ठस्थ है। इसी प्रकार नवीं कक्षा में एक सुयोग्य अध्यापक के द्वारा इतने रोचक तथा पाण्डित्यपूर्ण ढंग से संस्कृत का अध्यापन किया गया जिससे एक विद्यार्थी के जीवन की दिशा ही बदल गई तथा उन्होंने न केवल संस्कृत में सर्वोच्च उपाधि प्राप्त की वरन्

स्वयं संस्कृत के सुविदग्ध पण्डित अध्यापक बनें। ऐसे अनुकरणीय गुरुओं के उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि किशोरावस्था में ठिठके खड़े युवक-युवती के लिए वे ही गुरु अनुकरणीय हैं जो विषय के प्रति उनके मन में रुचि जागृत करें, विषय को उनके लिए सहज बोधगम्य बनाए तथा उनके भावी जीवन का दिशा निर्देश करें। स्नेह तथा सौजन्यपूर्ण व्यवहार तो अवश्यम्भावी है ही। इस प्रकार माध्यमिक-शिक्षा के स्तर के अनुकरणीय गुरुओं की संख्या न अत्यन्त कम न अधिक-53 है।

अब प्रसंग उत्थापित होता है उच्च कक्षाओं में पढ़ाने वाले अनुकरणीय गुरुओं का। उच्च कक्षा से अभिप्राय है स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाएं। इस श्रेणी में जहां कला संकाय, विज्ञान संकाय, वाणिज्य संकाय तथा विधि संकाय के अध्यापक सम्मिलित हैं वहीं महाविद्यालय के साथ विश्वविद्यालय के अध्यापकों को भी परिगणित किया गया है। इन उच्च कक्षाओं में आते आते विद्यार्थी जहां अपने विषय में अत्यधिक सचेतन हो जाता है, उसका विवेक जागृत होता है, बुद्धि प्रदीप्त हो जाती है, व्यावहारिक ज्ञान बढ़ जाता है वहीं विषय के सम्बन्ध में गम्भीर, गहन रुचि के साथ उससे सम्बन्धित गुरु के पाण्डित्य को आंकने का बोध भी जागृत हो जाता है। विषय के पाण्डित्य के साथ गुरु के सम्पूर्ण व्यक्तित्व को परखने, उसका मूल्यांकन करने, उसके गुण-दोष को विवेचित करने और अच्छे का पक्षधर बनने की योग्यता भी उसमें पनपने लगती है। न प्राइमरी कक्षा के छात्र की तरह वह बाहरी व्यवहार-मात्र से विमोहित होता है और न माध्यमिक कक्षा के विद्यार्थी की भांति विषय के प्रति रुचि जागृत करने वाले का वह गुणग्राही बनता है। इसी कारण गम्भीर विद्यार्थी अच्छे गुरु को तलाशता भी है और उसे पाकर उसे अपना अनुकरणीय स्वीकार करने में दुविधा भी नहीं करता है। इसी की परिणति है कि 81 लेखकों ने अपनी उच्च कक्षाओं में कुल मिलाकर 121 गुरुओं को अपना अनुकरणीय स्वीकार किया है।

उच्च कक्षाओं के उक्त 121 अनुकरणीय गुरुओं की गुणावली को आंकते हुए महाकवि कालिदास के श्रेष्ठ गुरु का लक्षण स्मृति पटल पर अनायास कौंध जाता है। उनके अनुसार प्रथम श्रेणी के गुरु वे हैं जिनको विषय का तो पर्याप्त ज्ञान होता है परन्तु उनमें अभिव्यक्ति की सामर्थ्य का अभाव होता है। द्वितीय श्रेणी के अध्यापकों में पाण्डित्य का अभाव होने पर भी उनमें अभिव्यक्ति करने की सामर्थ्य बहुत होती है। इन दोनों प्रकार के अध्यापकों की तुलना में श्रेष्ठ अध्यापक वह होता है जिसके पास विषय का अगाध ज्ञान है, पाण्डित्य है और साथ ही अभिव्यक्ति की भी क्षमता है। इसी कारण अनुकरणीय गुरु में पाण्डित्य और अभिव्यक्ति का मणिकांचन संयोग होना चाहिए। इसी पाण्डित्य का ही प्रभाव है कि एक गुरु विशेष को जो एक राजनैतिक दल के सक्रिय कार्यकर्ता भी हैं, को अपने दल के कार्य में समर्पित तथा उसी के साथ अनुशासित रूप में यथा समय कक्षा में आकर एम.एस.सी. के समान उच्च कक्षा में धाराप्रवाह पढ़ाने तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म विषय

को गम्भीरता से विश्लेषित करते देख एकाधिक विद्यार्थी जहां चमत्कृत हैं, मुग्ध हैं, हैं श्रद्धावनत वहीं मंच पर अपने दल का धाराप्रवाह तथा सारगर्भित विवरण प्रस्तुत कर प्रतिपक्ष को धराशायी करने की उनकी क्षमता देख अभिभूत भी हैं। विषयगत पाण्डित्य के साथ व्यक्तिगत जीवन में मानवीय मूल्यों का पालन अन्य प्रभावी वैशिष्ट्य है जिनमें रुग्ण पिता की सेवा में रत गुरु की कर्तव्य निष्ठा तथा सेवा परायणता, स्वयं सपत्नी कष्टपूर्वक रहकर अपने विद्यार्थियों की आर्थिक सहायता करना, विद्यार्थी को सन्तान-तुल्य स्नेह करना आदि को परिगणित कर सकते हैं। अपने विद्यार्थी से अपनी पुस्तक की भूमिका लिखवाकर उसके आत्मविश्वास को जागृत करने के साथ उसे अपनी क्षमता के प्रति सचेत करना तो है ही साथ ही गुरु का अपने विद्यार्थी के भीतर छुपी प्रतिभा को आंकेने की क्षमता को भी बता रहा है तो वहीं गुरु का अपने सुयोग्य विद्यार्थी को अपनी रचना समर्पित करना शिष्य-गर्व से गर्वित गुरु का परिचायक है। एक साहित्यिक लेखक का कथन वस्तुतः सटीक है कि 'माता, माली और गुरु अपने सन्तान, फूल और विद्यार्थी को पनपते देख कभी ईर्ष्यान्वित नहीं होते, सदा खुश ही होते हैं'। इसी के साथ प्रतिभावान् विद्यार्थी की प्रशंसा न कर उसे एक के बाद एक चैलेन्ज देकर और आगे बढ़ने, पहले से कुछ बेहतर, कुछ बड़ा करने की प्रेरणा देना भी गुरु का ही धर्म है। वस्तुतः गुरु वह दर्पण प्रतीत होता है जिसके सम्पर्क में आ विद्यार्थी अपने को तो देख ही लेता है, आंक लेता है परन्तु साथ ही स्वयं को परिष्कृत, परिमार्जित, शोभनतर बनाने का अवसर भी पाता है।

गुरु का व्यक्तिगत जीवन-सर्वसमर्पित भाव, नैतिक आचरण, उनके आदर्श आदि विद्यार्थी को गहरे तक छूता है। यदि विख्यात स्वतन्त्रता सेनानी, सुविख्यात महापुरुष गुरु का देशमातृका के लिए समर्पित दिवसों में अध्यापन न कर पाने की अवधि में दारुल उलूम में वेतन न लेना विद्यार्थी को न केवल छूता है वरन् आजीवन उनके जीवन का प्रेरक सन्दर्भ बना रहता है वहीं शान्तिनिकेतन में सर्वस्वत्यागी संन्यासियों की भांति कृच्छ्रसाधन से जीवनयापन करने वाले विश्वविख्यात मनीषियों का जीवन चरित जहां एक आदर्श बना आज भी जीवन पथ को उद्भासित कर रहा है वहीं उनका अपने छात्रों को जीवन में प्रतिष्ठित करने के लिए प्रयत्नशील होने का भाव उन (छात्र लेखक) को भी प्रेरित करता है, विद्यार्थियों के प्रति कर्तव्य बोध के भाव को उद्बुद्ध करता है। वस्तुतः इन उच्च कक्षाओं के उक्त गुरुजनों का व्यक्तित्व-विश्लेषण लेखों में सर्वाधिक मात्रा में और विशदता के साथ किया गया है।

प्रधानाचार्य अथवा प्राचार्य पर कक्षा में शिक्षण के साथ प्रशासन का गुरु दायित्व भी सदा न्यस्त रहता है। जिन बारह प्रधानाचार्य तथा प्राचार्यों को अनुकरणीय गुरु स्वीकारा गया है उनमें शिक्षक के साथ साथ प्रशासक के भी श्रेष्ठ गुण परिगणित हुए हैं। एक विद्यार्थी के उद्दण्डतापूर्ण और अशोभन आचरण करने पर जब विद्यार्थी द्वारा प्राचार्य

के सामने न केवल अपनी गलती मान ली गई वरन् उस प्रकार के व्यवहार के कारण का भी स्पष्टीकरण कर दिया गया तो प्राचार्य ने उस युवक के मनोभावों को गहराई से समझते हुए उसे दण्डित नहीं किया, केवल स्नेहपूर्वक उचित-अनुचित का पार्थक्य समझा दिया। यहां उस प्रशासक के धैर्य, सहिष्णुता, मनोविज्ञान की समझ और सर्वोपरि विद्यार्थी की कल्याण-कामना के भाव ने लेखक पर दण्ड से अधिक सशक्त प्रभाव डाला। अन्यत्र सांस्कृतिक कार्यक्रम के मध्य में ही प्राचार्य का मंच पर आकर माइक पर कालिज या कहे शिक्षा संस्थान की गरिमा को बनाये रखने का निर्देश देना विद्यार्थियों के अशोभन गानों आदि से शिक्षालय के वातावरण को दूषित करने के विषय में उन्हें सचेत कर गया तथा शिक्षा मन्दिर की पावनता और गरिमा के प्रति प्रशासक की तीक्ष्ण दृष्टि को भी स्पष्ट कर गया। इसी भांति विद्यार्थियों के साथ अपने सहकर्मियों से अनुशासन की अपेक्षा करने वाला प्रशासक भी प्रशंसाहीन ही है। प्राइमरी स्कूल के हेडमास्टर का अपने एक छात्र की गम्भीर अस्वस्थता की बात सुनकर विद्यालय से दौड़ते हुए छात्र के घर जाने की घटना से उनकी मानवीयता ही झलकती है।

शोध-निर्देशक भी उच्चस्तरीय गुरुजनों के अन्तर्गत ही आते हैं परन्तु यहां उन्हें अलग से परिगणित करना सोद्देश्य है। वस्तुतः शोध-प्रक्रिया में गुरु और शिष्य का कक्षा से बाहर एक व्यक्तिगत सम्पर्क अवश्यमेव पनपता है। गुरु को भली भांति जानने, पहचानने, उनके व्यक्तिगत जीवन के सम्पर्क में आने का शिष्य को अवसर मिलता है और गुरु भी निकटस्थ विद्यार्थी की जांच-पड़ताल कर सकते हैं, उसे मात्र शोध-प्रक्रिया में ही नहीं, जीवन-पथ पर भी निर्देशित कर सकते हैं, उसे प्रभावित कर सकते हैं। 'अनुकरणीय गुरु' के लेखकों में से लगभग 50 प्रतिशत लेखक शोध-प्रक्रिया से गुजर चुके हैं परन्तु चौंकाने वाला तथ्य यह है कि उनमें से मात्र ग्यारह लेखकों ने अपने शोध-निर्देशक गुरु को अनुकरणीय स्वीकार किया है। जिन्होंने ऐसा माना है वे अपने गुरु के पाण्डित्य के साथ उनके व्यक्तिगत जीवन के मूल्यों से प्रभावित हैं, चमत्कृत हैं। संकेत मात्र से यह प्रश्न उठा रही हूं कि शोध-निर्देशकों को इतनी कम संख्या में अनुकरणीय मानने के पीछे क्या कारण हो सकते हैं अथवा हैं- यह विषय विवेचनीय है। विशेषतया अध्यापन जीवन से सम्बद्ध तथा शोध-प्रक्रिया से जुड़े व्यक्तियों को इस प्रश्न पर अवश्य विचार करना चाहिए।

भारतीय शिक्षा गुरुओं के साथ सात विदेशी शिक्षा गुरु तथा एक अभिनय अथवा कह लें नाट्य-गुरु का भी उल्लेख इस पुस्तक में उपलब्ध है जो सभी उच्च शिक्षा से सम्बद्ध हैं। उनका पाण्डित्य तो स्मरणीय है ही परन्तु उसके साथ विश्व विख्यात उनका महत्त्वपूर्ण पदों पर आसीन होने पर भी विद्यार्थी के साथ सहजता से व्यवहार करना, गुरु के ऊंचे आसन पर प्रतिष्ठित होने पर भी मित्र के समान समपर्याय का आचरण

करना दृष्टि को आकर्षित करता है।

अनुकरणीय गुरु के गुरुजनों में अनेक गुण बताये गए हैं, उनके अनेक वैशिष्ट्यों पर प्रकाश डाला गया है। यह शिक्षा शास्त्रियों तथा शोधार्थियों का विश्लेषण-विवेचन का स्वतन्त्र विषय है। यहां तो मात्र एक पाठक की दृष्टि से उनका विहंगावलोकन किया गया है। सार रूप में यही कहना सम्भवतः युक्तियुक्त होगा कि गुरु में जितने गुण हों कम हैं परन्तु किसी भी व्यक्ति को जीवन में अनुकरणीय गुरु बनने के लिए मानवीय संवेदना, नैतिकता, कथनी और करनी में अन्तर न रखना, निष्कलुष जीवन-यात्रा के साथ विषयगत पाण्डित्य उसे भीड़ से अलग कर देता है, प्रबुद्ध तथा प्रतिभावान् शिष्यों के लिए श्रद्धेय तथा अनुकरणीय बना देता है।

सिप्रा बैनर्जी

उप-प्रधान सम्पादिका

आदरणीय – वन्दनीय गुरु

पद्मभूषण आचार्य बलदेव उपाध्याय

मानव के प्रथम गुरु उसके माता-पिता ही होते हैं। मेरे भी प्रथम आदरणीय, वन्दनीय गुरु मेरी माता स्व० श्रीमती मूर्तिदेवी तथा मेरे श्रद्धेय पिता स्व० पण्डित रामसूचित उपाध्याय हैं। मेरा बचपन उन दोनों के सात्त्विक आचरण से प्रभावित है। मैंने पूजा-पाठ की प्रवृत्ति उन्हीं से ग्रहण की है। उन्होंने मुझे ज्ञान दिया परन्तु उससे बड़ी बात कि ज्ञान प्राप्त करने की पिपासा मन में उन्होंने ही जागृत की। उसके अनुरूप परिवेश प्रस्तुत किया। गुरु-स्मरण, गुरुनमन करते हुए वे दोनों मेरे सर्वप्रथम स्मरणीय तथा वन्दनीय गुरु हैं। उनके उपरान्त गुरु रूप में स्मरणीय हैं मेरे चाचा पूज्य श्री रामोदित उपाध्याय जी। वृत्ति से वे अध्यापक थे। आरा एवं काशी उनका मुख्य कर्मस्थल होने पर भी समय समय पर बिहार के कई क्षेत्रों में भी उन्होंने अपने पाण्डित्य की अलख जगाई। मैं उनसे बहुत प्रभावित रहा तथा बहुत कुछ सीखा, अनेक संस्कार लिये।

शिक्षा-दाता गुरुओं में मेरे सर्वप्रथम प्रणम्य गुरु हैं स्व० पण्डित रामावतार शर्मा जी। मैंने उनके चरणों में रहकर विद्याध्ययन किया है। आप उसे एक प्रकार से गुरुकुल परिपाटी कह सकते हैं क्योंकि हम छात्र गुरुजी के घर पर रहकर ही शिक्षा प्राप्त करते थे, गुरुजी की सेवा करने का पुण्य प्राप्त करते, कभी उनके लिये इन्धन लाते, कभी घर का राशन लाते और कभी घर का अन्य कोई काम करते परन्तु इन कामों को करने में सङ्कोच का अनुभव नहीं करते थे, मन पर कोई बोझ नहीं पड़ता था। वहाँ गुरुमाता अपने हाथों से हमारे लिए भोजन बनाती थीं, वात्सल्यपूरित हो हमें भोजन करवाती थीं। गुरु और गुरुमाता ही हमारे पिता-माता थे, हमारे संरक्षक थे। यदि हम छात्रों में से किसी को कुछ कष्ट हो जाता था तो वे तड़फते थे, हमारे कष्ट को दूर करने के लिए आश्रय प्रयत्न करते थे। वह बात ही कुछ और थी, वातावरण ही अलग था। गुरु-शिष्य का वह सम्बन्ध बहुत अच्छा था। वास्तव में अपने ज्ञान से, त्याग से और तपस्या से गुरु शिष्य को गढ़ता है। आजकल वैसा कहाँ? दुर्भाग्य से आजकल उन तीनों का ही अभाव सा हो गया है। न तो गुरु ही वैसे रह गए हैं और न शिष्य। शिष्यों में अपने गुरुजनों के प्रति पहले जैसी न तो आस्था रही न उनके लिये सम्मान।

मेरे श्रद्धेय गुरु रामावतार जी साक्षात् मां सरस्वती के अवतार थे। विद्वत्ता उनके व्यक्तित्व से छलक-छलक जाती थी। अपने विषय के तो वे विदग्ध पण्डित थे ही,

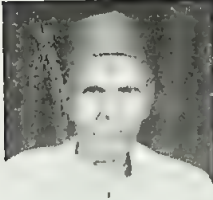
अन्य विषयों के भी प्रकाण्ड ज्ञाता थे। वे अपने समय के प्रसिद्ध शिक्षक रहे हैं। एक ओर वे अपने सिद्धांतों के पक्के थे तो दूसरी ओर अपने कर्तव्य के प्रति सजग थे। मेरे इन आदरणीय गुरु का अध्यापन क्षेत्र काशी और पटना ही नहीं प्रायः पूरा बिहार ही रहा है।

श्रद्धेय गुरु पण्डित रामावतार जी का अविरल वात्सल्य सदा ही हम सभी विद्यार्थियों को निर्बाध मिला किन्तु अगाध स्नेह के साथ उनकी अनुशासन प्रियता के कारण हमें अनेक बार ताड़ना भी मिलती थी। पठन-पाठन के क्षेत्र में, अनुशासित तथा संयमित आचरण में अथवा कर्तव्यपालन में वे किञ्चिन्मात्र भी स्खलन अथवा त्रुटि सहन नहीं करते थे और ऐसा होने पर ताड़ना अनिवार्य थी। गुरुजी मन के अतीव कोमल और संवेदनशील थे तभी हमें डांट-डपट कर स्वयं दुःखी होते थे, वेदना अनुभव करते थे। मैंने उन्हें साक्षात् सरस्वती का अवतार कहा है, वह कोई अतिशयोक्ति नहीं है। वे ज्ञानी इतने थे कि कोई भी विषय उनसे अछूता नहीं था। किसी भी विषय में हमारी जिज्ञासा होती, गुरुजी उसे भली-भाँति शान्त करते थे। मैं उनके विषय में अधिक क्या कहूँ? इतना ही कहना पर्याप्त है कि आज मैं जो कुछ हूँ, सब उन्हीं के अनुग्रह का फल है। आदर्श और अनुशासन में बंधा उनका जीवन मेरा सिद्धान्त बन गया और तभी मैं आज तक उनके सिद्धान्तों पर ही चल रहा हूँ। उनका सम्पर्क, उनका सान्निध्य मेरे भीतर आत्मबल का सञ्चार करता था और उनका स्नेह मुझे निर्भीक बनाता था। प्रातः जागरण से प्रारम्भ कर रात्रि-शयन तक मैं उनसे प्रभावित रहता था। उन गुरु-चरणों में मेरी प्रणामाञ्जलि।

अन्य जिन गुरुओं से मैंने शिक्षा प्राप्त की तथा मैं प्रभावित हुआ उनमें स्मरणीय नाम है प्रख्यात विद्वान् महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज जी का। पण्डित जी का नाम काशी की पण्डित-परम्परा में बहुत सम्मान और श्रद्धा के साथ लिया जाता है। मेरे ये गुरु यूँ तो अपने विद्यार्थियों के प्रति समदृष्टि वाले थे और उनका व्यवहार पक्षपात-रहित हुआ करता था, फिर भी उन्हें प्रतिभा की पहचान थी, गुणों के लिये आदर था। प्रतिभावान् विद्यार्थी के प्रति वे सजग रहते। मैंने उनसे बहुत सीखा। सबसे बड़ी बात यह कि निरन्तर लिखने की प्रेरणा मुझे कविराज जी से ही प्राप्त हुई।

अपने सुदीर्घ अनुभव से मैं विद्यार्थियों के लिये यही कहना चाहूँगा कि गुरु उन्हें जो उपदेश दें, उसे वे गुने और गुरुओं के लिये मेरा सन्देश है कि वे विद्या को स्वयं उचित रूप से ग्रहण करें और तब उसे विद्यार्थियों के लिये अनुकूल बनाकर विद्यार्थियों को विद्यादान करें।

आप लोगों ने 'अनुकरणीय गुरु' योजना के माध्यम से विद्या के प्रचार-प्रसार के विषय में जो उत्साह दिखाया है, यह दंग मुझे मान्य है। मैं सदा चाहूँगा कि विद्या के प्रचार और प्रसार के लिए इसी प्रकार सद्प्रयास किये जाएं।



लेखक परिचय

वैदिक साहित्य, संस्कृत साहित्य, भारतीय दर्शन, काव्यशास्त्र, पुराण, भक्ति साहित्य आदि संस्कृत वाङ्मय के प्रायः समस्त पक्षों को हिन्दी भाषी पाठकों के समक्ष हिन्दी माध्यम से प्रस्तुत करने वाले, हिन्दी की सेवा में अपने को समर्पित करने वाले, मां शारदा के अनन्य उपासक हैं पद्मभूषण आचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय जी। जिस समय यह समस्त वाङ्मय अंग्रेजी माध्यम से प्रकाशित हो रहा था तब आचार्य प्रवर ने ही उसे हिन्दी में प्रस्तुत करने का सत्साहस किया। वस्तुतः कालान्तर में इस दिशा में जो भी कार्य हुआ, उसके प्रेरणा पुरुष आप ही रहे।

सरयूपारीण काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में आचार्य बलदेव उपाध्याय का जन्म शारदीय नवरात्र की द्वितीया तिथि संवत् 1956 वि० तदनुसार 10 अक्टूबर 1899 को उत्तर प्रदेश के बलिया जनपद के ग्राम सोनबरसा में हुआ। सदाचारी वैष्णव पण्डित रामसूचित उपाध्याय, जो हिन्दी, संस्कृत के विद्वान् तथा भागवत के मर्मज्ञ थे, उनके पिता थे तथा तत्कालीन परम्परा के अनुरूप औपचारिक शिक्षा से वंचित तथापि बुद्धिमती और भोजपुरी गीतों की अच्छी ज्ञाता श्रीमती मूर्तिदेवी उनकी माता थीं। आचार्य जी की प्रारम्भिक शिक्षा जन्मस्थान गांव सोनबरसा में हुई। तदनन्तर वाराणसी के ब्रह्मचर्याश्रम संस्कृत पाठशाला के प्रधान पण्डित रामउदित उपाध्याय (चाचा) के समीप रहकर एक वर्ष शिक्षा प्राप्त की। तदुपरान्त बलिया और फैजाबाद के गवर्नमेन्ट स्कूल से पढ़कर प्रथम श्रेणी तथा पूरे प्रान्त में चतुर्थ स्थान प्राप्त कर दसवीं की परीक्षा उत्तीर्ण की। प्रारम्भ से ही कुशाग्र बुद्धि बलदेव जी ने छात्रवृत्ति भी प्राप्त की।

महामना मदनमोहन मालवीय जी के अथक प्रयासों से स्थापित काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत सेन्ट्रल हिन्दू कालिज में प्रवेश लेकर आचार्य जी ने 1918 में इन्टर परीक्षा उत्तीर्ण की। तत्पश्चात् संस्कृत, अंग्रेजी और अर्थशास्त्र विषय के साथ वहीं से 1920 में बी.ए. किया और 1922 में संस्कृत में एम.ए. किया। उनके सहपाठियों में परवर्ती जीवन में सुप्रसिद्ध होने वाले महामहोपाध्याय डा. उमेश मिश्र, डा० हरदत्त शास्त्री आदि थे। प्रकाण्ड विद्वान्, राष्ट्रीय विचारधारा से ओतप्रोत पण्डित रामावतार शर्मा विश्वविद्यालय की स्थापना से ही संस्कृत विभाग में अध्यापक थे। बलदेव उपाध्याय जी उनके स्नेहधन्य विद्यार्थियों में से एक थे। जब आचार्य जी अभी एम.ए. द्वितीय वर्ष में ही थे कि शर्मा जी ने विभाग से त्याग पत्र दे दिया तथा अपने निवास पर छात्रों का नियमित रूप से अध्यापन करने लगे। आचार्य जी ने इस प्रकार एक ओर तो विश्वविद्यालय में अंग्रेजी पद्धति से शिक्षा प्राप्त की तो दूसरी ओर गुरु जी से उनके घर पर और पण्डित

रामउदित जी से प्राच्य पद्धति से शिक्षा प्राप्त करते रहे। इसी का परिणाम था कि 1922 में प्रथम श्रेणी तथा प्रथम स्थान प्राप्त कर एम.ए. की उपाधि प्राप्त की। 1925 में साहित्याचार्य की परीक्षा भी उत्तीर्ण की।

आचार्य जी जब नौवी कक्षा में थे तभी 1914 में संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् पं० यागेश्वर दत्त ओझा की पौत्री शिवमुनिजी के साथ आपका विवाह सम्पन्न हो गया। एम. ए. करते ही आचार्य जी की नियुक्ति मदन मोहन मालवीय जी की इच्छा से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में हो गई जहाँ उन्होंने जुलाई 1933 से मार्च 1960 तक दीर्घ 38 वर्ष प्रवक्ता, रीडर तथा अस्थायी अध्यक्ष के पद पर रहते हुए अध्यापन किया। प्रकाण्ड पण्डित आचार्य जी अध्यापन को जीविका के लिए ही नहीं, अपितु अध्यापक की विद्या के प्रस्फुटन के लिये भी आवश्यक मानते थे। उसी अध्यापन कार्य में उनके नियुक्त होने पर विभाग का यश विस्तृत हुआ, नाना दिशाओं से उनके पास छात्र आए। उनके यशस्वी छात्रों में उल्लेखनीय कतिपय नाम हैं आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डा. राजबली पाण्डेय, डा. वासुदेवशरण अग्रवाल आदि।

1960 में सेवा निवृत्ति के उपरान्त मात्र दो वर्ष आप स्वाध्यायलीन रहे। तदुपरान्त पुनः उनको सादर वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, जो अब सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के नाम से प्रसिद्ध है, में पुराण विभाग का अध्यक्ष पद सौंपा गया। 1965 में वे उसी संस्था के अनुसन्धान संस्थान के संचालक पद पर प्रतिष्ठित किये गए। उसी अवसर पर वे समस्त प्रकाशनों के भी प्रधान सम्पादक बने। इन पदों पर रहते हुए जहाँ उन्होंने 'पुराण विमर्श' नामक सारगर्भित ग्रन्थ की रचना की वहीं पुराण तथा तन्त्र पर दो सम्मेलनों के सफल आयोजन का श्रेय भी आपको है। इन सम्मेलनों में प्रस्तुत शोध पत्रों का संकलन 'सरस्वती सुषमा' में किया गया। उसी अवधि में आपने अखिल भारतीय प्राच्य विद्या अधिवेशन का आयोजन किया तथा स्वयं स्थानीय सचिव के दायित्व का निर्वाह भी किया। सेवा निवृत्ति के उपरान्त इस प्रकार लगभग आठ वर्ष तक अत्यधिक सक्रिय जीवन-यापन कर आपने 1968 में अवकाश ग्रहण कर लिया तथा स्वाध्याय में लीन रहने लगे। छात्रावस्था में जिस काशी को उन्होंने अपनी सारस्वत-साधना का केन्द्र बनाया था, अनेक अवसरों तथा प्रलोभनों के आने पर भी आचार्य जी ने उस काशी का परित्याग नहीं किया तथा अपनी शतायु तक की अवस्था तक वहीं रहकर साहित्य साधना में निरत रहे। उनकी सम्पूर्ण साहित्य साधना का विवेचन एक सम्पूर्ण ग्रन्थ का विषय है। उस पर एक विहंगम दृष्टिपात मात्र करना समीचीन होगा।

आचार्य जी का रचना संसार जितना विविध है उतना व्यापक। उनकी मौलिक हिन्दी एवं संस्कृत ग्रन्थों में उल्लेखनीय हैं— रसिक गोविन्द और उनकी कविता, सूक्ति मुक्तावली, संस्कृत कवि चर्चा, भारतीय दर्शन, संस्कृत साहित्य का इतिहास, धर्म और

दर्शन, संस्कृत वाङ्मय, आचार्य सायण और माधव, वैदिक कहानियाँ, बौद्ध दर्शन मीमांसा, आर्य संस्कृति के मूलाधार, कवि और काव्य, भारतीय साहित्य शास्त्र, आचार्य शंकर, भागवत सम्प्रदाय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, संस्कृत आलोचना, काव्यानुशीलन, भारतीय वाङ्मय में श्रीराधा, संस्कृत सुकवि समीक्षा, पुराण विमर्श, संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, महाकवि भास, भारतीय धर्म और दर्शन, संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, वैष्णव सम्प्रदायों का साहित्य और सिद्धान्त, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, काशी की पांडित्य परम्परा, भारतीय साहित्य का अनुशीलन, भारतीय धर्म और विमर्शचिन्तामणि:।

आचार्य जी द्वारा सम्पादित संस्कृत-ग्रन्थों में प्राकृत-प्रकाश, भरत नाट्यशास्त्र, भामह काव्यालंकार, वेदभाष्य भूमिका, शंकर दिग्विजय, भक्ति चन्द्रिका, अग्नि पुराण, कालिका पुराण आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। उनके अनेक ग्रन्थ उड़िया, उर्दू, कन्नड़, तेलुगू, नेपाली, बरमी तथा सिंगली भाषा में अनूदित हो चुके हैं। उन्होंने अनेक अधिवेशनों की अध्यक्षता की तथा व्याख्यान दिये हैं।

आचार्य बलदेव उपाध्याय जी अपने कृतित्व के कारण अनेक सम्मानों तथा उपाधियों के पात्र बने। 1942 में उन्हें मंगला प्रसाद पुरस्कार प्राप्त हुआ 'भारतीय दर्शन' नामक ग्रन्थ पर। इसके पश्चात् तो अनेक पुस्तकों पर उन्हें अनेक पुरस्कार प्राप्त हुए यथा श्रवणनाथ पुरस्कार, डालमिया पुरस्कार, हनुमान मन्दिर पुरस्कार। आठ बार उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ, का साहित्यिक पुरस्कार, हिन्दुस्तानी एकेडेमी प्रयाग का साहित्यिक पुरस्कार तथा विशिष्ट पुरस्कार, संस्कृत अकादमी उत्तर प्रदेश का साहित्यिक पुरस्कार तथा विशिष्ट साहित्यिक पुरस्कार, राजभाषा विभाग पटना का मंडन मिश्र पुरस्कार तथा संस्कृत अकादमी लखनऊ का एक लाख रूपयों के साथ विश्व संस्कृत भारतीय पुरस्कार आदि आपको प्राप्त हो चुके हैं। ऐसे पुरस्कारों की संख्या बीस से अधिक है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय के समान महामनीषी की ख्याति किसी उपाधि की मुखापेक्षी नहीं होती तथापि समय समय पर उन्हें अनेक उपाधियों तथा सम्मानों से अलंकृत किया गया। 1967 में भारत सरकार द्वारा प्रदत्त 'सर्टिफिकेट आफ आनर', हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग का 'साहित्य वारिधि', स० अ० वि० वि० वाराणसी का 'वाचस्पति', कालिदास अकादमी, उज्जैन का 'कालिदास साहित्य रत्न', अखिल भारतीय भोजपुरी परिषद का 'भोजपुरी भास्कर अलंकरण', भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा 'विशिष्ट सम्मान', कुन्दकुन्द भारती नई दिल्ली द्वारा एक लाख रूपयों सहित 'उमा स्वामी पुरस्कार', रामकृष्ण डालमिया श्रीवाणी ट्रस्ट द्वारा दो लाख रूपयों सहित 'रामकृष्ण डालमिया श्रीवाणी अलंकरण', काशी विद्वत् परिषत् द्वारा शिवकुमार शास्त्री पुरस्कार तथा राष्ट्रीय तिरुपति संस्कृत विद्यापीठ द्वारा महामहोपाध्याय आदि उनमें से कतिपय हैं। 1983 को गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत संस्थान, इलाहाबाद द्वारा उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया गया।

आचार्य जी को 1984 में भारत सरकार ने 'पद्मभूषण' के सम्मान से अलंकृत किया।

आचार्यप्रवर सन् 1993 से 1996 तक उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान लखनऊ के अध्यक्ष रहे। आपको यहां से प्रकाशित होने वाले 'संस्कृत साहित्य का बृहद् इतिहास' का सम्पादक 1992 में नियुक्त किया गया था। 93 वर्ष की परिपक्व अवस्था में इस कार्यभार को स्वीकार करने का कारण यह था कि आप सर्जन को अपना धर्म समझते थे। आपके प्रधान सम्पादकत्व में 18 खण्डों में प्रकाश्य इस विशाल योजना के पांच खण्ड—वेद, वेदाङ्ग, वेदान्त, काव्य तथा तन्त्र जीवनकाल में ही प्रकाशित हो चुके थे तथा सात खण्ड प्रेस में दे दिये जा चुके थे। यह सब उनकी कर्मठता का ही परिणाम था।

संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए भी अन्य भाषाओं एवं विषयों में आपकी रुचि थी। उर्दू के शेरों-शायरी के अतिरिक्त विज्ञान तथा भूगोल में भी आपकी विशेष रुचि थी। गणित का ज्ञान भी पर्याप्त मात्रा में था। भारतीय विद्या को भारतीय दृष्टि से देखने एवं समझने की वे कालत करते थे तथा पाश्चात्य आलोचकों के अन्धानुकरण के वे कदापि पक्षधर नहीं थे।

वस्तुतः आचार्य प्रवर ने संस्कृत विद्या के विभिन्न पक्षों को हिन्दी माध्यम से प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत कर हिन्दी जगत् का बहुत बड़ा उपकार किया। उनके ग्रन्थों की प्रामाणिकता का साक्षात् प्रमाण है कि उनके अनेक ग्रन्थ कई भारतीय एवं विदेशी भाषाओं में अनूदित हो चुके हैं।

('अनुकरणीय गुरु' का सौभाग्य रहा है कि मई 1999 में काशी के उनके निवास पर जाकर उनका साक्षात्कार लेकर उनके गुरुजनों के प्रति संस्मरणात्मक लेख को प्रस्तुत किया जा सका तथा इस योजना के लिए उनकी आशीर्वाणी भी प्राप्त की गई परन्तु यह अत्यन्त दुर्भाग्य की बात रही कि उनके जीवनकाल में यह ग्रन्थ प्रकाशित न हो सका। इन महामनीषी ने अमरलोक के लिये 10 अगस्त 1999 को वाराणसी के अपने निवास स्थान से नहाप्रयाण किया। आपके पार्थिव शरीर का अन्तिम संस्कार मणिकर्णिका घाट पर पूरे राजकीय सम्मान के साथ पुलिस की टुकड़ी द्वारा 'गार्ड आफ आनर' देते हुए 11 अगस्त 1999 को किया गया।)



मेरे अपने सद्गुरु

श्री जगन्नाथ भारद्वाज

लोग कहते हैं जीवन में गुरु की महती आवश्यकता है परन्तु उस गुरु की जो कुछ दे सके, रास्ता दिखा सके। जिसे खुद को ही रास्ता नहीं मालूम वह क्या देगा? क्या रास्ता बताएगा? रास्ते का पता-ठिकाना तो भीतर से चलता है, बाहर से तो केवल ग्रन्थ पढ़े और रटे जाते हैं। और भीतर का गुरु जागेगा, बताएगा तब जब आत्मचिन्तन होगा, होगा आत्म मन्थन।

उस समय मैंने दसवीं पास की थी। आर्य समाजी था। उनकी सभाओं में जाता, सनातनी कथा में जाता। दोनों अपनी अपनी बात बताते। समझ नहीं आता था कौन ठीक कह रहा है, कौन गलत। सोचता रहता क्या गलत है? क्या ठीक है? मन ने कहा 'तू क्रिश्चियन के पास जाएगा, वह अपनी बात बतलाएगा। तू मुसलमान और सिख के पास जाएगा, वे अपना अपना पथ बतलाएंगे। बाहर से तुझे कौन रास्ता बता पाएगा? कौन समझाएगा क्या ठीक, क्या गलत? खुद से पूछ। अपने भीतर झांक। अपना सद्गुरु तो भीतर है, वही तेरा मार्गदर्शक है। लोग कहते हैं, अवतार वह होता है जो ऊपर से नीचे आता है और तू नीचे धरती पर पैदा हुआ है। तुझे ऊपर उठना है। इस ऊपर उठने की प्रक्रिया को अपने से जान। स्वाध्याय कर। स्वाध्याय केवल शास्त्रों का नहीं, जीवन के हर पहलू का, हर विषय का। जिसे देखा, जिसे सुना, उसे आंको, समझो। हर बात पर गौर करो, सोचो, अन्तर्दृष्टि को जगाओ। प्रश्न करो। स्वयं से बारम्बार प्रश्न करो। अन्तर्दृष्टि जाग जाएगी। परमात्मा चाहेगा तो प्रश्न बाद में पैदा होएंगे, उत्तर पहले मिल जाएगा।

और मैं लग गया प्रश्न करने। घर के पास ही है काली बाड़ी। बकरियों की बलि होती। कहने वाले बताते, 'बलि देने से देवी प्रसन्न होती हैं'। प्रश्न उभरा— एक प्राणी की बलि और जगन्माता की प्रसन्नता— यह क्योंकर? बकरी पर गौर किया। बलि का बकरा—साधारण जीव, अहिंसक, किसी का कुछ बिगाड़ती नहीं, बकरी बेचारी। पर जरा उसकी आँखों पर गौर करो। कैसी तिरछी होकर ताकती है। हमेशा आँखें टेढ़ी किये रहती जैसे अहंकार से भरी हो। धीरे धीरे मेरे मन ने बता दिया, सब साफ साफ समझा दिया—बकरी की बलि का तात्पर्य प्राणी बकरी की बलि नहीं। बकरी को तो यहाँ अहंकार का प्रतीक माना गया। बलि अहंकार की देनी होती है, बकरी की नहीं। पर यह दुर्भाग्य ही रहा कि बलि देने वाले प्रतीक में ही बंधकर रह गए, प्रतीकी तो धरी की धरी रह गई, मारी गई बिचारी बकरी, पनपता रहा हमारा अहंकार। परन्तु जब तक अहंकार समाप्त नहीं

होगा, तब तक कैसे कुछ नया, कुछ अच्छा आएगा, भीतर पनपेगा? मेरी यह चिन्तन की, मन्थन की, आत्मदृष्टि जागृत करने की प्रक्रिया चलती रही और धीरे धीरे अपने भीतर का सद्गुरु जागता रहा।

बाहर का गुरु यदि राह बता सकता तो सोचिए, अन्धे व्यक्ति को गुरु क्या राह दिखाएगा? गुरु उसकी आन्तरिक दृष्टि को ही तो जगा सकता है। बहरे को गुरु क्या उपदेश देगा? क्या सुनाएगा उसे? गुरु के प्रयासों से बहरे को आन्तरिक वाणी ही तो सुनाई देगी। हाँ उस आन्तरिक गुरु को पाना है, उस आन्तरिक वाणी को सुनना है तो उसके लिये ज़रूरी है दीवानगी। मेरे में वह एक दिन में तो नहीं जगी थी। दसवीं पास करके जो मैं भटकने लगा था तब मानो किसी ने कहा 'गुरु तुम्हारे भीतर है। उसे जानो।' तभी मेरे में एक दीवानगी पैदा हो गई। मैंने स्वयं ही कहा, 'ईश्वर, तुझे ही रास्ता दिखाना है। तुझे ही मेरे प्रश्नों का उत्तर देना है।' उस उत्तर को पाने की धुन लग गई, न खाना रुचता, न पीना भाता। न रात को सो पाता और न दिन में जग कर भी जगा रहता। घर वाले परेशान। पूछते 'क्या हो गया तुझे?' क्या जबाब देता जब कि मुझे खुद को ही नहीं मालूम कि मुझे क्या हुआ। बस वही दीवानगी चाहिए और तभी भीतर से उत्तर आने लगे। हमारा सद्गुरु भीतर रहता है, जगाने से जागता है, राह दिखाता है।

व्यक्ति में दीवानगी हो तो भीतर के सद्गुरु के साथ बाहर से भी गुरु अपने आप मिलते रहते हैं। 1940 की बात है। एक बंगाली साधु मिले। सफेद दाढ़ी, खूब सुन्दर सौम्य, बिल्कुल रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे देखने में। मुझे बताया, 'जितने लोग मरते हैं, उन 100 में से 80 ही सचमुच में मरते हैं। 20 तो मरते नहीं, उन्हें जिन्दा ही जला या दफना दिया जाता है।' मैंने पूछा, 'यह कैसे?' तो उन्होंने क्रियात्मक रूप से करके बताया। एक जिन्दी मछली तथा गरम और ठण्डे पानी भरी दो बाल्टियाँ मंगवाई। पहले उस मछली को ठण्डे पानी की बाल्टी में डाला, फिर गरम पानी की बाल्टी में। गरम पानी में वह मर गई सबको दिखाया। सबने देखभाल कर उसे मरी घोषित कर दिया। अब साधु जी ने काफी काफी देर तक उसे क्रम से गरम और ठण्डे पानी में डाले रखा। इस समस्त प्रक्रिया में पाँच-छः घण्टे लग गए। अन्ततः वह मछली जिन्दा हो गई। उन साधुजी ने स्वयं आकर एक शोध का विषय दे दिया।

यह तो थी स्वयं ही बाहर से गुरु मिलने की बात। अब भीतर से गुरु मिलने की बात देखते हैं। सन् 1975, देश में आपात स्थिति घोषित हो गई, मैं 'जनसंघ' से जुड़ा हुआ था। सक्रिय था। धर लिया गया और भीतर कर दिया गया। समय काटे नहीं कटता। विज्ञान का छात्र। संस्कृत बस दसवीं तक पढ़ी थी पर समय काटने के लिए श्रीमद्भागवत पुराण पढ़ने लगा। महाभारत पढ़ी, रामायण पढ़ी और दूसरे पुराण भी पढ़ने लगा। अन्धेरा छटने लगा। भीतर मेरा सद्गुरु अनेक वर्षों से मुझे प्रेरणा दे रहा था, अमूर्त हो मेरे प्रश्नों

का उत्तर दे रहा था, वह अब मेरे लिये साकार होने लगा। अमूर्त से मूर्त होने लगा। वह मेरी पहचान में आने लगा। वह थे मेरे अपने सद्गुरु वेदव्यास जी जो आज से पांच हजार वर्ष पूर्व महर्षि पराशर और वसुकन्या सत्यवती के सुपुत्र थे, योगिराज थे। उन जैसा महान् ऋषि दूसरा कहाँ?

वेदव्यास ने महाभारत की रचना की। लेखक की आवश्यकता हुई तो गणेश जी का स्मरण किया। वे आविर्भूत हुए। उनसे अनुरोध किया, महाभारत का लेखक बनने की प्रार्थना की। गणेश जी ने कहा, 'व्यास जी, यदि लिखते समय मेरी लेखनी क्षणभर के लिए भी न रुके तो मैं आपके ग्रन्थ का लेखक बन सकता हूँ।' तब व्यास जी ने कहा, 'गणेश जी, आप भी बिना समझे किसी प्रसंग का एक अक्षर भी नहीं लिखिएगा।' गणेश जी ने 'ओ३म्' कहकर स्वीकार किया और महाभारत के लेखक बन गए।

व्यास जी ने उपाय निकाला। वे समय समय पर ऐसे कूट श्लोक बोल देते जिनका अर्थ बाहर से कुछ और होता, भीतर से कुछ और। स्वयं सर्वज्ञ गणेश जी भी उन श्लोकों का विचार करते कुछ देर के लिए ठहर जाते, इतने में व्यास जी बहुत से नये श्लोकों की रचना कर लेते थे। इस सम्बन्ध में व्यासजी ने स्वयं यह बात कही है :-

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।

अहं वेदिम् शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा॥

अतः महाभारत में जो आठ हजार आठ सौ कूट श्लोक हैं, जिन्हें स्वयं वेदव्यास जानते, शुक्र जानते और पता नहीं संजय जानते भी थे अथवा नहीं, उन श्लोकों के रहस्य को कौन उद्घाटित करे? उनमें छुपे हुए विषयों को कौन आपके लिए खोले? नहीं, बाहर का भाष्य, व्याख्या, अनुवाद नहीं। अपने भीतर ही उस सद्गुरु को तलाशना है, जिज्ञासु बनना है, आत्म चिन्तन, आत्म मनन करना है और मैंने वही किया, पूरी निष्ठा, पूरी ईमानदारी से। मेरे अन्तःकरण में से स्वयं वेदव्यास उन रहस्यों की परतों को एक एक कर खोलते चले गए। जीवन में बिल्कुल अपरिचित, अज्ञात, अनजान विषयों को स्पष्ट करते चले गए।

अब देखिए, महाभारत के दिग्विजय पर्व में एक ऐतिहासिक कथा आती है, 'पाण्डवों ने अपने सबसे बड़े भाई धर्मराज युधिष्ठिर को समस्त भूमण्डल का चक्रवर्ती सम्राट् बनाने की इच्छा से विश्व को विजय करने का संकल्प किया। भीम ने पूर्व दिशा, सहदेव ने दक्षिण, नकुल ने पश्चिम और अर्जुन ने उत्तर दिशा तथा अन्य भू भागों पर विजय प्राप्त की।

अर्जुन ने अपनी सेना के साथ हेमकूट पर्वत को लांघकर हरिवर्ष (मंगोलिया, मंचूरिया, साइबेरिया आदि देशों) को अपने आधीन किया। उसके पश्चात् निषद पर्वत लांघकर इलावर्त वर्ष (उत्तरी ध्रुव प्रदेश) में प्रवेश किया-

स ददर्श महामेरुं शिखाराणां प्रभुं महत् ।

तं कांचनमयं दिव्यं चतुर्वर्णदुरासदम् ।

अर्थात् आगे जाकर अर्जुन को पर्वतों के स्वामी गिरिप्रवर महामेरु के दर्शन हुए जो दिव्य तथा सुवर्णमय है। वहाँ तक पहुँचना किसी के लिए भी अत्यन्त कठिन है।

आगे वेदव्यास बताते हैं— महागिरि मेरु ऊँचाई की दृष्टि से स्वर्ग को घेरे खड़ा है। मेरु के दक्षिण भाग में एक जम्बुवृक्ष है, उसी के नाम पर इस भूभाग (एशिया) को जम्बुद्वीप कहते हैं। उस जम्बुवृक्ष से बड़े फल गिरते हैं और उनके रस से जम्बु नाम की नदी प्रकट होती है। उस नदी के दोनों तटों पर सुनहले और चमकीले चंदोवे तने थे जिनके कारण जम्बु नदी की बड़ी शोभा हो रही थी। उस नदी के दोनों किनारों की मिट्टी उस रस से भीगकर देवलोक को विभूषित करने वाला जम्बुनद नाम का सोना बन जाती है। उसे देवता और गन्धर्व आदि अपनी तरुणियों सहित मुकुट, कङ्कण और करधनी आदि आभूषणों के रूप में धारण करते हैं। उन पदार्थों का उपभोग करने से वहाँ की प्रजा की त्वचा में झुरियां पड़ जाना, बाल पक जाना, थकान होना, शरीर से पसीना आना, दुर्गन्ध निकलना, बुढ़ापा तथा अकाल मृत्यु, सर्दी गर्मी की पीड़ा, शरीर का कान्तिहीन हो जाना तथा अंगों का टूटना आदि कष्ट कभी नहीं सताते और वे जीवन पर्यन्त पूरा पूरा सुख प्राप्त करते हैं।

अब ऋषि वेदव्यास के इस शाब्दिक अनुवाद मात्र को ऐतिहासिक अथवा भौगोलिक विषय मानकर या पुराकथा मात्र मानकर सन्तुष्ट रहा जा सकता था परन्तु मेरे अन्तःगुरु ने, स्वयं वेदव्यास ने, इसके अन्तर्गूढ अर्थ को मेरे सामने उद्घाटित कर दिया—

‘जम्बुवृक्ष तथा मेरुपर्वत वाला भाग अत्यन्त रहस्यात्मक है। एक ओर तो मेरुपर्वत और जम्बुवृक्ष को कितना विशाल बताया गया है, दूसरी ओर लिखा है कि उनको मन से भी स्पर्श नहीं किया जा सकता, तब वह क्या वस्तु हो सकती है? वस्तुतः जम्बुवृक्ष और मेरुपर्वत स्पर्श किये जाने वाले पदार्थ नहीं हैं। मेरुपर्वत तो वह अनुमानित रेखा है जो उत्तरी ध्रुव से ध्रुवतारे तक खींची जा सकती है अर्थात् वह ध्रुव रेखा है जिसे धुरा मानकर पृथ्वी घूमती है। और मुझे स्पष्ट हो गया— हमारी पृथ्वी स्वयं एक विशाल चुम्बक है। पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव से दो अंश दक्षिण में चुम्बकीय ध्रुव का स्थान है। महर्षि ने उस चुम्बकीय ध्रुव की जम्बुवृक्ष से उपमा दी है।

पृथ्वी के चुम्बकीय ध्रुवों से चुम्बकीय शिरायें निकलकर पहले दूर ऊपर तक जाती हैं, लौटती हैं और पृथ्वी के चारों ओर समान रूप से फैलकर प्रवाहित होती हैं। महर्षि ने उस चुम्बकीय प्रवाह को ही जम्बुनदी कहा है। उत्तरी ध्रुव (सुमेरु) तथा दक्षिण ध्रुव (कुमेरु) ही उस जम्बुनदी के दोनों तट हैं। दोनों ध्रुवों के चारों ओर जो मण्डलाकार बर्फ जमी रहती है, उन्हीं को दृष्टि में रखते हुए जम्बुनदी के तटों पर चमकते चंदोवे तने

थे, ऐसा कहा गया है। चुम्बक का निर्माण चुम्बकीय ऊर्जा (जम्बु नदी के रस) से प्रभावित होने पर ही होता है, अतः महर्षि ने चुम्बक को ही जम्बुनद स्वर्ण कहा है।

उस जम्बुनद स्वर्ण 'चाम्बुक' को ही नाना प्रकार से मुकुट (चुम्बकीय टोपी), कंकण (चुम्बकीय कड़ा), करधनी (चुम्बकीय पेट्टी) आदि आभूषणों के रूप में धारण करने से जो अनेक प्रकार के रोगों का उपचार किया जाता है, वही चुम्बक-चिकित्सा पद्धति है।

रामायण में भी जम्बुवृक्ष का वर्णन पढ़ा। वह अर्थ भी सुसंगत होता चला गया। मेघनाद के साथ युद्ध करते हुए लक्ष्मण मूर्च्छित हो गए। हनुमान को संजीवनी लाने का आदेश मिला। हनुमान संजीवनी लाने गए। कहाँ? वहीं उत्तर की ओर। ऊपर हिमालय पर्वत। उससे भी ऊपर सुमेरु पर्वत। वहीं जम्बुवृक्ष और संजीवनी बूटी। सुमेरु पर्वत नार्थ पोल वहीं मैग्नेटिक पोल। उसकी प्रभा विकीरित हो रही है। चुम्बक जम्बुवृक्ष का ही फल है। उसी से बनता है जम्बुनद—अर्थात् सोना। यह चुम्बक ही संजीवनी है। इसी चुम्बक से जीवन के असाध्य रोग ठीक होते हैं। यहाँ तक कि हार्ट का मरीज ही नहीं, हार्टफेल का शिकार भी पुनरुज्जीवित हो सकता है। इसका मुझे प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका है।

हुआ यूँ कि एक स्कूल के मास्टरजी मेरे पास चुम्बक चिकित्सा सीखते रहे। अपने स्कूल के लिए भी अनेक चुम्बक खरीदवाए। एक दिन उनके एक साथी को स्कूल में हार्ट अटैक हुआ और शीघ्र ही हार्टफेल हो जाने से उसकी मृत्यु हो गई। उस साथी अध्यापक के घर पर उसकी मृत्यु की खबर दी गई, शव ले जाने की व्यवस्था की जाने लगी। चुम्बक प्रशिक्षक मास्टर जी को सूझा 'आज तक सिद्धान्त रूप में जिसे पढ़ा, सुना, आज मौका आने पर उसका क्रियात्मक प्रयोग क्यों न करके देखा जाए।' और उन्होंने उस मृतक शरीर के दोनों घुटनों, दोनों कोहनी के भीतरी भागों, दिल तथा माथे पर अलग अलग शक्ति तथा आकार के चुम्बक हिसाब से रख दिए। आशातीत फल मिला। चालीस मिनट पश्चात् वह मृतक उठ कर बैठ गया। संजीवनी ने अपना काम कर दिया। इसमें कुछ दैवी अथवा चामत्कारिक घटना नहीं, शुद्ध वैज्ञानिक तथ्य है। हार्ट का काम है खून को पूरे शरीर में अच्छी तरह से संचालित करना। यदि हार्ट किसी कारण से काम करना बन्द कर दे, खून का संचालन रुक जाए तो खेल खतम हो जाता है। चुम्बक खून का ठीक से संचालन करता है। तभी चुम्बक रखने से खून का संचालन शुरु हो गया, हार्ट भी क्रियाशील हो गया और वह व्यक्ति जीवित हो गया। यही है चुम्बक का संजीवनी नाम का रहस्य।

अस्तु! जेल में मेरे अन्तर्गुरु की प्रेरणा से चुम्बक का जो रहस्य मेरे सामने खुला, स्पष्ट हुआ, उसी का परिणाम था कि 1978 से मेरा निःशुल्क चुम्बकीय चिकित्सा केन्द्र सुचारु रूप से काम कर रहा है। तब से हजारों लोग यहाँ से अपनी चिकित्सा करवा चुके हैं, ठीक हो चुके हैं और अब भी करवा रहे हैं। यह जो एक चिकित्सा पद्धति पूरी

सफलता से चल रही है, निःशुल्क मानव-सेवा हो रही है, इसे उस परमशक्ति ने ही मेरे से प्रारम्भ करवाया। इसे मुझे सिखाने वाला, बताने वाला कौन था?

वह था मेरा गुरु। मेरे अन्तर का वही सद्गुरु, वही ऋषि वेदव्यास। उसी ने मुझे राह दिखाई— मैंने फिर प्राचीन शास्त्रों को पढ़ा। उसके अर्थ को समझा, हृदयंगम किया। रामायण में तो स्पष्ट संजीवनी का उल्लेख है, उसके प्राप्ति स्थान का निर्देश है। हमारे शरीर का ही तो वह प्रतीक है। शरीर में नार्थ और साउथ का विभाजन है। दोनों के व्यवधान को ध्यान में रखते हुए चुम्बक का प्रयोग करना ही तो रोगी को संजीवित करना है। इसी कारण तो मैं कहता हूँ अन्तर में गुरु है, सद्गुरु है। स्वाध्याय से उसे जगाना है। उससे मार्गदर्शन लेना है। उसे पाने के लिए बाहर भटकने की जरूरत नहीं।



लेखक परिचय

पारम्परिक शिक्षा व्यक्ति को ज्ञान देती है विषय विशेष की जबकि स्वाध्याय तथा सतत चिन्तन उसे भीतर से उद्भासित करता है, अज्ञात रहस्यों को उद्घाटित करता है— इस तथ्य का निदर्शन हैं कीर्तिशेष यशःकायः पण्डित जगन्नाथ भारद्वाज जो विद्यार्थी थे विज्ञान के परन्तु परिणत हुए एक संस्कृत साहित्य के मूर्धन्य पण्डित के रूप में, सुविख्यात ज्योतिष विद्वान् के रूप

में, भारतीय संस्कृति के परम उपासक के रूप में।

पण्डित जगन्नाथ भारद्वाज जी का जन्म 6 अप्रैल 1912 को अम्बाला छावनी में हुआ। उनकी माता स्व० विश्वम्भरी देवी तथा पिता स्व० बद्रीनाथ जी थे। विज्ञान के अध्येता एवं विज्ञान की अपनी कार्यशाला में निरत आप नूतन उपकरणों के निर्माण में जुटे रहते। उसी के परिणाम—स्वरूप आपने बैट्री चालित गाड़ी 'भारती' का निर्माण किया जिसे देखकर सन् 1962 में प्रधानमन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू ने आपके कौशल की भूरि भूरि प्रशंसा की थी।

ज्ञान विज्ञान के साथ ज्योतिषशास्त्र, खगोलशास्त्र, फलित गणित, चुम्बक-चिकित्सा, प्राचीन शास्त्र अन्वेषण, संगीत तथा अध्यात्म आदि विविध क्षेत्रों में स्वाध्याय के परिणामस्वरूप आपने वास्तविक अर्थों में पण्डित्य प्राप्त किया। उनके ज्योतिष-शास्त्री ज्ञान के विषय में हजारीप्रसाद द्विवेदी के उद्गार स्मरणीय हैं, 'उन्होंने पुराने ढंग के ज्योतिषियों की भांति केवल पुस्तकीय विद्या से ही सन्तोष नहीं कर लिया है, खगोल के गूढ़ रहस्यों की जानकारी के लिए पुराणों, उपनिषदों और अन्य प्राचीन ग्रन्थों का बहुत गम्भीर अध्ययन किया है और 'चित्रा प्लैनिटोरियम' जैसी महत्त्वपूर्ण खगोल-दर्शिका की रचना करके उन प्राचीन ज्योतिर्विदों के समानधर्मा हो गए हैं जिन्होंने स्वयं नाना प्रकार

के यन्त्रों का निर्माण करके ग्रह-गतियों का सूक्ष्म निरीक्षण किया था और अपने ग्रन्थों में ऐसे सूक्ष्म निरीक्षणों को स्थान दिया था जो आधुनिक वैज्ञानिक और तकनीकी युग के निरीक्षणों के बहुत निकट आते हैं। पण्डितजी द्वारा उद्भावित और निर्मित यन्त्रों से आधुनिक दृष्टि के वैज्ञानिक भी प्रभावित हुए हैं।

भारद्वाज जी ने भारत में सर्व प्रथम 1957 में अम्बाला स्थित अपनी वेधशाला में 'चित्रा' नामक एक ताराघर का निर्माण किया था। यह ताराघर स्वदेशी तकनीकी प्रतिभा का ज्वलंत प्रमाण है। अपने विज्ञान और अभियान्त्रिकी के दीर्घ अनुभव के बल पर उन्होंने ज्योतिर्विज्ञान के क्षेत्र में कई अन्य भी महत्वपूर्ण आविष्कार किये तथा अनेक यन्त्रों का निर्माण किया यथा गगन मापक, लग्न मापक, पेटोग्राफ व ग्रेजुएशनम शीन, जल संकेतक यन्त्र, बीज उपचार यन्त्र, देह तापक यन्त्र आदि।

चुम्बक चिकित्सा-विज्ञान के क्षेत्र में भी भारद्वाज जी का उल्लेखनीय योगदान है। यद्यपि विनम्रता से वे यही कहते थे, 'मैं किसी नवीन आविष्कार का दावा नहीं करता' परन्तु उनके विषय में कहा गया है, 'उन्होंने तथाकथित आधुनिक चिन्तन परम्परा की लीक से हटकर ऊर्जा को विशेषकर चुम्बक ऊर्जा को भारतीय विचारधारा के परिवेश में देखने और समझने का भागीरथ प्रयत्न किया।' प्राकृतिक चिकित्सा के अन्तर्गत चुम्बक-चिकित्सा सम्बन्धित आप द्वारा स्थापित 'भारद्वाज चुम्बक उपचार अनुसन्धान संस्थान' वर्षों से सहस्रों रुग्ण जनों का निःशुल्क चिकित्सा कर रहा है। आपने चुम्बक चिकित्सा के लिए भी विविध आकार एवं शक्ति के चुम्बक बनाए हैं।

पण्डित जी का अन्य उल्लेखनीय कार्य है कि उन्होंने पौराणिक तथ्यों का तर्कसंगत वैज्ञानिक प्रतिपादन किया है। इसकी पृष्ठ भूमि में उनका मौलिक चिन्तन तो रहता ही है परन्तु भारतीय संस्कृति के परम उपासक वे कहीं पर भी वैदिक तथा पौराणिक मान्यताओं पर कुठाराघात नहीं करते हैं। उदाहरणतया पौराणिक शिव और शेष का सन्दर्भ लिया जा सकता है। उनके अनुसार सौर मण्डल को ही शेष नाग के फण से उपमित किया गया है। उनके वक्तव्य का सार यह है कि 'व्यास जी ने (महाभारत में) 8800 गूढ़ श्लोकों की बात कही है, यदि हम उनमें से दस प्रतिशत अर्थात् 880 श्लोकों का भावार्थ भी स्पष्ट कर पाते तो उससे विश्व का महान् लाभ होने वाला है।'

भारद्वाज जी की प्रकाशित रचनाओं में 'भारतीय खगोल विद्या' तथा 'चुम्बक चिकित्सा-विज्ञान' अपने अपने क्षेत्र में प्रतिष्ठित तथा उपयोगी रचनाएं हैं।

विनम्रता की प्रतिमूर्ति, सीधा-सादा, आडम्बर रहित जीवन यापन करने वाले भारद्वाज जी को समय समय पर सम्मानित तथा पुरस्कृत किया गया है। Pioneer of Industry Award, Gian Chand Memorial Foundation Ambala, 'नवरत्न हरियाणा' भिवानी, के अतिरिक्त अखिल विश्व ज्योतिष संस्था, कानपुर तथा

मोदीनगर एवं भारतीय संस्कृति शोध कार्यालय, कलकत्ता, दीवान कृष्ण किशोर सनातन धर्म संस्कृत कालिज, अम्बाला छावनी, सम्पर्क सहयोग संस्कार सेवा, भारत विकास परिषद्, जनकल्याण ट्रस्ट, कलकत्ता, हलवासिया विद्या विहार—भिवानी तथा लायन्स क्लब, अम्बाला आदि द्वारा आप सम्मानित हुए हैं।

(अत्यन्त खेद का विषय है कि 'अनुकरणीय गुरु' के लिए अस्वस्थ अवस्था में ही अपना लेख देने के उपरान्त 2 अप्रैल 1999 को भारद्वाज जी ने अमरलोक को प्रयाण किया।)



अनुकरणीय गुरु

श्री विष्णु प्रभाकर

प्राचीन काल के साहित्य में हमें अनेक अनुकरणीय गुरुओं के सम्बन्ध में पढ़ने को मिलता है। अनुकरणीय शिष्यों की भी कोई कमी नहीं थी लेकिन जैसे-जैसे हम प्रगति करते गए, सभ्य होते गए, वैसे-वैसे अनुकरणीय गुरुओं और शिष्यों की संख्या कम होने लगी। जीवन का जो सबसे बड़ा मूल्य है 'दूसरे के लिए जीना' वह हमारे धर्म ग्रंथों में ही सीमित होकर रह गया है, हमारे जीवन में स्थान नहीं पा सका, फिर भी ऐसे उदाहरणों की संख्या पहले कम नहीं थी। कम तो वह तब हुई जब धीरे-धीरे 'पर' का स्थान 'स्व' ने ले लिया। शिक्षा व्यवसाय बनती चली गई और हमारे युग तक आते-आते सम्पूर्ण रूप से व्यवसाय बन गई। ऐसी स्थिति में आदर्श, आस्था, श्रद्धा जैसे शब्द अपना अर्थ खो बैठे। कह सकते हैं कि उनके अर्थ बदल गए। इन्हीं के साथ गुरु और शिष्य का संबन्ध भी बदल गया। ये सब कैसे और किन कारणों से हुआ, यह लम्बी कहानी है और सभी समझदार लोग इसके बारे में जानते हैं।

मेरी आयु इस समय 88 वर्ष की हो चुकी है। जब मैंने पहले-पहल गुरु के दर्शन किए, तब मैं पाँच या छः वर्ष का था यानी सन् 1917 या 18 की बात है। उन दिनों नियमित स्कूल बहुत ही कम थे। पंडितों और मौलवियों की पाठशालाओं और मकतब में ही शिक्षा पाई जाती थी। मैं बहुत गहरे डूब कर उस युग की याद करता हूँ तो मुझे आदर्श गुरु की छवि कहीं नहीं दिखाई देती। फीस पैसों के रूप में नहीं दी जाती थी, 'सीधा' दिया जाता था यानी आटा, दाल, गुड़, नमक, घी आदि। खास त्यौहार होता था तो दक्षिणा में दो पैसे भी दे दिये जाते थे। और आदर्श यह था कि जब अभिभावक विधि पूर्वक अपनी सन्तान को गुरु जी को सौंपते थे तो एक वाक्य अवश्य कहते थे कि 'गुरु जी आज से इस बच्चे का मांस-मांस आपका, हाड-हाड हमारा' यानी जितना चाहें इनको मारिए।

तो बहुत दिन तक इस आदर्श के नीचे पिसते रहे हम और कभी-कभी सीधे के साथ दो पैसे चुराकर भी लेते रहे हम।

वहाँ से हटे तो मौलवी साहब के मकतब में पहुँच गए। पढ़ाई में इतना ही अन्तर पड़ा कि कुछ इस्लामी शिक्षा भी मिली। शहतूत की कमची और भी तेज पड़ने लगी। वहाँ से किसी तरह मुक्ति मिली तो कस्बे के सरकारी प्राइमरी स्कूल में पहुँच गए। वहाँ विधिवत् कुछ पुस्तकें पढ़नी पड़ती थी लेकिन हड्डी और मांस की कहानी यहाँ भी उसी तरह दोहराई जाती थी। यहाँ के अध्यापकों में कुछ ऐसे कुकर्म करने की आदत थी कि जिसका वर्णन

करना भी मुश्किल है। एक अध्यापक अकेले रहते थे, उनके घर का चौका-बासन, बुहारी सब हम विद्यार्थियों को ही करना पड़ता था। घर से भोजन तक लाकर देना पड़ता था और हमारे अभिभावकों को इन बातों पर कोई आपत्ति नहीं होती थी।

यहाँ काफी विद्यार्थी थे। उनमें अच्छे-बुरे सभी प्रकार के थे, यह मानना होगा कि पढ़ाई वहाँ बड़े नियमित रूप से होती थी। वहीं पर हमारा साहित्य से परिचय हुआ। गणित में मैं बहुत कुशल था और मास्टर जी कभी-कभी मुझे ही पढ़ाने के लिए खड़ा कर देते थे।

सब कुछ होने पर भी अध्यापक और विद्यार्थी में स्नेह और प्यार का नाता नहीं बन पाता था। एक और कमी थी यहाँ, अंग्रेजी नहीं पढ़ाई जाती थी। हमारे परिवार में हमारी मां, पहली पढ़ी लिखी महिला आई थीं, इसलिए उनका ध्यान विशेष रूप से हमारी शिक्षा की ओर रहता था। हम पढ़-लिखकर बड़े आदमी बने, यह उनकी आकांक्षा थी। उस कस्बे में जब एक अंग्रेजी पढ़ाने वाले मुस्लिम सज्जन आए तो हम भाइयों को उनके सुपुर्द कर दिया गया। उसके बाद आ गए एक सुशिक्षित हिन्दू सज्जन। बस फिर हम वहाँ पहुँच गए और अंग्रेजी की अच्छी शिक्षा प्राप्त की। अच्छा पढ़ाते थे वे पर आदर्श शब्द के जो अर्थ हो सकते हैं, वे यहाँ भी दुर्लभ थे क्योंकि वह कोई नियमित स्कूल तो था नहीं, केवल एक ही अध्यापक थे। इसलिए व्यवस्था वैसी नहीं हो सकी जैसी होनी चाहिए थी। तब हमारी मां ने निश्चय किया कि वे हम दोनों भाइयों को पंजाब हिसार (अब हरियाणा) में अपने भाई के पास भेजेंगी। हमारे बड़े भाई वहाँ पहले ही जा चुके थे और दसवीं कक्षा अच्छे नम्बर लेकर पास कर चुके थे। आर्य समाज का स्कूल था इसलिए सब कुछ नियमित था। सरकार से भी अनुदान मिलता था। शिक्षा सब सरकारी स्कूलों की तरह ही दी जाती थी, अन्तर इतना था कि हमें धर्म की शिक्षा भी दी जाती थी। आर्य समाज का अनुशासन वहाँ चलता था। जीवन कैसे आदर्श बन सकता है, इस पर भी जोर दिया जाता था।

ऐसे अनुशासित वातावरण में पहुँचकर हमें बहुत अच्छा लगा। हाई स्कूल था, बहुत से शिक्षक थे और सैकड़ों विद्यार्थी तो होने ही थे लेकिन सब कुछ नियमित, अनुशासित। फुटबाल, क्रिकेट आदि खेलने का प्रबन्ध भी था और एक आर्य कुमार सभा भी थी जिसमें विद्यार्थी ही सब प्रबन्ध करते थे। आर्य समाज के अनुसार धर्म का ज्ञान कराया जाता था। देश भक्ति पर भी जोर दिया जाता था। आर्य समाजी स्कूल होने पर भी हमारी कक्षा में दो मुस्लिम विद्यार्थी भी थे। फारसी पढ़ाने के लिए मौलवी साहब भी आते थे। बाद में एक हिन्दू अध्यापक भी फारसी पढ़ाने लगे।

मैं उस स्कूल में सन् 24 से 29 तक पढ़ा केवल पाँच साल। शरारत वहाँ भी करते थे, मार भी खानी पड़ती थी लेकिन आर्य समाज का स्कूल होने के कारण हमें एक अच्छा नागरिक होने की शिक्षा दी जाती, यद्यपि उनका आधार आर्य समाज के सिद्धान्त

ही हुआ करते थे। शास्त्रार्थ करने की आदत भी हमको पड़ गई थी।

लेकिन हमारा उद्देश्य तो अनुकरणीय गुरु की खोज है। यहाँ आने से पूर्व हमें एक भी अध्यापक ऐसा नहीं मिला जिसे अनुकरणीय कह सकें। यहाँ ऐसे अनेक अध्यापक थे जिनके साथ इस शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। उनमें भी दो चार ऐसे थे जिनके प्रति मन में सहसा ही श्रद्धा का भाव जाग आता था। यहाँ मैं उन्हें ही अनुकरणीय कहना चाहूँगा। मैं यह भी स्वीकार करूँगा कि उन दिनों मुझे इस अनुकरणीय शब्द का महत्व नहीं मालूम था, वह तो तभी मालूम हुआ जब मैंने जीवन की पाठशाला में प्रवेश किया। तब तक मैं लिखने भी लगा था और मेरे कई अध्यापक इस बात से बहुत प्रसन्न भी थे। मेरा भाषण सुनकर वे मेरी तारीफ भी करते थे। जब मैं राजनैतिक कारणों से पंजाब छोड़कर दिल्ली चला आया तब भी मेरे कई अध्यापक मेरे पास आकर ठहरते थे।

अपने सभी अध्यापकों का विश्लेषण करने के बाद जिन्हें मैं सचमुच अनुकरणीय कह सकूँ वे तीन चार ही थे। जैसे— हमें जो गणित पढ़ाते थे वे नियमित अध्यापक नहीं थे, मानद अध्यापक थे और उनका नाम था बाबू हुकुम चन्द। वे शहर के एक वकील थे और मात्र श्रद्धा के कारण हमें नवीं दसवीं में गणित पढ़ाते रहें, और बड़े प्यार से पढ़ाते रहें। मैं अंक गणित में बहुत होशियार था लेकिन ज्यामिति मैंने कभी पढ़ी ही नहीं। नवीं कक्षा में छमाही परीक्षा में मैं ज्यामिति के परचे में जो कुछ करके आया, सब गलत हो गया। मुझे 100 में से 1 नम्बर मिला, लेकिन अंक गणित के परचे में 100 में से 78 नम्बर प्राप्त हुए, यानी 200 में से कुल मिलाकर 79 अंक। पास होने के लिए चाहिये थे 80 नम्बर। मैं डरते, झिझकते हुए उनके पास गया, बोला 'मास्टर जी, मैं एक नम्बर से फेल हो रहा हूँ, आप ज्यामिति के परचे में एक के स्थान पर दो अंक दे दीजिए तो मैं पास हो जाऊँगा।'।

उन्होंने मेरी ओर देखा और दृढ़ स्वर में कहा 'नहीं, मैं तुम्हें ज्यामिति के परचे में दो अंक नहीं दूँगा, हाँ, अंक गणित में 78 के स्थान पर 79 कर दूँगा।' और उन्होंने यही किया। मैं उनकी ओर देखता रह गया, मैं खुश भी था और थोड़ा दुःखी भी लेकिन उनके इस बरताव का रहस्य मैं बहुत दिन बाद जान सका जब मुझे अगली बार ज्यामिति में 28 नम्बर मिले। उस परचे में मैं फेल तो तब भी था लेकिन उन्होंने प्रसन्न होकर मेरी पीठ ठोकी और कहा 'शाबाश, अगली बार तुम अवश्य 40 अंक लाओगे।' और सालाना परीक्षा में यही हुआ भी। क्या मैं उन्हें अनुकरणीय गुरु नहीं कह सकता?

इससे भी अधिक अनुकरणीय गुरु थे हमारे हेड मास्टर साहब श्री मुश्ताक राय महेन्द्रा। उनके चलने में, बात करने में, एक निराली शान थी। क्लास के सभी बच्चों को वे प्यार करते थे लेकिन उनके अवगुणों को कभी क्षमा नहीं करते थे। उन दिनों पुस्तकों की कुंजी नहीं बनती थी। आज तो विद्यार्थी क्या प्राध्यापक भी उन्हीं के सहारे पढ़ाते हैं। लेकिन क्या हुआ कि सन् 1928 में जब मैं नवीं क्लास में पढ़ रहा था तो हमारा एक सहपाठी,

जो सेशन जज का लड़का था, कहीं से एक कुंजी ले आया और सबको दिखाने लगा। अगला पीरियड हेड मास्टर साहब का था। वे जैसे ही अन्दर आए तो उनकी दृष्टि उस लड़के के हाथ में पकड़ी कुंजी पर पड़ी। पूछा, 'यह तुम्हारे हाथ में क्या है?' लड़का बड़े गर्व से उनके पास पहुँचा और कुंजी उनके हाथ में थमा दी। उसे देखते ही हेड मास्टर साहब की त्वोरियाँ चढ़ गई, एकदम बोले 'तुम स्कूल में क्यों आते हो।' लड़के ने उत्तर दिया, 'आपसे पढ़ने के लिए।'।

तभी सहसा हेड मास्टर साहब का स्वर गूँजा, 'मुझ से पढ़ने के लिए आते हो तो यह कुंजी किसके लिए?' और यह कहते-कहते एक जोर का तमाचा उसके गाल पर लगाया फिर उस कुंजी को फाड़कर उसकी चिन्दियाँ बनाकर चारों तरफ बिखेर दी और बोले 'तुम मुझ से पढ़ने के लिए नहीं आते, तुम कुंजियों से पढ़ते हो, बाहर चलो।' लड़का घबराया हुआ बाहर आया, पीछे-पीछे छड़ी लिए हेडमास्टर साहब थे, बोले 'कमीज उतारो।'।

लड़के ने कुछ घबराते हुए और कुछ गुस्से में कमीज उतारी और उसके बाद हेड मास्टर साहब ने क्रोध में भरकर उसको बेंत से इतना मारा कि वह चीख उठा। फिर बेंत फेंककर कहा 'कमीज पहनो और अपने घर जाओ, अगर कुंजी से पढ़ना है, तो यहाँ आने की ज़रूरत नहीं है।'।

हम लोग चकित थे और भयभीत भी। आप भी सोचते होंगे कि बड़े क्रूर थे हेड मास्टर साहब। मैंने भी तब कुछ ऐसा ही सोचा था लेकिन अगले दिन मैं इस रहस्य को समझ गया। वह लड़का भी समझ गया क्योंकि अगले दिन वह शान्त भाव से आया और हेड मास्टर साहब को नमस्कार करके चुपचाप बैठ गया।

यह मात्र एक घटना नहीं है, एक बहुत बड़ा प्रश्न है इसके पीछे। इसका उत्तर अपने अन्तर में ही खोजना होगा और तब आप उस आदर्श अध्यापक को समझ पायेंगे। उस युग में और आज के युग में कितना अन्तर आ गया है। आदर्श और अनुकरणीय शब्द ही अपना अर्थ खो बैठे हैं। उन्हीं की एक और घटना मुझे याद आती है। मैं आठवीं कक्षा में बोर्ड की परीक्षा देकर बहुत अच्छे नम्बरों से पास हुआ। बस दो विद्यार्थी ही मुझसे ऊपर थे। हेड मास्टर साहब ने उन दोनों की प्रशंसा की, लेकिन मुझे भी नहीं भूले। बोले 'तुमने बहुत अच्छा किया है। तुम भी वजीफा पाने के अधिकारी हो।'।

वजीफा तो मैं किसी टैक्नीकल कारण से नहीं पा सका पर दुर्भाग्य से नवीं कक्षा में बहुत बीमार रहा इसलिए अंग्रेजी के परचे में दो नम्बर से फेल हो गया। दूसरे अध्यापकों ने कहा 'बेचारे के दो नम्बर बढ़ा दीजिए न, होशियार लड़का है, बीमार रहा।' लेकिन हेड मास्टर साहब का स्पष्ट जवाब था, 'मैं इसके दो नम्बर कभी नहीं बढ़ाऊँगा, यह अगली क्लास में परमोटिड पास होकर ही जाएगा।'।

मुझे थोड़ा दुःख तो हुआ पर मैंने दसवीं कक्षा में खूब मेहनत की और पहली परीक्षा

में ही मुझे अंग्रेजी में अच्छे नम्बर मिले। हेड मास्टर साहब स्वयं ही परीक्षक थे। क्लास में परीक्षा फल सुनाते हुए उन्होंने मुझे अपने पास बुलाया और मुस्कराते हुए बोले 'तुमने बहुत अच्छा किया है, और भी मेहनत करो, खूब आगे बढ़ोगे' यह कहते हुए उन्होंने मेरी पीठ ठोकी और मैं हंसता हुआ अपनी सीट पर बैठा। मेरे मन में हेड मास्टर साहब के प्रति अपार श्रद्धा का भाव जाग उठा था। दुर्भाग्य से वे तभी स्कूल छोड़कर चले गए तथा मेहम जिला रोहतक में अपना एक निजी स्कूल उन्होंने खोल लिया था लेकिन मैं आज भी अपने मन के पटल पर उनकी वह छवि निरन्तर देखता हूँ।

एक और अध्यापक पंडित मूलराज जी की बात कहना चाहूँगा। वे आर्य समाज के बहुत अच्छे वक्ता थे। बहुत शान्त स्वभाव के थे। वे हमें संस्कृत और वेद पाठ पढ़ाते थे और मैं दोनों विषयों में बहुत कुशल था। वेदपाठ में तो पूरे पंजाब की परीक्षा में इतने अच्छे नम्बर मिले थे कि मुझे स्कूल की ओर से प्रथम आने पर इनाम भी दिया गया। संस्कृत में भी मैंने 150 में से कम से कम 129 और अधिक से अधिक 140 अंक प्राप्त किये थे। पंडित जी बहुत सरल और सीधे स्वभाव के व्यक्ति थे। दण्ड भी वे बहुत ही कम देते थे लेकिन एक दिन मेरे एक मित्र और मेरी जानबूझकर की गई एक शरारत पर हमें बहुत पीटा था। पिटने के हम अधिकारी भी थे। संस्कृत में आम के लिए जो शब्द आता है, वह बहुत अश्लील है। नारी की योनि को जिस नाम से पुकारा जाता है, वही शब्द संस्कृत में आम का है। एक दिन हमारे पाठ में वह शब्द आ गया। पंडित जी ने उसे उसी रूप में नहीं पढ़ा बल्कि उसकी जगह एक और शब्द का प्रयोग किया। हम सब लोग तो पहले ही उस शब्द को पढ़ चुके थे। मेरे मित्र को शरारत सूझी, बोल उठा 'पंडित जी आप गलत पढ़ रहे हैं।' पंडित जी ने उत्तर दिया, 'बैठ जा, बैठ जा, मुझे सब मालूम है।' लेकिन मेरे वह मित्र नहीं बैठे, बार-बार कहने लगे, 'आप गलत पढ़ रहे हैं।' मैं भी उसके पास ही बैठा था, मैंने भी कहा, 'हां पंडित जी आप गलत पढ़ रहे हैं।' मैंने बार-बार यही कहा 'पंडित जी, यह शब्द तो कुछ और ही है, आप ठीक पढ़िए न।' अब तो पंडित जी के धैर्य का बांध टूट गया और उन्होंने हम दोनों को वह तमाचे और मुक्के लगाए कि हमें नानी याद आ गई।

पंडित जी फिर अपने स्थान पर जाकर पढ़ाने लगे और हम नीचा मुँह करके बैठ गए, क्लास में स्तब्धता छा गई। पंडित जी ने अपना पाठ बड़े शान्त भाव से समाप्त किया और हमारी तरफ देखते हुए चले गए जैसे उनको हम पर बहुत दया आ रही थी।

उसके बाद उस घटना की चर्चा उन्होंने कभी नहीं की। हमारे साथियों ने हमारा मजाक उड़ाया लेकिन पंडित जी अपने चिरपरिचित स्नेह से हमें अपना काम सौंपते रहे। मुझे तो वह कभी-कभी पिछली क्लास के संस्कृत के परचे भी देखने के लिए देते थे। कभी कभी परचा बनवाते भी थे। जब मैं दसवीं पास करके नौकरी करने लगा तब भी वे मुझे बराबर बुलाते और बातें करते और कहते कि 'तुम प्राज्ञ, विशारद और शास्त्री की परीक्षा

भी दो, तुम अवश्य पास हो जाओगे।' आर्य समाज में मैं भाषण देने लगा था, वह गद्गद होकर मेरी पीठ ठोकते और कहते 'तुम आदर्श शिष्य हो, तुम अवश्य कुछ बनोगे।'

एक दिन हम कहीं मिल गए तो वे बोले, 'सुनो विष्णु, प्राज्ञ की परीक्षा की तैयारी शुरू कर दो, मेरे पास आया करो, मैं तुम्हें पढ़ाऊँगा।'

मैंने मुस्कराते हुए हाथ जोड़े, बोला 'पंडित जी, आपकी कृपा से तो मैंने प्राज्ञ की परीक्षा दे भी दी है।'

पंडित जी अवाक् मेरी ओर देखते रहे और बोले 'बिना पढ़े ही परीक्षा दे आए।' मैंने उत्तर दिया, 'पंडित जी, आपने इतना पढ़ा दिया था कि मुझे कुछ और जानने की जरूरत नहीं रही। पुस्तक में से कुछ पाठ कण्ठस्थ कर लिये। नम्बर तो बहुत नहीं आयेंगे, पर पास हो जाऊँगा।'

और मैं सचमुच पास हो गया। पंडित जी ने प्रसन्न होकर मुझे आशीर्वाद दिया और विशारद की परीक्षा की तैयारी शुरू करा दी लेकिन अनेक कारणों से मैं परीक्षा नहीं दे सका। राजनैतिक चक्रव्यूह में फँस गया और पंजाब से निष्कासित कर दिया गया। पंडित जी का प्रेम मेरे प्रति निरन्तर बढ़ता रहा। मेरी शादी में भी वे पुरोहित बनकर हरिद्वार गए थे। उनके आशीर्वाद से ही मैं लेखक बन गया। बड़े पुलकित होते थे वे।

और भी बहुत कुछ कहने को है, पर इतना ही क्या कम है कि जो मेरे अध्यापक थे, गुरु थे, वे मुझ पर गर्व करते थे क्योंकि वे आदर्श गुरु थे। न कुंजियाँ थी, न व्यापार था। था बस स्नेह और पीठ पर हाथ रखकर निरन्तर आगे बढ़ाने की अदम्य शक्ति।

आज सब कुछ उलट गया है। मूल्य इतने परिवर्तित हो गए हैं कि अपना अर्थ खो बैठे हैं। अध्यापक और विद्यार्थी के बीच जो स्नेह का स्रोत था, वह अब दो पक्षों के बीच के संघर्ष में बदल गया है। प्यार ने घृणा का स्थान ले लिया है और गर्व ने निन्दा का। अपवाद सदा होते हैं और अपवाद ही तो नियम को प्रमाणित करते हैं।



लेखक परिचय

उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरनगर जनपद के ग्राम मीरापुर में 21 जून 1912 को श्री दुर्गा प्रसाद और श्रीमती महादेवी के घर जिस पुत्र ने जन्म लिया और जो प्रारम्भ में विष्णु गुप्त और विष्णु दत्त नामों से पुकारा जाता, वही आज के हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध और सुपरिचित यशस्वी लेखक विष्णु प्रभाकर जी हैं। तत्कालीन पंजाब वर्तमान हरियाणा के हिसार से मैट्रिक परीक्षा उत्तीर्ण करके नौकरी

करते हुए उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय से हिन्दी भूषण, प्राज्ञ, हिन्दी प्रभाकर तथा बी.ए. की परीक्षाएं पास की। पन्द्रह वर्ष तक उन्होंने पंजाब में नौकरी की और उसके साथ ही

वे स्वतन्त्रता आन्दोलन से जुड़े रहे जिसके कारण वे पुलिस के सन्देह के पात्र बन गए तथा बारम्बार पुलिस द्वारा तलाशी लिए जाने से त्रस्त होकर 1944 में पंजाब छोड़कर दिल्ली आकर रहने लगे और फिर वहीं के हो गए।

बचपन से ही लेखन में रुचि का परिणाम था कि 1926 में इलाहाबाद से प्रकाशित बालसखा में पत्र प्रकाशित हुआ। 1931 में पहली कहानी 'दीवाली का दिन' हिन्दी मिलाप में छपी। 1934 से तो आपका नियमित लेखन प्रारम्भ हो गया। दिल्ली आने से पूर्व ही लेखक के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। दिल्ली आकर जहाँ विविध नौकरियाँ की वहीं एक ओर समाज सुधार तथा हिन्दी प्रचार-प्रसार का कार्य किया, पारसी रंगमंच पर अभिनय भी किया तो दूसरी ओर हिन्दी साहित्य जगत् के अनेक दिग्गजों सर्वश्री प्रेमचंद, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, जैनेन्द्र कुमार, सियाराम शरण गुप्त, अज्ञेय, उपेन्द्रनाथ अशक, गुलाब राय आदि के सम्पर्क में आए। 1950 तक अखिल भारतीय कांग्रेस से भी जुड़े रहे। 1955 से 1957 तक सरकार के निमन्त्रण पर आकाशवाणी दिल्ली केन्द्र पर नाटक निर्देशक के रूप में कार्य किया। बाद में दोनों स्थानों से त्याग पत्र देकर पूरी तरह से स्वतन्त्र लेखन को अपना लिया।

स्वतन्त्र लेखन का ही परिणाम है कि आपके 8 उपन्यास, 24 कहानी संग्रह, 2 लघु कथा संग्रह, 12 नाटक, 16 एकांकी संग्रह, 3 रूपान्तर, 1 रूपक संग्रह, 2 अनूदित नाटक, 17 जीवनी एवं संस्मरण, 5 यात्रा वृत्तान्त, 4 विचार निबन्ध, 19 विविध पुस्तकें, 6 खण्डों में सम्पूर्ण नाटक संग्रह, 1 खण्ड लघु जीवनी संग्रह, 2 खण्डों में सम्पूर्ण संस्मरण संग्रह, 3 खण्डों में सम्पूर्ण निबन्ध संग्रह, 10 बाल एकांकी, 1 बाल काहानी संग्रह और 19 विविध पुस्तकें आदि प्रकाशित हैं। उक्त पुस्तकों में से दो उपन्यास, तीन कहानी संग्रह, दो जीवनी तथा संस्मरण, चार बाल एवं प्रौढ-शिक्षा साहित्य की पुस्तकें तथा तीन नाटक पुरस्कृत हैं।

उपन्यास सम्राट् शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय का जीवन वृत्तीय ग्रन्थ 'आवारा मसीहा' (1974) आपका बहुचर्चित, प्रशंसित तथा तुलसी पुरस्कार (उ०प्र० हिन्दी संस्थान, 1975-76) तथा सूर पुरस्कार (हरियाणा साहित्य अकादमी, 1980-81) से सम्मानित हो चुका है तो 'अर्धनारीश्वर' उपन्यास (1992) हिन्दी भाषा साहित्यिक पुरस्कार (भारतीय भाषा परिषद, कलकत्ता, 1992) तथा साहित्य अकादमी पुरस्कार (1993) प्राप्त कर चुका है। इनके अतिरिक्त भी प्रभाकर जी अनेक पुरस्कारों, उपाधियों, सम्मानों से अलंकृत हो चुके हैं। उनमें कतिपय का नामोल्लेख किया जा रहा है— इंडियन राइटर्स एसोसिएशन का पाब्लोनेरुदा सम्मान (1974), इन्टरनेशनल ह्यूमनिस्ट अवार्ड (1975), सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार (1976), राष्ट्रीय एकता पुरस्कार (1980), भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पुरस्कार (1983), लघुकथा वारिधि (1984), साहित्य वाचस्पति (1986), बेनीपुरी पुरस्कार (1986-87), साहित्यकार शिरोमणि (1987), संस्थान सम्मान (1987), लघुकथा रत्न (1987), शलाका सम्मान (1987-88),

मूर्तिदेवी पुरस्कार (1988), महाराष्ट्र भारती (1990-91), शरत पुरस्कार (बंग साहित्य परिषद, भागलपुर), राहुल सांकृत्यायन यायावरी पुरस्कार (1995), अनाम सेवी सम्मान (1996), साहित्य मार्तण्ड (1996) आदि। वर्धमान विश्वविद्यालय ने 1995 में उन्हें डाक्टर ऑफ लिटरेचर की उपाधि से सम्मानित किया।

प्रभाकर जी की रचनाएं भारत की सीमा से बाहर भी अपनी यशो पताका फहराती हैं। रूसी भाषा में उनका एक कहानी संग्रह तथा नाटक प्रकाशित हुआ है। बर्मा, श्रीलंका, लंदन आदि के रेडियों से उनके नाटक अनूदित होकर प्रसारित हुए हैं। मारिशस, बर्मा, जापान आदि में उनके नाटक मंचित हुए हैं। 'आवारा मसीहा', 'अर्द्धनारीश्वर' तथा कई जीवनियों का प्रायः सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। लेखन के साथ 64 पुस्तक, पुस्तिकाओं का उन्होंने सम्पादन किया है। 'जीवन-साहित्य' का वर्षों तक अनाम रूप से सम्पादक रहे हैं।

विष्णु प्रभाकर जी अनेक साहित्यिक संस्थाओं के समय समय पर संयोजक अथवा सदस्य एवं अध्यक्ष रह चुके हैं यथा हिन्दी केन्द्रीय साहित्य अकादमी, इप्ता, दिल्ली, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा, दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार समिति, मद्रास, पुस्तक चयन समिति, गृह मन्त्रालय, संगीत नाटक अकादमी, दिल्ली, हिन्दी सलाहकार समिति, नगर विमानन मन्त्रालय तथा अन्य विभिन्न मन्त्रालय, भारत सरकार। आपने विशेष प्रतिनिधि रूप में भी अनेक देशों तथा संस्थाओं में प्रतिनिधित्व किया।

भ्रमण-प्रिय तथा भ्रमणशील प्रभाकर जी पर विविध विश्वविद्यालयों में 35 पीएच०डी०, 50 एम. फिल्. की उपाधि विद्यार्थियों ने शोध करके प्राप्त की है और अभी भी अनेक शोध कार्य चल रहे हैं।



70834

मेरे अनुकरणीय गुरु

डा० संसारचन्द्र

सौभाग्यवान् शिष्यों को ऐसे गुरु मिलते हैं जो न केवल अध्यापन के माध्यम से ज्ञान का जगत् उद्भासित करते हैं वरन् शिष्यों के जीवन को दिशा प्रदान भी करते हैं। ऐसे ही मेरे गुरु थे सुविख्यात भाषा वैज्ञानिक, पण्डित, मनीषी डा० सिद्धेश्वर वर्मा तथा प्रोफेसर गौरी शंकर जी। क्रमशः इन दोनों महानुभावों को स्मरण करना उचित होगा।

डा० सिद्धेश्वर वर्मा जब प्रिंस ऑफ वेल्स कालिज, जम्मू (अब गांधी मेमोरियल कालिज) में अध्यापन कर रहे थे, उस समय बी०ए० के विद्यार्थी के रूप में मुझे कुछ समय के लिए उनका शिष्य बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह समय बहुत दीर्घ नहीं था परन्तु इस समय मुझे उनका जो स्नेहसौहार्द प्राप्त था, वह अविस्मरणीय है। उनके पाण्डित्य की छाप के साथ उनके व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य का प्रभाव भी मुझ पर अमिट है।

डा० वर्मा भाषा वैज्ञानिक थे। अनेक भाषाओं तथा बोलियों का उन्हें बहुत अच्छा ज्ञान था परन्तु वे सदा अपने ज्ञान को बढ़ाने तथा अपने ज्ञात विषयों की परीक्षा लेने में उद्यत रहते थे। मैं बात को थोड़ा खोलकर बताना चाहूंगा। मेरी जन्मभूमि मीरपुर थी जो पाक अधिकृत जम्मू कश्मीर का जिला स्तरीय नगर बना तथा बाद में मंगला घाटी के विशाल सागर में जल समाधि को प्राप्त कर गया था। वहाँ पंजाबी बोली चलती थी। वर्मा साहब हमें पढ़ाते हुए अथवा यूँ भी बातचीत में वहाँ प्रचलित कई शब्दों यथा पोठवारी, बुन, जुलसे आदि जो पूर्णतया ग्रामीण शब्द थे तथा वहाँ के वासियों के अतिरिक्त अन्य लोगों के ज्ञान की सीमा से बाहर भी थे, के अर्थ को पूछ कर सुनिश्चित कर लेते थे। यह बात केवल मेरे साथ नहीं थी वरन् विभिन्न गाँवों के, प्रान्तों के छात्रों से वे इसी प्रकार वहाँ की बोलियों में प्रयुक्त शब्दों के अर्थ तथा प्रयोग को अपने अधीत ज्ञान से तुलना कर सुनिश्चित करते थे। साथ ही इस प्रक्रिया में अपने छात्रों को भागीदार बनाकर उनको महत्त्व प्रदान भी करते थे। हम लोगों की रुचि भी ऐसे अप्रचलित तथा नूतन शब्द चुन-चुन कर गुरुजी को बताने में उत्पन्न हुई और इस प्रकार अनायास भाषा-विज्ञान के साथ हम जुड़ते चले गए।

डा० वर्मा वास्तविक अर्थों में एक अनुशासित व्यक्ति थे। समय की पाबन्दी तो कोई उनसे सीखे। इस सन्दर्भ में स्मृति पटल पर एक घटना जीवन्त सी हो रही है। डा० वर्मा का शिष्यत्व ग्रहण किये अभी कुछ ही दिन हुये थे जब एक शाम मैं जम्मू के बाजार में नन्दा हाउस के पास एक दुकान से कपड़ा खरीद रहा था। अकस्मात् देखा मेरा दुकानदार कपड़ा नापना छोड़ अपनी घड़ी मिलाने लगा। जिज्ञासु दृष्टि से उसकी ओर देखा तो उसने

पीछे की ओर इशारा किया। पीछे मुड़कर देखा तो गुरुजी को हरि टाकीज के सामने से गुजरते पाया। दुकानदार ने बताया 'हमारी घड़ी तो यह मास्टर जी हैं। ये रोज शाम यहाँ से गुजरते हैं इसी समय, न एक मिन्ट आगे और न एक मिन्ट पीछे। हम सब बाजार वाले उनके आने के साथ अपनी घड़ी मिलाते हैं।' मन चमत्कृत हुआ, प्रभावित हुआ और मैंने भी समय का पाबन्द होने का गुरुमन्त्र उसी क्षण अपने गुरुजी से प्राप्त कर लिया। वर्मा जी के जम्मू छोड़ लाहौर चले जाने तथा बाद में वहाँ अध्यापन प्रारम्भ करने के कारण उनसे मेरा बहुत समय तक मिलना न हो सका। लगभग सत्रह वर्ष के दीर्घ अन्तराल के पश्चात् मैं उनसे मिलने दिल्ली उनके आवास पर जा पहुँचा। उस समय वे केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय के पारिभाषिक शब्दावली विभाग के प्रमुख सम्पादक के रूप में कार्यरत थे। मुझे यह भली भाँति ज्ञात था कि समय निर्धारित किये बिना वे किसी से मिलना पसन्द नहीं करते पर मेरे पास इसके लिए पर्याप्त समय नहीं था। इसी कारण बिना पूर्व सूचना के उनके दर्शनार्थ जा पहुँचा। मेरी प्रसन्नता की कोई सीमा न थी जब मेरे गुरुजी ने मुझे तुरन्त भीतर बुला लिया तथा तत्काल पहचान भी लिया। उससे भी बड़ी मेरे लिए गौरव की बात यह थी कि वे मेरे विषय में कहाँ हैं? क्या कर रहा हूँ? आदि भी जानते थे। बातों बातों में गुरुजी कह गए, 'इस सरस्वती मन्दिर में लोग नौकरी ढूँढ़ने चले आते हैं।' डा० साहब के वक्तव्य के सन्दर्भ में मुझे भी एक बात सूझ गई, मैं जानता था वे गालिब को बहुत मानते थे। इस महाकवि पर उन्होंने बहुत कुछ लिखा भी था। मैंने मौके का फायदा उठाते हुए कहा, 'वकौल गालिब दुनिया में दो ही ग़म हैं—ग़मे इश्क और दूसरा ग़मे रोजगार। जिन किस्मत के मारों को ग़मे इश्क नसीब नहीं, उनके लिए यही विकल्प शेष रह जाता है।' मुझे लगा बात कारगर साबित हुई है परन्तु उसी क्षण डाक्टर साहब की मुख मुद्रा पुनः गम्भीर हो उठी और वे बोले, 'तुम तो इस चक्कर में नहीं हो?' गनीमत थी, ऐसी कोई परेशानी नहीं थी।

जब डाक्टर वर्मा चण्डीगढ़ अपनी पुत्री के पास रह रहे थे, तब जम्मूवासी उनके प्राक्तन शिष्यों ने उनके अभिनन्दन की योजना बनाई। कई स्थानों पर अध्यापन करने पर भी डाक्टर वर्मा का अधिकांश समय—1915 से 1943—जम्मू में ही अध्यापन तथा अनुसन्धान करते बीता। जम्मू के प्रति उन्हें एक असाधारण लगाव था और जम्मूवासियों को उनके लिए सम्मान तथा प्यार दोनों था। अभिनन्दन समारोह की अध्यक्षता के लिए तीन नामों की तालिका प्रस्तुत की गई—पंजाब के तत्कालीन राज्यपाल, पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ के उपकुलपति तथा मैं, जो उस समय पंजाब विश्वविद्यालय में डीन ऑफ आर्ट्स फैकल्टी था। यह तालिका जब डा० सिद्धेश्वर वर्मा के पास पहुँची तो उन्होंने मेरे नाम का अनुमोदन यह कहते हुए तत्काल कर दिया कि 'यह मेरा पुराना छात्र है। अतः यह अधिकार उसी का है कि वह मेरे अभिनन्दन समारोह की अध्यक्षता करे।' यह जान कर मैं धन्य हो गया, गद्गद हो गया। राज्यपाल अथवा कुलपति का पद अथवा मेरा डीन होना कोई मायने नहीं रखता,

अगर महत्त्व था तो उनका विद्यार्थी होने का। विद्यार्थी तो गुरु को सम्मानित करते हैं, समादृत करने को सदा प्रस्तुत रहते हैं परन्तु ऐसे गुरु कहाँ मिलेंगे जो अपने शिष्य को गौरव प्रदान कर सन्तुष्ट हों, तृप्त हों। मैं ऐसा ही एक सौभाग्यवान् शिष्य रहा और वर्मा साहब ऐसे मेरे अनुकरणीय गुरु रहे जिन्होंने शिष्य को गौरव प्रदान किया। द्रोणाचार्य का एकलव्य से अंगूठा लेना या लेने का प्रयास करना तो आज सामान्य बात है पर गुरु का शिष्य को स्वीकृति देना, उसे आत्मीयता प्रदान करना सामान्यतया देखा नहीं जाता। वह सौभाग्य मुझे मिला।

ऐसे अपने आदरणीय, अनुकरणीय गुरुवर से मेरी अन्तिम भेंट 1982 में हुई जब जम्मू विश्वविद्यालय ने उन्हें डी० लिट० की उपाधि से सम्मानित किया। उन गुरुवर की स्मृति में मेरा सादर नमन।

मैं एम०ए० संस्कृत कर रहा था तब मुझे जीवन के दूसरे अनुकरणीय गुरु के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ— वे थे प्रोफेसर गौरीशंकर जी। यद्यपि गौरीशंकर जी गवर्नमेन्ट कालिज में थे और मैं सनातन धर्म कालिज का छात्र था तथापि तत्कालीन नियम के तहत स्नातकोत्तर कक्षाओं को अन्य संस्थाओं के अध्यापक भी पढ़ाया करते थे। उसी कारण मुझे कुछ समय के लिए गौरीशंकर जी का शिष्यत्व ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। हम दोनों का सम्पर्क ही जम्मू से था अतः हम गुरु-शिष्य को निकट आने में देर नहीं लगी। ज्यों ज्यों मैं उनके निकट आता गया उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होता गया। विद्यार्थियों के लिए उनके मन में जो तड़फ थी, जो कल्याण-कामना थी उससे मैं चमत्कृत हुए बिना नहीं रह सका। इस सन्दर्भ में मुझे एक घटना याद आ रही है। एम०ए० के पाठ्य से सम्बन्धित एक पुस्तक बाजार में अनुपलब्ध हो गई। उसकी खोज में मैं कई दिनों तक दर-दर भटकता रहा। परीक्षा सिर पर थी। अन्ततः एक दिन अत्यधिक संकोच के साथ अपनी असुविधा की चर्चा गुरुजी से की। उन्होंने मेरी बात सुन तो ली परन्तु आश्वासन देना तो दूर, कोई प्रतिक्रिया तक व्यक्त नहीं की। मैं हताश हो गया। अगले दिन उन्होंने कक्षा में से मुझे बाहर बुलवाया और मेरी अभीष्ट पुस्तक मेरे हाथों में थमा दी। मेरे आश्चर्य और प्रसन्नता की कोई सीमा न थी। अपनी व्यस्तता के चलते मेरी बात को याद रखना और अगले ही दिन पुस्तक लाकर देना विद्यार्थियों के प्रति उनके दायित्व बोध को ही द्योतित कर रहा था।

प्रोफेसर साहब ने व्यापक रूप से देश तथा विदेश का भ्रमण भी किया हुआ था। वे आक्सफोर्ड के स्नातक थे और अनेक विद्वज्जनों के साथ उनका स्नेह सम्पर्क था फिर भी अपने देश, अपनी परम्पराओं, अपनी संस्कृति से उन्हें अत्यधिक प्यार था, उसके प्रति मन में सम्मान था। उनके मन में सुदृढ़ धारणा थी कि सिर पर पगड़ी धारण करना भारतीयता का प्रतीक है और इसी कारण वे सदैव सफेद पगड़ी धारण करते थे। चालीस के दशक में लाहौर में पगड़ी-धारियों ने धीरे धीरे पगड़ी छोड़नी प्रारम्भ कर दी थी। एम०ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करके मैं सनातन धर्म कालिज में प्राध्यापक हो गया था। प्रारम्भ में मैं भी गुरुजी से

प्रभावित हो पगड़ी बांधता रहा परन्तु धीरे धीरे जमाने की हवा ने मुझे भी प्रभावित किया और एक दिन मैंने पगड़ी को अपने सिर से, अपने जीवन से विदा कर दी तथा अंग्रेजी वेश-भूषा धारण करने लगा। उसी अवधि में एक दिन जब मैं वहाँ के प्रसिद्ध अनारकली बाजार से गुजर रहा था, मैंने दूर से गुरुजी को आते देखा। अपने वेश-भूषा-परिवर्तन के कारण मैं मन ही मन लज्जा तथा संकोच का अनुभव करने लगा तथा गुरुजी की नजर बचाने के लिए झट से पास की एक तंग गली में घुस गया। मेरे संकोच तथा आश्चर्य की कोई सीमा न रही जब कुछ ही क्षणों के पश्चात् पीछे से आकर उन्होंने मेरा हाथ पकड़ लिया तथा आत्मीयता भरे उलाहने के साथ बोले, 'अरे भाई, कितनी अजीब बात है कि तुमने भी मेरी पगड़ी-बिरादरी को छोड़ दिया। तुम मुझे बिरादरी से अलग करना चाहते हो क्या?' मैं उनके मजाकिया स्वभाव से तो परिचित था ही और समझ गया कि वे अपने इस पुरातन शिष्य के साथ चुहलबाजी कर रहे हैं अतः मैंने भी इसी दौर में कह दिया, "माफ कीजिए सर। मैं आपकी बिरादरी कैसे छोड़ सकता हूँ? क्या आपने ध्यान नहीं दिया कि अपने को ही अलग करने की गरज से इस तंग गली में घुस कर खुद को छुपा रहा था।" फिर तो वे खुलकर हंस पड़े। ऐसे थे मेरे गुरु जो गम्भीरता के समय गम्भीर और हास-परिहास के समय विनोदी। खैर, इतना अवश्य स्पष्ट कर दूँ कि मेरे गुरुजी ने अन्त तक पगड़ी धारण करना छोड़ा नहीं।

पी०इ०एस० आफिसर के रूप में प्रो० गौरीशंकर अनेकों पद धारण करते रहे और अन्त में धर्मशाला (हिमाचल प्रदेश) में गवर्नमेन्ट कालिज के प्राचार्य पद से सेवानिवृत्त हुए परन्तु यहीं उनकी क्रियाशीलता का अवसान नहीं हुआ। उन्हीं दिनों कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय अस्तित्व में आ रहा था। प्रोफेसर गौरीशंकर को उनकी योग्यता तथा कार्यकुशलता के कारण विश्वविद्यालय के 'आफिसर ऑन स्पेशल ड्यूटी' का दायित्व सौंपा गया जिसे उन्होंने न केवल स्वीकार किया वरन् बखूबी उसे निभाया भी। वस्तुतः कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय की नींव में मेरे गुरुजी का जो खून-पसीना लगा उसे भुलाया नहीं जा सकता है। ऐसे गुरु को मेरा शत शत नमन।



लेखक परिचय

मीरपुर पाक अधिकृत जम्मू कश्मीर का एक ऐसा जिला स्तरीय नगर था जो वहाँ बांध बन जाने से मंगलाघाटी के सागर में जलसमाधि ले चुका है तथा संसार के मानचित्र से विलुप्त हो गया है। वहीं पर कन्जर्वेटर आफिसर श्री करम चन्द के पुत्र संसारचन्द्र जी का जन्म 28 अगस्त 1917 को हुआ। उनकी माता का नाम श्रीमती करमदेवी था। संसार चन्द्र जी ने संस्कृत तथा हिन्दी में

एम.ए., संस्कृत में पीएच.डी. तथा डी. लिट् की उपाधि प्राप्त की। लाहौर के सनातन धर्म कालिज से संस्कृत में 1945 में एम.ए. करते ही उनकी नियुक्ति वहीं हो गई थी जहाँ देश विभाजन तक उन्होंने अध्यापन किया। तदनन्तर उसी कालिज के अम्बाला छावनी में स्थानान्तरित हो जाने पर 1963 की जनवरी तक उन्होंने संस्कृत हिन्दी विभाग में पहले प्रवक्ता तथा कालान्तर में प्रोन्नत होकर स्नातकोत्तर विभाग में अध्यक्ष पद पर कार्य किया। इसके पश्चात् जम्मू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग की अध्यक्षता करते हुए उसी के अन्तर्गत पंजाबी भाषा विभाग खोला एवं दस वर्षों तक अध्यक्ष पद पर बने रहे। तदनन्तर वे पंजाब विश्वविद्यालय में 1982 तक अनेक सम्मानित पदों यथा कला संकाय में रीडर, डीन, हिन्दी विभाग के प्रोफेसर तथा पंजाबी विभाग में अध्यक्ष रूप में कार्यरत रहे।

डा० संसार चन्द्र बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं तथा भी उनका रचना संसार जितना विविध उतना व्यापक भी है। उन्होंने संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, पंजाबी तथा डोगरी माध्यम से व्याकरण, काव्यशास्त्र, छन्दशास्त्र, जीवनियां, हास्यरस, समीक्षात्मक अध्ययन तथा समालोचनात्मक संस्करण आदि से सम्बन्धित लगभग 45 पुस्तकों की रचना की है। संस्कृत में मेघदूत, नागानन्द, स्वप्नवासवदत्त, मालविकाग्निमित्र, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, मध्यमव्यायोग आदि के समीक्षात्मक संस्करणों के अतिरिक्त समय समय पर पंजाब विश्वविद्यालय की विविध कक्षाओं के लिए पाठ्य-पुस्तक, विद्यार्थियों के लिये व्याकरण-ग्रन्थ आदि की रचना की जिनमें संस्कृत व्याकरण प्रबोध तथा मनोहर संस्कृत व्याकरण प्रसिद्ध हैं। समालोचनात्मक ग्रन्थों में उल्लेखनीय हैं 'भारतीय समीक्षा-परम्परा और प्रवृत्ति', 'अन्योक्ति', 'आकलन और समीक्षा', 'साहित्य-अनुभूति विवेचन' आदि। 'छन्दोलंकार प्रदीप' जहां छन्दशास्त्रीय रचना है वहीं उनकी हास्य-रचनाएं विशेष उल्लेख योग्य हैं जिनमें सटक सीताराम, सोने के दांत, अपनी डाली के कांटें, बातें ये झूठी हैं, गंगा जब उल्टी बहे, विदूषक की याद में, लाख रुपए की बात और महामूर्ख मण्डल प्रसिद्ध हैं। 'बहादुर शाह जफर' तथा 'भारत के आदर्श महापुरुष' उनकी जीवनी परक रचनाएं हैं। 'संस्कृत पथप्रवाह' उनकी बच्चों के लिए संस्कृत की पुस्तक है।

विविध भाषाविद् संसार चन्द्र जी की पंजाबी भाषा की रचनाएँ हैं 'बूर दे लड्डू, 'चाहकर लकेरां दा' तो डोगरी रचना है 'तूलों दा घाट'। अंग्रेजी में उनकी कृतियाँ हैं 'Some Prominent Muslim Hindi Poets' तथा 'Unforgettable Faces.'। संसार चन्द्र जी के प्रतिष्ठित शोध जर्नलों में समय समय पर अनेक शोध पत्र प्रकाशित होते रहते हैं यथा 'अलंकारमूल मनोवैज्ञानिक पक्ष', 'अलंकार और समाज मनोविज्ञान', हास्य व्यंग्य-विकास एवं उपलब्धि मूल्यांकन', 'भारतीय संस्कृति और राम', 'पंजाब का रीति साहित्य-परम्परा, परिवेश तथा परिचय' आदि। आप अंग्रेजी, उर्दू, हिन्दी, पंजाबी, डोगरी के प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में नियमित रूप से संस्कृति, समाज, शिक्षा तथा साहित्य आदि

विविध विषयों पर लिखते रहते हैं। अब तक आप 13 डि० लिट्, 78 पीएच.डी. तथा 32 एम०फिल के विद्यार्थियों का मार्गदर्शन कर चुके हैं।

अपनी साहित्य-साधना के परिणाम स्वरूप आपको अनेक पुरस्कार, सम्मान तथा उपाधियों से समय समय पर अलंकृत किया गया है। उनमें उल्लेखनीय हैं— हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग (1998) द्वारा 'विद्या वाचस्पति', पंजाब सरकार द्वारा 'शिरोमणि साहित्यकार', रंगायन बम्बई द्वारा 'चक्रस' की उपाधियाँ और 'आकलन और समीक्षा' पर केन्द्र सरकार तथा उत्तर प्रदेश सरकार, 'हिन्दी काव्य में अन्योक्ति' पर उत्तर प्रदेश सरकार तथा पंजाब सरकार, 'संक्षिप्त बिहारी' पर चण्डीगढ़ सरकार, 'अपनी डाली के कांटे पर' हरियाणा सरकार, 'बातें ये झूठी हैं' पर जम्मू-कश्मीर सरकार तथा 'महामूर्ख मण्डल' पर हरियाणा सरकार द्वारा पुरस्कार प्रदान किये गए हैं।



मेरे अनुकरणीय गुरु

पद्मश्री चिरंजीत

गुरु शब्द विद्या देने वाले, शिक्षा देने वाले शिक्षक के लिए रूढ हो गया है जबकि गुरु का अर्थ इससे कुछ अधिक है। जीवन की उत्प्रेरक शक्ति को गुरु का नाम दिया जाना चाहिए। मेरे जीवन में इस प्रकार की उत्प्रेरक शक्ति मेरे गुरु एकाधिक हैं जिनका क्रमशः स्मरण करना ही उचित होगा।

मेरे जीवन की पहली गुरु मेरी माता जी श्रीमती लक्ष्मी देवी हैं। वे अधिक पढ़ी लिखी तो नहीं थीं परन्तु उनकी विचार-शक्ति स्पष्ट थी। कट्टर आर्यसमाज परिवार की होने के कारण जहाँ अनुशासन-प्रियता उनके व्यक्तित्व का एक प्रमुख अंग था वहीं वे नित्य भागवत तथा गीता का पाठ करती थीं। पाठ्य पुस्तक से बाहर उनका ज्ञान बहुत विस्तृत था। हम पंजाबी हैं, इतना हम सभी जानते थे परन्तु माँ ने हमारे मन में हमारे पूर्वजों के प्रति गौरव-भाव भरते हुए बताया था 'हम मूलतः राजस्थान-जोधपुर के थे। जब वहाँ के महाराजा ने अंग्रेजों की आधीनता स्वीकार कर ली तो मेरे पूर्वजों ने इस असम्मानजनक स्थिति में जीना स्वीकार नहीं किया। वे, जो वहाँ कछवाहा सैनिक के नाम से जाने जाते थे, जोधपुर छोड़कर पंजाब आ गए महाराजा रणजीत सिंह की फौज में। कछवाहा के स्थान पर कुछ लोग अपने नाम के साथ कश्यप लगाने लगे।' यह सारा ज्ञान बचपन में बातों बातों में माँ ने दिया और साथ ही दिया अंग्रेजी साम्राज्य के प्रति विरोध और देश मातृका की स्वाधीनता के लिये ललक। मेरे जीवन का दिशा-निर्देश करने का पूर्ण श्रेयः भी उन्हीं को जाता है। हम पंजाब के हो गये थे, फिर बरेली आ गए। लोग चिढ़ाते 'पंजाबी जैसी हिन्दी बोलते हो।' माँ ने समझाया 'हिन्दी वह महान् भाषा है जिसे गुजराती, मराठी, बंगाली, दाक्षिणात्य सब अपनी अपनी भाषा के लहजे में बोलते हैं, बोल सकते हैं। एक बात और, आज जो हिन्दी हम सब बोलते हैं, पढ़ते हैं, उसका जन्मस्थान तो पंजाब ही है।'

ज्ञान के साथ मेरी माता की मुझको सबसे बड़ी देन है मेरे बहुत बचपन से ही संगीत और साहित्य में रुचि पनपाना और संगीत की शिक्षा देना। कबीर के दोहे या ऐसी ही चीजें वे गाती थीं और मुझसे भी गवाती थीं। मेरे गाने में नाम होता चला गया। स्कूल जाने लगा तो अच्छे गायक के रूप में स्कूल में प्रसिद्ध हो गया। आगे जीवन में संगीत से जुड़ा और जिस साहित्य और नाटक से जुड़ा उसके पीछे भी अप्रत्यक्ष रूप से माँ की प्रेरणा ही रही पर संगीत का तो सीधा प्रशिक्षण उन्हीं से मिला था। अपनी माता के विषय में एक और बात कहना चाहूंगा। तत्कालीन सामाजिक और पारिवारिक मान्यता और परम्परा के

अनुसार अभी नौवीं में पढ़ता था कि मेरी शादी हो गई। इस शादी में माँ का भी समर्थन था पर जल्दी ही उन्हें लगा कि इससे मेरे भविष्य की उन्नति और शिक्षा का मार्ग अवरुद्ध हो जाएगा। तभी अपनी गलती को धोने के लिए उन्होंने मेरे दसवीं कक्षा पास करते ही सबकी आपत्ति के बावजूद मुझे हिन्दू कालिज अमृतसर में दाखिल करवाया और इस तरह मेरे आगे पढ़ने का रास्ता साफ किया।

जब मैं अमृतसर पढ़ने गया तब फैज अहमद फैज बड़े प्रसिद्ध शायर वहीं रहते थे। उनसे प्रभावित तो हुआ परन्तु गुरु नहीं मान सका। गुरु तो मुझे वहीं बैठे बिठाये मिल गये। उस समय लाहौर यूनिवर्सिटी में एक स्वरचित कविता प्रतियोगिता का आयोजन किया गया था। कविता तो बचपन से ही लिखनी शुरू कर दी थी और हिन्दू कालिज में पढ़ते समय मैं कविरूप में काफी मशहूर हो गया था। पंजाबी होते हुए भी मेरा हिन्दी में गीत और कविता लिखना अचरज की बात मानी जाती थी। उस कविता प्रतियोगिता में मैं प्रथम आया। निर्णायकों में पं० उदयशंकर भट्ट थे। वे संस्कृत के शास्त्री थे। उनकी शिक्षा काशी में हुई थी। हिन्दी में भी एम०ए० थे। स्वयं महान् लेखक थे परन्तु उसके अतिरिक्त भी उनका महान् योगदान था हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए। उन दिनों पंजाब में हिन्दी की रतन, भूषण तथा प्रभाकर की परीक्षाएं आयोजित की जाती थीं। पूरे देश, विशेषकर उत्तर भारत में ये परीक्षाएँ बहुत प्रचलित हुईं और इस प्रकार हिन्दी भाषा को लोकप्रिय बनाने, उसका प्रचार-प्रसार करने की इस योजना के पीछे प्रेरणा थे पं० उदयशंकर भट्ट और श्री हरिकृष्ण प्रेमी। खैर बात चल रही थी मेरी कविता प्रतियोगिता में प्रथम आने की। निर्णय की घोषणा के बाद भट्ट जी ने मुझे अपने पास बुलाया और कहा, 'तुम आज रात अमृतसर मत लौटो। मेरे पास रहो।' यह मेरी खुशकिस्मती थी। मैं वहीं रहा। उन्होंने मुझे समझाया, 'तुम्हारे पास भाषा है, विचार हैं, भाव हैं, पर शिल्प नहीं है।' मैं गाने वाला था। समझ गया मेरे लय-छन्द में अशुद्धि थी। उन्होंने समझाया, 'हमारा दुर्भाग्य है कि हम शिल्प पर जोर नहीं देते हैं। कोई बच्चों को मात्रिक छन्द सिखाता नहीं है।' और इस पहले पाठ से मैं समझ गया छन्द की महत्ता, मैं जान गया कवि के लिये मात्रिक छन्दों की बारीकियों का जानना कितना जरूरी होता है। उनसे मैंने जाना कि साहित्य पढ़ते हैं पढ़ाते हैं पर विश्वविद्यालयों से छन्दशास्त्र उड़ा दिया गया है। संगीत के क्षेत्र में जिस तरह लय, सुर, ताल के बिना कोई गायक या वादक नहीं बन सकता है, उसी तरह कवि बनने के लिये छन्द का ज्ञान आवश्यक है। और मैं आज भी यह देखकर हैरान होता हूँ कि नई पीढ़ी के विद्यार्थियों को छन्द का परिचय तक नहीं दिया जाता है। महाकवि निराला छन्दशास्त्र के बहुत बड़े ज्ञाता थे। जूही की कली उन्होंने मुझे गाकर सुनाई। लोग गलत कहते हैं कि वह छन्दोबद्ध नहीं है। और इस तरह मुझे श्री उदयशंकर भट्ट के रूप में साहित्यिक गुरु मिल गए। उन्होंने मेरे भीतर की कवित्व शक्ति को पहचाना, मेरी कविताओं को देखा, काट छांट की। मात्रिक और वार्णिक छन्द के अन्तर को समझाया। उनका कहना



था 'मात्रिक छन्द खड़ी बोली हिन्दी और देवनागरी लिपि के अनुकूल है।' उनका उपदेश था, 'शुद्ध उच्चारण करो। छन्द के अन्त में भी गुरु को लघु मत बनाओ। हलन्त को हलन्त रखो।' उनके कहने पर ही मैंने छन्द की साधना की। उनके उपदेशों पर चला। मेरे कवि बनने के पीछे उनका बहुत बड़ा हाथ रहा है।

उदयशंकर जी कविता के ही नहीं, नाटक के भी गुरु हैं। मैं उन्हें हिन्दी का प्रथम एकांकीकार मानता हूँ यद्यपि इतिहास रामकुमार वर्मा को यह सम्मान देता है। वस्तुतः भट्ट जी की एकांकी पहले मंचित हुई, छपी बाद में जबकि वर्मा जी की पहले छप गई।

मेरे नाटककार बनने के पीछे गुरु को याद करते हुए याद आता है मेरे बचपन में पारसी नाटक का प्रचलन था। मेरे पिताजी और भाई नाटक देखने के शौकीन थे। मैं भी स्कूल जीवन से उन नाटकों को देखता था। वे पूरी तरह व्यावसायिक नाटक थे, टिकट लगता पर जनता तक सम्प्रेषित होता था। भट्ट जी भी मानते थे कि नाटक पाठ्य पुस्तकों के लिये नहीं होता। जो नाटक नाटककार को रोटी रोजी नहीं दे सकता वह नाटक नहीं।' खैर 1940 में मैं दिल्ली आ गया। तब तक मैं गीतकार, कवि और अभिनेता ही बना था। भट्ट जी के सम्पर्क से मन में बीज पड़ चुका था कि नाटक केवल लिखने के लिये नहीं होते हैं। मंचित और अभिनीत होना उनका असली उद्देश्य है। आल इण्डिया रेडियो की 1936 में स्थापना हो चुकी थी। 1941-42 में मैं नाटक-कलाकार के रूप में आल इण्डिया रेडियो से जुड़ा। अभिनय करते हुए रेडियो नाटक का तन्त्र सीखा। भट्ट जी द्वारा डाले गए बीज को अंकुरित होने, पनपने का मौका मिलता गया और मैं रेडियो नाटक लिखने लगा।

मेरे नाटकों में 'घुन्नु मुन्नु पुष्पा' जो बच्चों का नाटक था, बहुत पसन्द किया गया। सबसे अधिक सफलता इसमें मिली। उन्हीं दिनों मुझे अपने अगले गुरु मिले आदरणीय मामा वरेरकर। वे पहले बम्बई की आकाशवाणी में मराठी नाटककार के रूप में कार्य कर चुके थे, उन दिनों दिल्ली आ गए थे। वयोवृद्ध वरेरकर जी सांसद बन गए थे, अकेले रहते थे, आयु परिपक्व थी परन्तु उनका नाटकों के लिए प्यार, शौक, रुचि कुछ भी तो कम नहीं हुआ था। शुरु शुरु में उन्होंने मेरे रेडियो नाटक सुने, उनमें रुचि ली और फिर मुझे अपने पास बुलाया। दिशा निर्देश दिया। रेडियो नाटक का शास्त्रीय स्वरूप उन्होंने ही मुझे समझाया—'नाटक में अन्वितित्रय होता है परन्तु लोकनाटक के समान रेडियो नाटक में भी अन्वितित्रय नहीं चलता है। विशेषकर कालान्विति और स्थानान्विति का नियम उसमें लागू नहीं होता है। कथा प्रवाह अबाध गति से चलता है, उसमें एक मुक्तता होती है। मंचीय नाटक में अन्वितित्रय आदि के कारण जो कृत्रिमता आ जाती है, रेडियो नाटक में वह बनावटीपन नहीं होता है।' उन दिनों वे प्रधानमंत्री पं० जवाहर लाल नेहरू के निवास त्रिमूर्ति के पास ही रहते थे। कितनी भी देर रात हो, वे मेरे रेडियो नाटक जरूर सुनते थे और सुबह सुबह ही मुझे बुलवा भेजते थे और मेरे नाटक की अच्छाई-बुराई की चर्चा करते थे। इस प्रकार

रेडियो नाटक के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर विशेषता समझाते थे। स्वाभाविक है कि मेरे भीतर के नाटककार को संवारने, सुधारने का, काटने, तराशने का काम उन्होंने किया। इसी लिए मैं उन्हें भी अपना गुरु मानता हूँ।

मेरे जीवन का एक पक्ष मेरे पत्रकार का भी है। उस क्षेत्र में मेरे पथ प्रदर्शक मेरे एक अन्य गुरु हैं। उस गुरु तक पहुँचने की घटना भी बहुत अद्भुत थी। उन दिनों अर्थात् 1946 को मैं आल इण्डिया रेडियो में हिन्दी सलाहकार के पद पर कार्यरत था। उन्हीं दिनों राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन के नाम से हिन्दी आन्दोलन चल रहा था। मैंने अपनी भावुकता के चलते जल्दबाजी में एक गलत निर्णय ले लिया और उस सरकारी नौकरी से त्याग पत्र दे बैठा। पूरे परिवार की जिम्मेदारी मेरे कंधों पर और मैं बेरोजगार। ऐसी स्थिति में मेरे स्नेही जैनेन्द्र कुमार जी ने मेरी खोज करवाई। हिन्दी ज्ञाता के साथ, गायक, कवि, नाटककार के रूप में मेरा नाम हो चुका था, मान सम्मान था। सो जैनेन्द्र जी मुझे साथ लेकर अपने मित्र श्री इन्द्र विद्यावाचस्पतिजी के पास गए तथा मेरी स्थिति से उनको अवगत करवाया। गुरुकुल कांगड़ी के संस्थापक स्वामी श्रद्धानन्द के सुपुत्र श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति जाने माने पत्रकार थे, उनका 'दैनिक वीर अर्जुन' और 'साप्ताहिक साहित्यिक वीर अर्जुन' सुप्रसिद्ध पत्र थे। उन्होंने सबसे पहले मेरे त्याग पत्र देने को गलत निर्णय बताया और फिर मुझे अपने पत्र में नौकरी दे दी। उस समय मुझे थोड़ी बहुत पत्रकारिता उन्होंने ही सिखाई। पहले तो उन्होंने मुझे अनुवाद का काम दिया पर जल्दी ही मेरी साहित्यिक रुचि कों देखते हुए उन्होंने साप्ताहिक वीर अर्जुन का सहायक सम्पादक बना दिया और मेरा पत्रकार बनना उनके हाथों शुरू हो गया। वे पहले अपना सम्पादकीय मुझे सुनाते फिर मेरा सम्पादकीय सुनते। उसकी खामियां बताते और संशोधन करते, तभी तो उन्हें अपना गुरु मानने में मुझे कोई दुविधा नहीं।

इस प्रकार मैंने जो कुछ किया, जो उपलब्धि हुई, जो अपनी पहचान बनाई उसकी उत्प्रेरक शक्ति मेरे ये गुरुजन थे। उन्हें मेरा सादर नमन।



लेखक परिचय

वाणी का आराधन करके किया शब्द-शब्द को अमृत।

श्रद्धा के चिरकेन्द्र बने हो, दिया जगत् को अक्षर अमृत॥

डा० योगेन्द्रनाथ शर्मा 'अरुण' ने शब्द-शब्द को अमृत बनाने वाले, श्रद्धा के चिर केन्द्र तथा जगत् को अक्षर अमृत देने वाले जिन वाणी के आराधक का अभिनन्दन किया है, वे हैं प्रख्यात कवि, गीतकार, राष्ट्रीय नाटककार तथा निर्भीक पत्रकार पद्मश्री

चिरंजीव जी।

चिरंजीत जी के पूर्वज मूलतः राजस्थान के रहने वाले थे। उनके पिता के प्रपितामह ठाकुर जोधा सिंह कछवाहा जोधपुर रियासत की सेना को छोड़कर, अंग्रेज कम्पनी की दासता से मुंह मोड़कर लाहौर आकर महाराज रणजीत सिंह की सेना में भर्ती हो गए थे तथा वहीं अंग्रेजों के साथ युद्ध करते हुए वीरगति को प्राप्त हुए। ऐसी राष्ट्रीयता और देश भक्ति के संस्कारों से संस्कारित चिरंजीत जी का जन्म 18 दिसम्बर 1919 को हुआ। लाहौर में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त माता की प्रेरणा और सहयोग से वे अमृतसर गए तथा वहां के हिन्दू कालिज से बी०ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की।

चिरंजीत जी का जीवन संघर्षों से प्रारम्भ हुआ था। 1941 से 1944 तक उन्होंने क्लर्की तथा पत्रकारिता की फिर रेडियो लेखन से जुड़े रहे। 1945-46 में वे आल इंडिया रेडियो दिल्ली में हिन्दी-सलाहकार बने। आदर्शवादिता के चलते सरकारी नौकरी से त्याग पत्र देकर 1946 से 1950 तक वे इन्द्र विद्यावाचस्पति के पास 'साप्ताहिक वीर अर्जुन' और 'मासिक मनोरंजन' के सम्पादन में संलग्न रहे। 1950 से 1952 तक आल इण्डिया रेडियो के विदेश प्रसारण विभाग में नाटककार रहे फिर 1952-53 में साप्ताहिक जनसत्ता के सम्पादक पद पर कार्य किया। 1954 से 1979 तक की अवधि में आप नाटककार के पद से उन्नति करते हुए आकाशवाणी के दिल्ली स्थित महानिदेशालय के केन्द्रीय नाटक-विभाग के चीफ प्रोड्यूसर के सर्वोच्च पद पर पहुँचे तथा वहीं पर ससम्मान कार्य करते हुए दिसम्बर 1979 को सेवा-निवृत्त हुए। 1980 से उन्होंने अपने मासिक 'सर्वप्रिय' का सम्पादन-प्रकाशन प्रारम्भ किया जो वर्तमान समय में स्थगित है। इस पूरे समय में उनका स्वतन्त्र लेखन अविरत चलता ही रहा है। बहु आयामी व्यक्तित्व के स्वामी चिरंजीत जी का साहित्यिक कृतित्व अनेक रूपों में अभिव्यक्ति पाता है फिर भी उनकी सरस्वती-उपासना तो कविता और गीत रचना से ही प्रारम्भ हुई थी। अतः सर्वप्रथम उनके काव्य संकलनों का नामोल्लेख करना उचित है। इनमें उनकी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं चिलमन, मधु की रात और जिन्दगी, मुक्ति दिवस मुस्काया, कहे पैरोडीदास (हास्य-व्यंग्य)। बच्चों के लिए उनकी काव्य-रचनाएँ हैं- बच्चों गाओ गीत, नटखट के गीत, राजा-रानी की कहानी, मुनिया भेड़ों वाली। उनकी एक उल्लेखनीय रचना है- गजल-दोहा-संग्रह- 'तुम्हारी नगरी में'।

'राष्ट्रीय नाटककार' की उपाधि से शोभित तथा हिन्दी रेडियो नाटकों के 'भीष्मपितामह' कहलाने वाले चिरंजीत के पूर्णाकार नाटक हैं- ढोल की पोल, आधी रात का सूरज, मन्दिर की जोत, दादी माँ जागी, तस्वीर उसकी, रतजगा, घेराव, अभिमन्यु चक्रव्यूह में आदि। एकांकी संग्रहों में उल्लेखनीय हैं- पांच प्रहसन, मन्दिर की जोत, हास्य मंच (तीन भाग), सात युवमंच नाटक, देशभक्ति के नाटक, चुन्नू-मून्नू पुष्पा (दो भाग-बालोपयोगी), मेरे प्रतिनिधि रेडियो नाटक (तीन भाग)। किशोरोपयोगी एकांकी है 'धरती के लाल' आदि। आकाशवाणी द्वारा प्रचारित-प्रसारित एवं दूरदर्शन द्वारा प्रदर्शित नाटकों और धारावाहिकों

से आपको अतुलनीय लोकप्रियता प्राप्त हुई। 1965 तथा 1971 के भारत-पाक युद्ध के समय आकाशवाणी से धारावाहिक रूप में प्रसारित 'ढोल की पोल' नामक व्यंग्य नाटक तथा 1984 में दूरदर्शन से धारावाहिक रूप में प्रसारित-प्रदर्शित 'दादी मां जागी' की लोकप्रियता तो अकल्पनीय ही रही। 'दादी मां जागी' के कारण आपको धारावाहिक-विधा का पुरोधा माना जाता है।

गीतकार, नाटककार चिरंजीत के उपन्यास हैं, महाश्वेता, मास्टर सिलबिल, कहानी एक कमला की, सिलबिल की सिलबिलाहट आदि।

अपनी साधना के कारण समय समय पर आपको अनेक उपाधियों से सम्मानित किया गया यथा 1972 में राष्ट्रपति द्वारा पद्मश्री, 1982 में तीन वर्ष के लिए प्रोड्यूसर एमेरिटस-आकाशवाणी एवं दूरदर्शन, 1984 में 'प्रसारण गौरव' (अखिल भारतीय आकाशवाणी कलाकार संघ), 1988 में 'राष्ट्रीय नाटककार चिरंजीत' (आचार्य क्षेमचन्द्र सुमन द्वारा सम्पादित अभिनन्दन ग्रन्थ) 1990 में 'साहित्य-महोपाध्याय' (हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग), 1990 में 'साहित्य वागीश' (भारतीय साहित्य संगम, दिल्ली), 1993 में साहित्य वाचस्पति (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)।

आपको प्राप्त पुरस्कारों में उल्लेखनीय हैं दिल्ली हिन्दी अकादमी का वरिष्ठ साहित्यकार पुरस्कार (1984), गिरधारी लाल सराफ 'ठिठोली पुरस्कार' (1984), दिल्ली हिंदी अकादमी का श्रेष्ठकृति-पुरस्कार नाटक 'दादी मां जागी' के लिए (1986), पंजाब सरकार का 'शिरोमणि हिन्दी-साहित्यकार पुरस्कार' (1994)।



मेरे चिरस्मरणीय गुरु

श्री समीर बैनर्जी

आज अपने अनुकरणीय गुरुजनों को स्मरण करते हुए जब अपने सुदूर अतीत की ओर नजर डालता हूँ तो लगता है कि मेरा जीवन तीन धाराओं में बंटा हुआ है— पहला मेरा विद्यार्थी जीवन, दूसरा आध्यात्मिक और तीसरा मेरा कलाकार—अभिनेता का जीवन। इन तीनों के प्रेरणा—पुंज, मेरे आदर्श, मेरे अनुकरणीय और संस्मरणीय हैं मेरे गुरुजन। इन तीनों क्षेत्र से सम्बन्धित गुरुजनों को कालक्रम से स्मरण करना ही उचित होगा।

कान्यकुब्ज इन्टर मीडिएट कालिज, लखनऊ में कक्षा सात का विद्यार्थी था। श्री टी०पी० मुखर्जी हमारे ड्राइंग मास्टर जी थे। उस समय संस्कृत और साइंस न लेने वाले विद्यार्थियों के लिए ड्राइंग अनिवार्य विषय था। मुखर्जी साहब ने सातवीं से दसवीं तक हमें ड्राइंग पढ़ाया। उनका पढ़ाना, उनका सिखाना और उनका व्यवहार—तीनों इतना अच्छा, इतना प्रेरणाप्रद था कि तभी से मेरे मन में ड्राइंग ने अपनी एक विशिष्ट जगह बना ली और उसी का परिणाम हुआ कि 1936-37 में मैट्रिक की परीक्षा पास करते ही, घरवालों के विरोध एवं नाराज़गी के चलते भी मैंने गवर्नमेन्ट आर्ट कालिज, लखनऊ के फाइन आर्ट्स विभाग में दाखिला लेने के लिए फार्म भर दिया और परीक्षा भी दे डाली। स्कूल के गुरु मुखर्जी साहब की शिक्षा का परिणाम था कि उस प्रवेश—परीक्षा में मैं प्रथम आया और मेरा प्रवेश हो गया। मेरे एक अग्रज तुल्य सज्जन के कहने से मैं कमर्शियल आर्ट में दाखिला लेने को तैयार हो गया परन्तु यह कार्य कर सकते थे आर्ट कालिज के प्राचार्य। उस समय प्राचार्य और कोई नहीं, बल्कि वे थे श्री असितकुमार हालदार। असितकुमार हालदार उस समय एक सुपरिचित नाम था। महान् कलाकार स्व० अवनीन्द्रनाथ के निकटस्थ दो शिष्यों—नन्दलाल बोस तथा असितकुमार हालदार में से वे एक थे। अजन्ता एलोरा को विश्वविख्यात बनाने में प्रधान भूमिका इन दोनों ने ही निभाई थी। भीरु मन तथा कम्पित पग से उनके विशालकाय तथा प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व के समक्ष पहुंचा और अपनी प्रार्थना पेश की। पर आश्चर्य, कितना सहज एवं आत्मीयता भरा उत्तर था— ‘हां हां, बिल्कुल ठीक ही सोचा है। फाइन आर्ट्स की तुलना में कमर्शियल आर्ट्स ही जीवन में अधिक सहायक होगा।’ और मेरा काम बन गया।

सन् 1937 से मई 1941 तक का पांच वर्ष का आर्ट्स कालिज का मेरा जीवन

कितना आनन्द भरा, कितना वैचित्र्यमय था। यद्यपि असितकुमार जी कोई भी कक्षा नहीं लेते थे परन्तु विजिटिंग प्रोफेसर के रूप में उनका प्रायः प्रति सप्ताह ही कक्षा में आगमन होता। तुरन्त एक रेखाचित्र बनाते और हमें निर्देश देते कि इतने समय में इसका फोटो तैयार करके दिखाओ। प्रिन्टिंग टैक्नालॉजी, फोटो लीथो और ब्लाक मेकिंग विषय के विद्यार्थी हम वह बनाते और हालदार साहब को दिखाते। हालदार साहब का रेखाचित्र जितना मौलिक होता, उतना ही दर्शनीय। उनके कड़े अनुशासन और गाम्भीर्य भरे व्यक्तित्व का दबाव हमेशा हम सभी विद्यार्थियों पर बना रहता। सभी उनसे सहमते भी परन्तु प्रभावित भी होते। उन जैसा गुरु पाना कितना सौभाग्यप्रद था, यह जितना उस समय मैं अनुभव करता, आज उससे कई गुना अधिक अनुभव करता हूँ।

प्राचार्य हालदार जी के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मुझे अकस्मात् मिल गया। वे सुप्रसिद्ध चित्रकार थे, उससे भी बड़े कवि थे। स्वयं विश्ववरेण्य रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उनके विषय में कहा था, 'मैं तो केवल शब्दों का चित्र बनाता हूँ पर असित तो शब्दों और वर्णों, दोनों का चित्र बनाता है। वह महान् है।' उनकी एक विशेषता थी कि वे लखनऊ की सांस्कृतिक गतिविधियों के साथ घनिष्टता से जुड़े हुए थे। उनका प्रभाव अंग्रेज सरकार पर भी पर्याप्त था तभी लार्ड बटलर, गवर्नर यू०पी०, से कहकर उन्होंने रायचौद प्रेमचौद प्रोफेसर राधाकमल और राधाकुमुद मुखर्जी को कलकत्ता विश्वविद्यालय से लखनऊ विश्वविद्यालय में बुलवा लिया था। उक्त दोनों विद्वानों के अतिरिक्त श्री धुर्जटी प्रसाद मुखर्जी, विजय कार्तिक मुखर्जी आदि उनके निकटस्थ व्यक्ति थे। अस्तु इन सबके साथ वे बैंगॉली क्लब एण्ड यंग मैन्स एसोसिएशन के साथ ओत प्रोत भाव से जुड़े हुए थे। उस क्लब के माध्यम से मुझे अपने इन आदरणीय गुरु के निकट सम्पर्क में आने तथा स्नेह पात्र बनने का अवसर मिला।

हुआ यूँ कि लखनऊ के उक्त क्लब ने पहली बार रवीन्द्र जयन्ती आयोजित करने का निश्चय किया। इस महत्त्वपूर्ण समारोह के सांस्कृतिक कार्यक्रम का सारा दायित्व हालदार साहब पर था। मैं तीसरी कक्षा से ही क्लब के कवितोच्चारण प्रतियोगिता में भाग लेता तथा पुरस्कार प्राप्त करता रहा। तभी कार्यक्रम निर्धारण की सभा में क्लब के तत्कालीन अध्यक्ष ने मेरे अनजाने में मेरे नाम की संस्तुति कवितोच्चारण के लिए कर दी। दूसरे दिन मुझे आर्ट कालेज पहुंचने में साइकिल पंचर होने के कारण देर हो गई। कालिज पहुंचते ही मेरी कक्षा के अध्यापक ने मुझसे कहा, 'प्रिन्सिपल साहब ने तुम्हें बुलाया है।' यूँ ही प्रिन्सिपल साहब के व्यक्तित्व का डर ऊपर से देरी से आने के कारण और भी डर बढ़ गया। डरते डरते आफिस पहुंचकर पूछा 'सर आपने मुझे बुलाया?' बोले, 'अरे हाँ, सुबह से तुम्हें बुलवा रहा था।' मैंने सीधे स्वभाव से कह दिया, 'साइकिल पंचर होने से देर हो गई।' बोले, 'चलो

छोड़ो उस बात को, कहो कौन सी कविता का पाठ करोगे।' हैरान हो पूछा, 'सर कैसी कविता, कहाँ पर पाठ?' उन्होंने कहा कि 'तुम्हें पता नहीं? क्लब के अध्यक्ष ने तुम्हारा नाम संस्तुत किया है। सो कहो कौन सी कविता पढ़ोगे।' कुछ सोच मैंने कहा, 'जी सर, उर्वशी।' रवीन्द्रनाथ की बहुचर्चित बहुप्रशंसित लम्बी कविता है उर्वशी। हैरान हो बोले, 'रवीन्द्र जयन्ती के अवसर पर उर्वशी का क्या मतलब?' मैंने रवीन्द्र की कविता में ही जबाब दिया 'सीमार माझे असीम तुमी बाजाओ आपन सूर। सबार माझे तोमार प्रकाश ताई एतो मधुर (सीमा के मध्य भी तुम असीम हो, अपना ही स्वर निनादित करती रहती हो। तभी तो सभी के मध्य तुम्हारी अभिव्यक्ति इतनी मधुर है।) मेरा जवाब सुन स्वभावकवि, सुरसिक मेरे गुरु का सारा गाम्भीर्य, सारी अनुशासनप्रियता न जाने कहाँ धरी रह गई, कुर्सी से उठ अपने इस शिष्य को दोनों बाहों में जकड़ छाती से लगा लिया। ऐसे महान् व्यक्ति के भुजपाश में बंधा मैं विमूढ़ सा रोमांचित हो उठा। उसी समय कविता सुनी, दो एक संशोधन बताये। प्रसिद्ध अभिनेता एवं कविता पाठक शिशिर कुमार भादुड़ी की तुलना में अर्वाचीन तथा बाद में अति प्रसिद्ध शम्भु मित्र का रिकार्ड सुनने की सलाह मात्र नहीं दी वरन् अपने व्यक्तिगत रिकार्ड मेरे लिए साइकिल पर ले जाना कठिन मान मेरे सिनीयर, तांगे में आने वाले विद्यार्थी से मेरे घर तक भिजवाया।

'उर्वशी' कविता का पाठ मैंने किया। प्रतियोगियों के लिए निर्धारित आसन पर आ बैठ गया। थोड़ी देर में नाम पुकारे जाने पर मंच पर आए स्वनामधन्य कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' और 'उर्वशी' का उदात्त कण्ठ से पाठ किया। मंच से उतर सीधे मेरे पास आये और पूरे जनसमूह के समक्ष शुद्ध बंगला में बोले, 'मैंने कविता पढ़ी पर तुम्हारी तरह उतनी शुद्ध बंगला में नहीं, उतनी अच्छी भी नहीं। तुम्हारा पाठ अपूर्व था।' इतना कह मुझे दोनों हाथों से बांध गले से लगा लिया। मैं आनन्द उद्बलित हो अनायास मिली इस अभूतपूर्व निधि से विभ्रान्त हो गया। मेरे से इतने ऊँचे, शरीर के कद में ही नहीं, प्रतिभा के, गुण के, यश के, मान के—सभी तरह के कद में ऊँचे उस महापुरुष ने अनायास ही मेरा कद बहुत बहुत ऊँचा कर दिया। गर्व से मेरा माथा और उन्नत हो उठा। मुझे अयाचित, अकल्पित पुरस्कार मिल गया। दो तीन दिन बाद ही लाल कुँआ बाजार के अपने मकान के पास की दुकान से सब्जी लेने लगा कि देखा सामने से निराला आ रहे हैं। सब्जी भूल उनके पास जा पहुंचा तथा पूछने पर पता चला वे भी मेरे घर के पास उसी गली के भीतरी भाग में रहते हैं। बस फिर क्या था, उस दिन के बाद प्रायः नित्यप्रति मेरा कार्यक्रम हो गया 'निराला जी' के साथ सड़क पर टहलना। वे मेरे प्रश्नों का उत्तर देते, अधिकतर बातचीत के केन्द्र होते हम दोनों के ही श्रद्धेय रवीन्द्रनाथ। इसके साथ वे अपने शान्तिनिकेतन प्रवास के विषय में भी चर्चा किया करते। इस सुदीर्घ संवाद ने मेरे मन पर निराला जी की एक अमिट छाप छोड़ दी। मेरे भीतर के सुप्त कवि को उनके सान्निध्य और आत्मीयता ने जगा दिया। परिणाम

हुआ कि उसी विद्यार्थी जीवन में मेरे तीन काव्य संकलन प्रकाशित हुए। सो गुरु न होते हुए भी निराला जी मेरे गुरु बन गए। दो वर्ष तक वे लखनऊ में रहे और हमारा यह नियम अटूट रहा। कहना न होगा उनका यह सम्भाषण बंगला में ही होता था। बाद में अनेक प्रयास करने पर भी एवं विविध उपलक्षों में इलाहाबाद जाने पर भी निराला जी के फिर दर्शन न कर पाया परन्तु वे दो वर्ष मेरे जीवन का अविस्मरणीय समय रहा इसमें कोई सन्देह नहीं।

वापस लौटता हूँ अपने गुरु प्रिन्सिपल हालदार जी के प्रसंग पर। 'उर्वशी' पाठ के पश्चात् रातोंरात मैं उनका अत्यन्त निकटस्थ और आत्मीय बन बैठा। अनेक बार बाद में भी सांस्कृतिक कार्यक्रम में भाग लेता रहा। मेरे विद्यार्थी रूप से वे प्रसन्न थे ही तभी सर्वे ऑफ इण्डिया में शिक्षा ग्रहण करते ही नौकरी के लिए आवेदन किया तो उन्होंने सहर्ष एवं विशेष रूप से मेरी संस्तुति की, प्रमाण पत्र दिए। नौकरी लग गई। तीन वर्ष पश्चात् देहरादून से लखनऊ जाना हुआ। अमीनाबाद बाजार से गुजर रहा था कि मेरे परिचित एक दुकानदार ने आवाज दी 'अरे समीर, अपने प्रिन्सिपल साहब से नहीं मिलोगे।' मैं चौंका। ऊपर चढ़ा, भीतर गया। सामने हालदार साहब विराजमान थे। मैंने पैर छूए। उन्होंने सिर पर हाथ रखा, चेहरा भली भाँति निहारा और आत्मीय स्वर फूट पड़ा, 'अरे समीर हो न? कहां कैसे हो? सर्वे में काम ठीक चल रहा है न? शादी कर ली?', आदि अनेक स्नेह सित्त अनौपचारिक प्रश्न। स्नेह से सराबोर होता मैं जबाब देता जा रहा था और वे पूछते। शायद यही हमारी आखिरी मुलाकात थी। जीवन की व्यस्तता, ट्रान्सफर की नौकरी ने उस विश्वविख्यात कलाकार, मेरे अनुकरणीय गुरु से फिर मिलने का मौका नहीं दिया पर जितना मिला, जितना उनसे मैंने पाया वही मेरे इस जन्म की अविस्मरणीय स्मृति है, अमूल्य सम्पदा है।

अपने शिक्षा गुरुजनों में श्री हिरण्मय रायचौधरी का नाम विस्मृत करना भी असम्भव ही है। वे हमारे कालिज के वाइस प्रिन्सिपल थे तथा क्ले माडलिंग की बहुत अच्छी तरह ट्रेनिंग देते थे। अपने विषय में माहिर तो थे ही तभी उनकी बनाई किंग जार्ज की मूर्ति की प्रतिकृति पूरे विश्व में लगाई गई। हमारे आग्रह पर हमारे उक्त सर ने किंग जार्ज की मूर्ति के स्वीकार किये जाने की खुशी में हम कुछ स्नेह पात्र तथा मुंह लगे छात्रों को चाय-पार्टी भी दी थी। अपने पांच वर्ष के आर्ट कालेज के जीवन में इस भाँति अनुकरणीय शिक्षा-गुरुओं के सान्निध्य में आने का सौभाग्य मिला।

सन् 1956 का वर्ष मेरे जीवन का एक अन्य प्रकार से विलक्षण वर्ष था, था सौभाग्यपूरित। अपने आत्मीय अग्रजतुल्य महानुभाव के निर्देशानुसार मैं अपनी धर्मपत्नी श्रीमती अणिमा बैनर्जी के साथ दीक्षा लेने जा पहुँचा था महाजाति सदन के निकटस्थ भवन में। प्रत्येक कमरे में अनेकों दम्पती बिना सिले वस्त्र पहने, चादर से उध्वांग ढके बैठे गुरुनाम का जप करते प्रतीक्षारत थे भारत प्रसिद्ध आध्यात्मिक गुरु 1008 श्री श्री ओंकारनाथ सीताराम

बाबाजी की। सुदूर मध्यप्रदेश के ओझारेश्वर में दो वर्ष तक कठोर तपस्या कर ट्रेन से कलकत्ता आ वे सीधे उस धर्मशाला पर आ पहुँचे। व्यग्र मन, उत्तेजित क्षण-गुरु के मन्त्र का निरन्तर जप-वे आए और कमरे में खड़े हो गए-दीर्घ वपु, ऊर्ध्वाङ्ग अनावृत्त, उन्मुक्त वक्षस्थल पर लटक रही उनके गुरुवर की दोनों खड़ाऊं दोनों ओर, और लम्बी लम्बी जटाएं, एक एक हड्डी दृश्यमान परन्तु चेहरे पर कैसी अलौकिक तेजस्विता, कैसी सारल्य भरी मुस्कान। उन्होंने चलना शुरू किया, लटकते एक खड़ाऊं से हम सभी के सिर पर एक एक टंकार करते आगे बढ़ गए। एक परिक्रमा पूरी हुई, फिर दूसरी शुरू-एक से कहा- 'तुमने सिला वस्त्र बनियान क्यों पहना हुआ है, इसे उतारो।' एक से कहा- 'तुम अशौच के कितने दिन पालन करते हो? पूरा नहीं करते। वचन दो आगे से शास्त्रानुसार पूरा समय अशौच पालन करोगे', और एक एक को निहारते आगे बढ़ गए। उनकी दृष्टि से स्नात मैं न जाने किस अद्भुत अनुभूति के सागर में डूबता उतरता रहा। लगा शरीर के भीतर कुछ उमड़-धुमड़ रहा-बड़ा ही सुखद, बहुत आनन्दात्मक। तीसरी परिक्रमा में वे एक एक के पास झुकते गए, हमारे इष्ट देव का नाम पूछते गए, सिर पर हाथ रख मुंह कान के पास ला गुरुमन्त्र देते गए-पर वाह, वह क्षणिक स्पर्श। स्वर्गीय अनुभूति क्या होती है मैं नहीं जानता, हाँ बिजली का नग्न तार छू जाने की झनझनाहट का अनुभव है-कुछ वैसा ही अनुभव हो रहा था पर सुखद था, आनन्दमय था, विलक्षण और अद्भुत था। अन्तर्मन से आवाज आ रही थी- मिल गया, गुरु मिल गया। पूरे अन्तःकरण ने, हृदय ने, मेरे अस्तित्व ने मानो गुरुवरण कर लिया। ये थे मेरे दीक्षा गुरु, मेरे आध्यात्मिक गुरु। उसके बाद तो अनेक बार उनके निकट सम्पर्क में आने का शुभ अवसर मिला, उनका नैकट्य प्राप्त किया, उनका विश्वासपात्र बना। कोई भी बड़े से बड़ा भण्डारा होता, उत्सव होता-मैं उपस्थित रहता तो भोजन की व्यवस्था का सारा दायित्व मुझ पर डाल देते। हर बार गुरु का सामीप्य मेरे में एक नूतन स्फूर्ति, नवीन उत्साह भर जाता। 1981 में अन्तिम बार कन्याकुमारी में अपने गुरु के मैंने दर्शन किए पर आज भी मेरे गुरु मेरे अन्तर्मन में विराजमान हैं, उनकी दृष्टि, उनका स्पर्श, उनके शब्द रोम रोम में व्याप्त हैं।

मेरे जीवन की तीसरी धारा है मेरे भीतर के कलाकार की बाह्यभिव्यक्ति। बचपन से नाटक करने का शौक-यौवन में अपने मित्रों के साथ क्लब की स्थापना करना, नाटक लिखना, अभिनय करना एक रुचिकर शौक था परन्तु भीतर हमेशा लगता रहता- काश कोई गुरु मिलता जो अभिनय की बारीकियों को समझा सकता, कुछ नूतन, कुछ सूक्ष्म बता सकता। सन् 1943-44 में इप्ता अर्थात् इण्डियन पीपल्स थियेटर एसोसिएशन का प्रारम्भ कलकत्ता में हुआ। संस्थापक सदस्यों में सर्वश्री उत्पल दत्त, शम्भु मित्र के साथ नाटककार विजन भट्टाचार्य आदि थे। उनके नाटकों की केवल चर्चा सुनता, सुदूर देहरादून में जीविकोपार्जन के कारण रहते हुए उनका रसास्वादन नहीं कर सकता था। इसी बीच बंगला

फिल्म 'माईकेल मधुसूदन दत्त' देखने का अवसर मिला। इसमें 'माईकेल मधुसूदन दत्त' के मुख्य चरित्र को अभिनीत किया उत्पल दत्त ने। अभिनय देख मुग्ध नहीं, विमूढ़ भी हो गया। अन्तर्मन ने कहा 'यही तुम्हारा अभिनय गुरु बन सकता है।' बस अब उचित अवसर की प्रतीक्षा थी।

अवसर मिला जब 1956 में कलकत्ता ट्रान्सफर होकर आया। तब तक उत्पल दत्त का लिटल थियेटर ग्रुप अस्तित्व में आ चुका था। उसी की पताका के नीचे 1959 में 'अंगार' नाटक अभिनीत हुआ। यह नाम से ही अंगार नहीं वास्तव में ही अंगार बन कलकत्ता में दहकने लगा। कम्यूनिस्ट विचारधारा ने अपने प्रवाह के लिए स्थान बनाना शुरू कर दिया। कलकत्ते में नाटक की चारों ओर प्रसिद्धि प्रारम्भ हुई। मैं प्रयासशील तो था ही। किसी माध्यम से उत्पल दत्त के समक्ष उपस्थित हुआ। मेरे अनुभव, आकार प्रकार, गले की आवाज (जिसके लिए मुझे काफी प्रसिद्धि मिली हुई थी) तथा मेरे बातचीत के ढंग से लगा कि वे सन्तुष्ट हुए परन्तु उन्होंने मात्र इतना कहा, 'ठीक है। अंगार के अभिनय को गौर से देखो, प्रत्येक पात्र के अभिनय पर ध्यान देना।' यह था मेरे लिए प्रवेश द्वार। दस दिन तक कलकत्ते के प्रसिद्ध मिनर्वा थियेटर में जाता और अंगार का अभिनय देखता। सदा ही नायक का अभिनय करने वाला मैं प्रधान पात्रों के अभिनय पर ही ध्यान केन्द्रित रखता, खान मजदूर आदि पर नहीं। 'अंगार' अभिनय की पचासवीं रात्रि और मेरी तपस्या की दसवीं रात्रि को एक मजदूर कलाकार अनुपस्थित था तो मेरा सौभाग्यद्वार उद्घाटित हुआ। उत्पल दत्त का आदेश हुआ, 'मजदूर का मेकअप लेकर मंच पर पहुँचो।' मेरे तो पैर-तले की धरती ही खिसक गई, सारा आत्मविश्वास मानो घराशायी होने लगा—कारण मजदूरों के अभिनय पर तो मैंने ध्यान नहीं दिया था पर उत्पल दत्त ने इतना और जोड़ दिया, 'Go and follow them.' इसी को सौभाग्य मान नेपथ्य में पहुँचा—मेकअप खुद ही लेना था। मेरे अनुभवी हाथों ने कमाल दिखाया और मैं शीघ्र ही वास्तविक खान मजदूर बन मंच पर अन्य खान मजदूरों के साथ उपस्थित हो गया। उत्पल दत्त स्वयं 'फर्स्ट वाच एण्ड वार्ड' का अभिनय कर रहे थे जिसका काम होता है सभी मजदूरों की निगरानी करना, उनको परिचालित, अनुशासित करना। यह व्यक्ति पेशे से ही मानो हृदयहीन, निष्ठुर होता है जो मजदूरों को मिट्टी का लोथड़ा मान निष्ठुरता से मारता पीटता है। वह व्यक्ति नहीं, मानो निष्ठुरता और निर्दयता की प्रतिमूर्ति था। मंच पर मैं अन्य मजदूरों की देखा देखी यह खींचता, वह उठाता पर बिना किसी रिहर्सल के मंच पर उतरने के कारण थोड़ी घबराहट तो थी ही और सबसे बड़ी समस्या थी कि मेरी जगह कौन सी है, कहाँ खड़ा होऊँ यह सूझ नहीं रहा था। अचानक अन्य मजदूरों की पिटाई करते हुए अभिनय के बीच ही उत्पल दत्त ने मेरे गले के पास की कमीज को पकड़ा और मुझे घसीटते हुए मंच के बीच में ला दर्शकों की दृष्टि के सामने खड़ा कर दिया और हुंकार

छोड़ते हुए बोले 'यहाँ खड़े हो' फिर धीरे से मानो अभिनय का ही एक भाग हो फुसफुसाते हुए कह गए, 'दर्शकों के सामने नहीं रहे तो अभिनय करने का लाभ ही क्या' और अन्यों को मारते पीटते मंच के दूसरी ओर चले गए। मुझे मेरे अभिनय गुरु का पहला उपदेश मिल गया और मैं खुलकर अभिनय करने लगा। जब जब दूसरे मजदूर पर मार पड़ती, वह लड़खड़ाकर गिर पड़ता तो मैं ऐसे मुख विकृत करता, चेहरे पर भाव लाता मानों मुझे असह्य मानसिक वेदना हो रही है, आतंक हो रहा है और मेरे गुरुदेव अपने अभिनय के बीच में ही मेरी सभी भाव भंगिमाओं को भांपते रहे।

अंगार' एक सत्य घटना पर आधारित नाटक था। रानीगंज की खानों में आग लग गई। नियमानुसार सभी खान मजदूरों को बाहर निकाल खान में आग बुझाने के लिए पानी डाला जाता है पर वहाँ मालिकों को अपनी खान बचाने की इतनी जल्दी थी कि कुछ मजदूरों के खान में रहते हुए पानी भर दिया गया जिससे काफी मजदूर मर गए। मेरी पहली रात का अभिनय उत्पल दत्त को पसन्द आया होगा पर अपने स्वभावानुसार उन्होंने प्रशंसा नहीं की। हाँ दूसरी बार सेकेण्ड वाच एण्ड वार्ड के कलाकार की अनुपस्थिति में पहली बार की तरह ही बिना पूर्वप्रस्तुति के मुझे मंच पर उतार दिया गया। हाँ, इस बार कुछ संवाद भी था, जिसमें उल्लेखनीय थी, सुप्रसिद्ध अभिनेत्री शोभा सेन, जो एक जलमग्न मजदूर की माता का अभिनय कर रही थी जब आर्तकण्ठ से मुझे कहती हैं, मेरे बेटे का क्या होगा? वह कहाँ है?' आदि आदि तो मैं उनके अभिनय की सजीवता से करुणार्द्र हो अपना संवाद बोल गया, 'देखो, क्या होता है।' संवाद बोलकर मंच से बाहर निकल रहा था, विंग के दूसरी ओर से उत्पल दत्त दूसरे दृश्य में अभिनय करने मंच पर प्रवेश कर रहे थे। मुझे इतना कह गये, 'खूब खराब था।' न आगे कुछ और न पीछे कुछ। गुरु से यह पुरस्कार पा मैं तो उद्भ्रान्त, परेशान। सारी रात सो नहीं सका। अजीब उधेड़बुन में लगा रहा, अपने अभिनय का परीक्षण करता रहा। दूसरे दिन जब उत्पल दत्त मिले तो बोले, 'वाच एण्ड वार्ड हार्श, रफ टफ होता है, तभी कल खूब खराब कहा था क्योंकि तुम बहुत पैथेटिक थे।' मैं अपनी गलती तो जान ही गया साथ ही यह भी जान गया कि यह व्याख्या अगर निर्देशक कल देते तो शायद इसका प्रभाव इतना न पड़ता मुझ पर क्योंकि कल तो बात आई गई हो जाती। अब तो इन चौबीस घण्टे की ऊहापोह से मेरा रोमरोम इस व्याख्या को सुनने को उद्ग्रीव था। सो अभिनय कला का पाठ भी लिया और अभिनय कला सिखाने की पद्धति भी समझ गया।

अब उत्पलदा को मुझ पर अटूट विश्वास हो गया। वे जान गए मैं सभी पात्रों का अभिनय बखूबी कर लूंगा इसीलिए जो भी अभिनेता अनुपस्थित होता, वे निश्चित हो जाते। यह सौभाग्य गुप के किसी और अभिनेता को प्राप्त नहीं था। 'अंगार' नाटक कलकत्ते

में 350 दिन अभिनीत हुआ जिसमें से मैंने 300 दिन अभिनय किया। उपर्युक्त प्रशिक्षण देने के कारण मैंने उत्पल दत्त को अपना गुरु मान लिया।

उत्पल दत्त ने पहले परिचय में मुझे आप कहकर सम्बोधित किया था। मेरे यह कहने पर कि 'आप अन्य सभी को तो तुम कह रहे हैं तो मुझे आप क्यों?' तो उन्होंने उत्तर दिया था, 'आप मुझ से आयु में बड़े लग रहे हैं' (वास्तव में मैं उनसे चार साल बड़ा था।) उन्होंने उत्पल दत्त ने जिस क्षण स्वयं को मेरे गुरु के पद पर आसीन किया और मुझे शिष्य, उसी क्षण आप से तुम पर उतर आए और मेरे लिए भी वे उत्पल दत्त के स्थान पर उत्पलदा बन गए। उनसे मैंने अभिनय सीखा। उनके साथ 1959 से 1969 तक लम्बे दस साल तक काम किया। इस बीच उनके अनेक नाटक हुए (कहना न होगा उनके स्वरचित) जिनमें उल्लेखनीय है 'फेरारी फौज।' इस नाटक रचना के लिए उत्पलदा को नेशनल ड्रामा राइटिंग का प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था। उनका अन्य अति प्रसिद्ध नाटक था 'कल्लोल' जिसका अभिनय 600 रात्रि हुआ। यह बम्बई में हुए 1946 की नेवल स्मूटिनी पर आधारित नाटक था और इसकी रचना करने पर उत्पल दत्त गिरफ्तार भी हुए थे। उनका एक और उल्लेखनीय नाटक मेरे स्मृति पथ में आ रहा 'लेनिनेर डाक' अर्थात् लेनिन की पुकार' जिसमें एक भूतपूर्व मिलिटरी आफिसर ही मुख्य पात्र था जिसका अभिनय मैंने किया। इसी नाटक में आज की सुप्रसिद्ध सिने अभिनेत्री और निर्देशिका अपर्णा सेन ने भी अभिनय किया था। इन सभी नाटकों का संगीत दिया था आज के सुविख्यात सितार वादक रविशंकर जी ने। स्टेज सैटिंग, लाइट आदि करते थे श्री तापस सेन। मेरा बहुत आक्रोश भरा अभिनय था। उत्पलदा कभी किसी की प्रशंसा नहीं करते थे परन्तु इस अभिनय के पश्चात् उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, मेरे अभिनय की प्रशंसा की, 'समीर, खोका बाबू (उस समय के जाने माने चलचित्र निर्देशक) तुम्हारे अभिनय की बहुत तारीफ कर रहे थे। वे चाहते हैं कि तुम फिल्म लाइन जायन कर लो। उनके प्रस्तुत चित्र में तुम्हें काफी महत्वपूर्ण भूमिका दे रहे हैं पर ध्यान रखना तुम्हें लगातार डेढ़ महीना शूटिंग में उनके साथ रहना पड़ेगा।' उत्पलदा की इस अप्रत्यक्ष ही सही प्रशंसा ने मेरे तन-मन को पुलकित कर दिया। यह प्रस्ताव भी लोभनीय था परन्तु मेरी सरकारी नौकरी और दाय-दायित्व ने मुझे इस प्रस्ताव को स्वीकार करने की अनुमति नहीं दी। हां, बाद में मैंने सिस्टर निवेदिता, घूम (निद्रा) आदि कई बंगला चलचित्रों में छोटी-छोटी भूमिकाओं में अभिनय अवश्य किया परन्तु उत्पलदा के साथ किये गये काम जैसा सन्तोष कभी और कहीं नहीं मिला।

मेरे अभिनय क्षेत्र के गुरु उत्पलदा उर्फ उत्पल दत्त बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे—वे स्वयं नाटक रचयिता, निर्देशक, ट्रेनर तथा अभिनेता थे। जैसा मैंने पहले लिखा है, पात्रों को अभिनय की शिक्षा देने की उनकी पद्धति विलक्षण थी। वे सैद्धान्तिक रूप में कुछ बताने

से अभिनय करते हुए निर्देश देना अधिक पसन्द करते थे। उन्होंने मुझे मंच पर अभिनय करते हुए जो निर्देश दिए वे तथ्य मेरे भीतर तक पैठ गए—अभिनय के उन विषयों को मैंने बारीकी से समझा और उस पर अमल किया। उनकी एक और विशेषता का मैं उल्लेख करना चाहूंगा— वह है उनका कम्यूनिस्ट होना केवल नाम मात्र का नहीं था, उनके लिटल थियेटर ग्रुप में पूरी तरह क्रियान्वित होता था। ग्रुप में भर्ती होने से पहले सबको स्पष्ट रूप में बता दिया जाता था कि वहाँ अवैतनिक कार्य करना पड़ेगा परन्तु जब लाभ होता तो यदि उत्पलदा को बीस रुपए पारिश्रमिक मिलता तो एक साधारण कुली का अभिनय करने वाले को भी 20 ही रुपए मिलते—कोई श्रेणी भेद नहीं, कोई वर्ग भेद नहीं। इसके विपरीत परिस्थिति में जब हानि उठानी पड़ती तो कलाकारों को अपने जेब से पैसा खर्च कर टैक्सी या बस का किराया तक चुकाना पड़ता—सभी समर्पण की भावना से कार्य करते और उन सबका आकर्षण का केन्द्र बिन्दु एक व्यक्ति था, एक नाम था उत्पलदा। अन्त में जब नाटक ग्रुप क्षति में चलने लगा और मिनर्वा थियेटर का लाखों का उधार चढ़ गया तब हारकर उत्पलदा ने ग्रुप तोड़ दिया, नाटक बंद हो गए। उत्पलदा ने फिल्म जॉयन की और वहाँ से पैसा कमाकर उन्होंने एक-एक पैसे का उधार चुकाया। मेरे अभिनय गुरु उत्पलदा को एक शब्द में परिचित कराना हो तो उन्हें महामानव कहना ही पर्याप्त है।

मानव जीवन वैचित्र्यमय होता है, दुःखमय, सुखमय। हम बहुत कुछ पाते हैं, बहुत कुछ चाहते हैं पर पाते नहीं, पा नहीं सकते। मुझे लगता है मैंने अपने जीवन में जो कुछ पाया, उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण, सबसे उल्लेखनीय हैं मेरे ये गुरुजन। उनको मेरी प्रणति।



लेखक परिचय

तत्कालीन पूर्व बंग और आज का बांग्ला देश—उसका एक सांस्कृतिक, शिक्षा तथा परम्परा की दृष्टि से प्रख्यात नगर ढाका का एक सुशिक्षित, सुसंस्कृत बैनर्जी परिवार। समय के प्रवाह के साथ वह प्रसिद्ध तीर्थ नगरी वाराणसी में आकर बस गया। उसी परिवार की एक शाखा ने अपना निवास लखनऊ बनाया। उसी लखनऊ के वासी, सरकारी मुलाजिम स्वर्गीय शरतचन्द्र बैनर्जी

और स्वर्गीया सुभाषिणी बैनर्जी के सुपुत्र हैं श्री समीरकुमार बैनर्जी जिनका जन्म लखनऊ में 8 मार्च 1921 को हुआ। लखनऊ में ही प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करके उन्होंने वहाँ के सुप्रसिद्ध गवर्नमेन्ट आर्ट कालिज से प्रिन्टिंग टेक्नालॉजी से डिप्लोमा किया तथा तुरन्त ही सर्वे ऑफ इण्डिया में फोटोग्राफर (मैप्स) के पद पर नियुक्त हुए तथा देहरादून में कार्यभार सम्भाला। उनकी नौकरी का अधिकांश समय देहरादून में ही व्यतीत हुआ, कुछ समय कलकत्ता और

हैदराबाद भी रहे। नौकरी में उन्नति करते हुए प्रिन्टिंग (मैप) विभाग के मैनेजर के पद पर प्रतिष्ठित हुए तथा उसी पद से 1989 में सेवानिवृत्त हुए।

वृत्ति से व्यक्ति कुछ भी करे, कुछ भी बने परन्तु उसकी प्रवृत्ति कभी नष्ट नहीं होती तथा प्रतिभा, रुचि और योग्यता को दबाए नहीं दबाया जा सकता। पहाड़ी झरने की तरह वह कहीं न कहीं से फूट ही पड़ती है। समीर जी के साथ भी वही हुआ। शैशव से ही कवितोच्चारण का शौक था, क्लब आदि में बोलते भी थे। आल इण्डिया रेडियों का लखनऊ केन्द्र प्रारम्भ होने पर वहाँ भी आपने कवितोच्चारण में भाग लिया। लखनऊ में इस गुण के कारण अनेक पुरस्कार भी आपने प्राप्त किए।

समीर जी केवल कविता-उच्चारण ही नहीं करते, लिखते भी थे। उसी का परिणाम है कि प्रारम्भिक जीवन में पर्याप्त लिखा, तीन काव्य संकलन भी प्रकाशित हुए 'नई धारा' आदि।

समीर महोदय की दूसरी प्रतिभा है 'अभिनय कला'। विद्यार्थी जीवन के उपरान्त देहरादून में केन्द्रीय सरकार की नौकरी करते हुए उनकी यह रुचि बाधित नहीं हुई। अपना क्लब बनाकर नाटक निर्देशन करना, उसमें अभिनय करना नियमित कार्य था। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि लेखन प्रतिभा से सम्पन्न उन्होंने स्वयं कई बंगला नाटक लिखे तथा उनका निर्देशन एवं मंचन भी किया। कहना न होगा उनमें मुख्य अभिनय वे स्वयं ही करते थे। अनेक पत्रिकाओं में उनके ये नाटक प्रकाशित हुए, कुछ अप्रकाशित अवस्था में ही काल कवलित हो गए। प्रकाशित नाटकों में उल्लेखनीय हैं 'शिवानी' तथा 'अद्भुत आविष्कार'। शौकिया नाटक को एक नया मोड़ तब मिला जब उनका कलकत्ते में तबादला हो गया तथा उत्पल दत्त के समान विख्यात व्यक्ति के लिटल थियेटर ग्रुप से जुड़ने का उन्हें सुअवसर प्राप्त हुआ। उसमें उन्होंने उत्पल दत्त का निकट साहचर्य प्राप्त किया तथा उन्हें अपना अभिनय गुरु मान लिया। उन्होंने अंगार आदि बहुचर्चित नाटकों में अभिनय किया। कलकत्ता में शौकिया तौर पर वे 'जात्रा' के साथ भी सम्बद्ध हुए तथा कुछ चलचित्रों में भी अभिनय किया। कालान्तर में बम्बई जाकर जब रहना प्रारम्भ किया तब भी उन्होंने कुछ चलचित्रों में अभिनय किया। कर्तव्य-परायण तथा निष्ठावान समीर महोदय अपने पारिवारिक दाय-दायित्वों, सामाजिक बन्धनों तथा आध्यात्मिक अभिरुचि के कारण पेशेवर अभिनय को कभी भी गम्भीरता से अपना न सके। आज वृद्धावस्था में सक्रिय जीवन से दूर, बम्बई में अपने एकमात्र पुत्र तथा पुत्रवधू के साथ सपत्नीक जीवन यापन कर रहे हैं।



मेरे मार्गदर्शक गुरु

श्री गोपेश्वर

छात्र जीवन सूर्योदय की तरह सुन्दर, सहज और अनुरागमय होता है। उस जीवन में छात्रों का पहला मूलभूत कर्तव्य है अपने विकास पर ध्यान देना—शरीर, स्वास्थ्य तथा चरित्र का निर्माण करना और पठन—पाठन करना। दुनिया में बहुत घूमती फिरती तस्वीरें रहती हैं परन्तु छात्र को पहले स्वयं को उनसे बचाकर अपने माता—पिता तथा पारिवारिक स्थिति को देखते हुए चलना पड़ता है और उस चलने के साथ अपना भविष्य बनाना होता है। आकांक्षाएँ तो अनेक होती हैं परन्तु उनकी पूर्ति के लिए सधन सक्रियता अनिवार्य है। अपने ऊपर, अपने परिवार, अपने समाज और अपने राष्ट्र पर विश्वास और श्रद्धा रखकर चलना होता है। उसी से आत्मबल मिलता है, जीवन बनता है। हम बढ़ते हैं, हम बनते हैं परन्तु इन सबके साथ आवश्यक होता है गुरु का मार्गदर्शन, उसकी प्रेरणा, उस द्वारा प्रदत्त उपदेश। ऐसे गुरु प्रथमतः घर पर माता—पिता रूप में फिर छात्र—जीवन में मिलते हैं शिक्षक रूप में और परवर्ती जीवन में कभी भी और कहीं भी मिल सकते हैं, मिलते हैं। उनसे हम प्रभावित होते हैं, प्रेरित होते हैं और जाने अनजाने उन्हें हम अपना अनुकरणीय गुरु रूप में स्वीकार कर लेते हैं। मेरे जीवन में भी ऐसे गुरुजनों का पदार्पण हुआ जिनमें से केवल कुछ का उल्लेख यहाँ करना चाहूँगा।

मेरे प्रथम गुरु मेरे पूज्य माता—पिता हैं। माता जी श्रीमती नागेश्वरी देवी जी का ध्यान आते ही दृष्टि पथ पर आती हैं विराट परिवार का दायित्व सम्भालती, सुबह से गहरी रात तक खटती, त्याग और सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति। परिवार में अपनी सन्तानें, अन्य बच्चें, परिजन, नौकर—चाकर, सभी का संरक्षण, पालन—पोषण और विशेष बात भेदभाव रहित, पक्षपात रहित समदृष्टि से यह सब कुछ करना। उनका अपना कुछ नहीं था, सब दूसरों के लिए। इन सभी कार्यों के साथ बच्चों के चरित्र—गठन पर कड़ी नजर। इसी भांति पिताजी श्री श्रीभूषण दास भी सम भाव से अपने भाई—बहनों तथा बच्चों के साथ परिवार के अन्य बच्चों में कोई भेदभाव किये बिना सभी के समान पालन—पोषण तथा शिक्षा की व्यवस्था करते थे। उनका कार्य सामूहिक रूप से किया जाता था परन्तु उसमें एकरूपता प्रमुख थी। कुल के साथ समाज के लिये भी उनकी यही एकरूपता उल्लेखनीय है। वास्तविकता यह है कि मेरे चरित्र गठन में माता के आचार तथा पिता के विचार ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया अतः उन्हें अपने प्रथम गुरु मानने में कोई दुविधा नहीं।

राजनीति का व्यक्ति हूँ। प्रारम्भिक जीवन में जब राजनीति में आया महात्मा गांधी समस्त तरुणों तथा युवकों के आदर्श थे, उनके नायक थे। मैं भी उनसे बहुत प्रभावित हुआ तथा उन्हें अपना आदर्श और अनुकरणीय मानता था। मेरे राजनैतिक जीवन के वे मेरे प्रथम गुरु हैं। उनके प्रत्येक क्रियाकलाप, प्रत्येक उद्गार पर मेरा ध्यान रहता था। याद है हरिपुर कांग्रेस अधिवेशन की बातें। महात्मा जी नहीं चाहते थे कि सुभाष चन्द्र बोस कांग्रेस कार्यकारिणी के अध्यक्ष-पद का चुनाव लड़े। वे डा० पट्टाभि सीतारमैया को अध्यक्ष बनाना चाहते थे। उनकी इच्छा के विरुद्ध नेताजी ने चुनाव लड़ा और चुनाव जीत गए। गांधी जी के लिए यह पहली तथा बड़ी पराजय थी। उन्होंने इसे अपनी व्यक्तिगत पराजय मानी। यद्यपि उन्होंने कहा, 'I rejoice in this defeat' परन्तु साथ ही यह भी माना 'the defeat is more mine than his' (Dr. Pattabhi Sitaramayya). यह राजनैतिक विवाद था, राजनैतिक विरोध था परन्तु उस आयु में अपने नायक का विरोध हमें अपना विरोध लगा। उनकी पराजय अपनी पराजय लगी। मन क्षुब्ध हो उठा और अपने अनजाने में नेताजी के प्रति मन में विद्वेष की भावना उमड़ने लगी। हम अवसर की ताक में रहे कि कब उचित मौका मिले और हम अपने बापू के अपमान का बदला लें। मौका शीघ्र ही मिल गया। नेताजी भागलपुर आए। हमने उनको अपमानित करने की योजना बनाई। अपमानकर पोस्टरों तथा गन्दी मालाओं से लदकर उनकी सभा में गए। कुछ करने से पहले उनको सुनना शुरू किया—भाषण के मध्य में विरोध करने, उन्हें अपमानित करने की योजना जो थी। सुभाष चन्द्र बोस ने अपना वक्तव्य प्रारम्भ किया—ओजस्वी वाणी, उदात्त कण्ठ, देश प्रेम से ओत प्रोत भाव और शुद्ध हिन्दी में उनका भाषण चलता रहा। राष्ट्रीय कार्यक्रम प्रस्तुत किये। पता ही नहीं चला कब 45 मिनट व्यतीत हो गए। भाषण समाप्त हुआ। कहाँ गया हमारा विरोध, क्षोभ? हम तो बदल चुके थे, उनके हो चुके थे, उनको अपना आदर्श, अपना नायक, अपना नेता स्वीकार कर चुके थे। नेताजी मंच से उतरे। हम अपने हजारों पर्ची और गन्दी मालाओं के साथ उनके समीप गए और स्पष्ट शब्दों में कहा, 'मान्यवर, ये सब हम आपका अपमान करने के लिए लाए थे परन्तु आपने हमें जीवन दिया, प्रकाश दिया। हम बहुत लज्जित हैं' और उनके सामने ही सारा सामान फेंक दिया। यह मेरे जीवन की मात्र एक अविस्मरणीय घटना नहीं है, यह तो मेरे जीवन की धारा को ही बदलने वाली घटना है। मैं नेताजी से इतना प्रभावित हुआ कि फारवर्ड ब्लाक का सदस्य बन गया और आज भी उनको अपना अनुकरणीय राजनैतिक गुरु के रूप में स्वीकार करता हूँ, उनका आदर करता हूँ।

जीवन पथ पर चलते मुझे अपने कर्मक्षेत्र में एक और गुरु की प्राप्ति हुई श्री माईकल जॉन, जाने माने श्रमिक नेता। सन् 1954 में प्रथम बार मैं उनके साथ भारतीय प्रतिनिधि मंडल के सदस्य रूप में जिनेवा गया। हम प्रथम श्रेणी के यात्री थे, अनेक सुविधाएँ हमें प्राप्त थीं। अधिवेशन से लौट कर आए। यात्रा खर्चा का विवरण देना था। जॉन साहब ने मुझसे

कहा, 'जो खर्च हुआ है वही लिखना। यहाँ जो लिखोगे, वह मिल जाएगा।' मैंने पूरी ईमानदारी से जो जो खर्च हुआ था, उसी का हिसाब लिखकर दे दिया। कोई फालतू खर्च उसमें सम्मिलित नहीं था। जॉन साहब ने मेरे हिसाब को पढ़ा तो अत्यन्त खुश हुए तथा शाबासी देते हुए मेरी पीठ थपथपाई और कहा, 'तुम परीक्षा में पास हुए हो। मुझे भय था कि कहीं तुम भी इससे नाजायज़ फायदा न उठा लो। यहाँ अधिकतर लोग ऐसा ही करते हैं।' उनके इस व्यवहार से बड़ी सीख मिली। जीवन का वह प्रारम्भ था। अधिक न कहकर उन्होंने मुझे बहुत कुछ कह दिया था, सिखा दिया था जो जीवन भर मेरे काम आया। मेरा मार्गदर्शक बना।

श्रमिकों के मध्य काम करते हुए अन्याय, अनाचार तथा अनैतिक कार्यों को देखकर मैं प्रायः उग्र हो जाता था, क्रोध में कथ्य-अकथ्य बोल जाया करता था। एक बार जॉन साहब ने मुझे बुलाकर कहा, 'सुना है तुम बहुत झगड़ते हो। कहते हो 'यह बेईमान है, यह सूदखोर है, यह स्वार्थी है आदि आदि। यह ठीक नहीं है। यूनियन तो एक मन्दिर है, मस्जिद है, गिरजाघर है। यहाँ सभी तरह के लोग आएंगे। उनको कुछ कहने से पहले उचित है कि तुम अपने को देखो। अपने से पूछो तुम क्या हो? क्या करते हो? तुम्हें क्या करना चाहिए? तुम्हारा चरित्र निष्कलंक होना चाहिए। तुम्हारा कार्यक्रम ठीक होना चाहिए। जीवन में तुम्हारी छवि हमेशा साफ होनी चाहिए। तुम अपने को सभी हालात में ठीक रखो, साफ रखो।' उनका साधारण ढंग से और सहज शब्दों में दिया गया यह उपदेश मेरे समस्त जीवन की कार्यविधि का आधार बना। जीवन में बड़े से बड़ा दायित्व सम्भाला, ऊँचे से ऊँचा पद पाया पर कभी नहीं भूला अपना काम, अपना आचरण ठीक रखना है। अपनी छवि हमेशा साफ रखनी है। जिस व्यक्ति ने मुझे जीवन का यह महत्वपूर्ण गुर दिया, ससम्मान जीने की कुंजी दी उसे अपना अनुकरणीय गुरु न कहूँ तो क्या कहूँ?

लेखक परिचय

बिहार के सहरसा जनपद के ग्राम रामपुर में 21 दिसम्बर 1921 को श्री गोपेश्वर जी का जन्म कर्तव्यपरायणा माता श्रीमती नागेश्वरी देवी तथा कर्तव्यनिष्ठ एवं अनुकरणीय आचार-आचरण वाले पिता श्रीभूषण दास के घर हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा सहरसा में प्राप्त करके गोपेश्वर जी ने भागलपुर, पटना विश्वविद्यालय से उच्च शिक्षा प्राप्त की तथा सन् 1942 में अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र

विषय लेकर बी०ए०आनर्स की उपाधि ग्रहण की।

गोपेश्वर जी ने 1940 में, जब वे विद्यार्थी ही थे, विद्यार्थी आन्दोलन में सक्रियता से भाग लिया तो 1942 में राष्ट्रीय आन्दोलन में भी उनकी सक्रिय भागीदारी रही। देश की स्वाधीनता के पश्चात् गोपेश्वर जी ने मजदूर आन्दोलन में प्रवेश किया तथा अपने कठिन

परिश्रम तथा बौद्धिक सम्पदा के माध्यम से मजदूर संगठन को सुसंगठित तथा सुदृढ़ बनाया। मजदूर संगठन में उनकी भागीदारी तथा उनका योगदान उल्लेखनीय ही नहीं, प्रशंसनीय भी है और तभी उन्होंने शीघ्र ही उसके अग्रणी नेता का स्थान प्राप्त कर लिया।

गोपेश्वर जी ने समय-समय पर अनेक सम्मानित दायित्वों का वहन किया। 1948-49 में वे भागलपुर के माडल इन्स्टीट्यूट के प्राचार्य रहे, तो 1972 से 1984 तक इन्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के निदेशक का पद सम्भाला। 1975 से 1984 तक आप मजदूर पेपर्स लिमिटेड के निदेशक रहे और 1976 से 1984 तक स्टील आथोरिटी ऑफ इन्डिया लिमिटेड के निदेशक के दायित्व का निर्वाह किया। पंजाब नेशनल बैंक के निदेशक पद पर रहने की अवधि 1981 से 1984 रही तो 1984 में वे जनरल इन्श्योरेन्स कारपोरेशन के निदेशक रहे। इन्डियन एयर लाइंस, एयर इन्डिया, हिन्दुस्तान केबल्स आदि के निदेशक पद को भी आपने अलंकृत किया।

श्री गोपेश्वर जी अनेक संस्थाओं तथा संगठनों के समय समय पर सदस्य भी रह चुके हैं। उनमें से कुछ उल्लेखनीय हैं— बिहार सेन्ट्रल लेबर एडवाइसरी बोर्ड (1950-54, 1974-76) सेन्ट्रल वेज बोर्ड फार स्टील इन्डस्ट्री (1962-65), सेन्ट्रल बोर्ड फार प्रोविडेंट फण्ड ट्रस्टी (1963-64), सेन्ट्रल बोर्ड फार वर्कर्स एजुकेशन (1974-75), आयरन ऑर माइन्स लेबर वेलफेयर ऑर्गेनाइजेशन (1967-74) आदि। इन्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस के मार्च 1985 से मार्च 1987 तक कोषाध्यक्ष का दायित्व भी आप पर रहा।

संगठनों के अतिरिक्त गोपेश्वर जी का सम्बन्ध पत्र-पत्रिकाओं के साथ घनिष्ठ रूप से रहा तथा वे 'आजाद हिन्द', 'लोक सेवक' तथा 'कर्म' के सम्पादक भी रह चुके हैं।

आप 'Mine and Metal workers' के सह सम्पादक रह चुके हैं। आप ILO Steel Committee के 1954, 1964 तथा 1969 में मजदूरों के प्रतिनिधि रहे तथा International Labour Conference में 1976, 1981, 1983 और 1984 में मजदूरों का प्रतिनिधित्व किया। इसके अतिरिक्त International Metal Workers Congress (IMC) में 1972, 1978 और 1981 में मजदूरों के प्रतिनिधि रूप में योगदान दिया। 1968 से आज भी आप Central Committee IMF में मजदूर प्रतिनिधि हैं।

श्री गोपेश्वर यू.एस.एस.आर., चीन, यू.एस.ए., जापान, सिंगापुर, दक्षिण कोरिया, इजराइल, बंगला देश, श्रीलंका, कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा अन्य कई यूरोपीय देशों में भारतीय मजदूरों का डेलिगेशन लेकर गए हैं।

गोपेश्वर जी जमशेदपुर से सन् 1984 में लोकसभा का चुनाव जीत कर लोकसभा सदस्य भी रह चुके हैं।

अध्ययन, संगीत तथा भ्रमण में पूरी तरह रुचि लेने वाले गोपेश्वर जी का ध्यान,

उनकी साधना वास्तव में ग्रामीण विकास तथा मजदूर-कल्याण ही है। अपनी युवावस्था के प्रारम्भ से मजदूर संगठनों से सम्बद्ध होने वाले तथा अनेक दायित्वों का बखूबी निर्वाह करने वाले श्री गोपेश्वर जी आज भी अपने ध्येय के प्रति पूर्ण समर्पित तथा सक्रिय हैं। यही कारण है कि आज भी अनेक संगठनों के साथ वे सक्रिय रूप से जुड़े हुए हैं तथा अनेक गुरुत्वपूर्ण दायित्वों का वहन कर रहे हैं। उनमें से कतिपय उल्लेखनीय हैं— आप INTUC के वरिष्ठ उपाध्यक्ष हैं तथा Indian National Metal Workers' Federation; TELCO Workers' Union, Jamshedpur; (Bihar) Steel Workers Union Burnpur (W. Bengal); Tinolite Workers Union, Jamshedpur; Gua Mines Workers Union, Hindustan Steel Workers Union, Durgapur से सक्रिय रूप से सम्बद्ध हैं तथा उनके महासचिव हैं। गोपेश्वर जी Institute of Labour Studies; Beri Vidyalaya; Public Sector Committee, INTUC International Relations Committee, INTUC के चैयरमैन रहे हैं तो International Confederation of Free Trade Union (ICFTU); ICFTU Asian and Pacific Regional Organisation (ICFTO-APRO); INTUC Bihar Branch तथा Metal Workers' Trade Union College के उपाध्यक्ष हैं। आप National Joint Committee for Iron Steel Industry के 1967 से सदस्य हैं। इसके अतिरिक्त Joint Forum H-S.C.L., Industrial Committee on Heavy Engineering Industry; Central Committee International Metal workers Federation (IMF); INTUC Trust; Foundation for Organisational Research Delhi (FORE); Central Institute of Workers Education Delhi और Institute for Mines and Metal Workers Education, Calcutta के वे सदस्य हैं।

आप इस समय Steel Workers Union, Durgapur तथा Public Sector Union Committee के अध्यक्ष पद को भी गौरवान्वित कर रहे हैं।

श्री गोपेश्वर को अपने असाधारण संगठन क्षमता तथा समर्पित कार्य करने के कारण अनेक सम्मानों से सम्मानित किया गया है। उनमें से कतिपय हैं— 'सर जहांगीर चण्डी गोल्ड मेडल (1965), माईकल जॉन रोल आफ आनर गोल्ड मेडल आदि। अपना सर्वस्व मजदूरों के लिए समर्पित करने वाले आपको जुलाई 1999 को इन्टरनेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली की ओर से Best Citizens of India Award भी प्रदान किया गया।



अनुकरणीय गुरु

डा० श्रीमती रमा दुबलिश

गुरु कृपा के पीयूष से सारस्वत वैभव का अर्जन किया जाता है। यूं तो हठतः पाठ की प्रतिष्ठा करने वाले श्रोत्रिय गुरु स्थान स्थान पर देखे जाते हैं। पाणिनि के माहेश्वर सूत्रों और वैदिक ऋचाओं को रटाने वाले शिक्षकों ने बाल्यस्मृति को तीव्र तो कर दिया जो आज भी काम में आ रही है परन्तु पाणिनि की शैली को समझाने वाले काशिका के रहस्य आज भी अनवगत हैं। अनुवृत्ति बोध के अभाव में बहुत कठिनाई महसूस होती है। वैदिक स्वर विज्ञान, जो वेद के अर्थ समझने में बहुत बड़ा साधक है, मेरे लिये आज भी पहेली बना हुआ है। वेद का एक मन्त्र

“चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य।

त्रिधा बद्धो वृषभो रौरवीति महो देवो मर्त्यान् आ विवेश।”

इसमें चत्वारि शृङ्गा का अर्थ परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी (वाणी के चार रूप) हैं या नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात? मुझे खोज थी एक शब्द साधक की, पाणिनि सम अभिनव शाब्दिक की। महाभाष्य के व्याख्याता प्रातः स्मरणीय स्वर्गीय श्री चारुदेव जी के कल्पित चरणों में सिर नवाते मैंने पढ़ा “वेद में वाक् आद्युदात्त पद है। पदपाठ में भी पृथक् पद ही पढ़ा गया है। प्रथमान्त का अन्वय सीधा लग जाता है “वाक्चत्वारि परिमितानि पदानि भवन्ति”। षष्ठी पूर्व पद समास मानने में जहाँ स्वर से विरोध पड़ता है वहाँ समास भी असमर्थ ही होता है, यहाँ चारों पदों से नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात का ग्रहण ही इष्ट है, परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी का नहीं। इस समस्या के समाधान से मेरी अनेक ग्रन्थियाँ सुलझ गईं। काश! मैं उनकी छत्र छाया में साक्षात् शिष्या होकर ज्ञान प्राप्ति का आनन्द ले पाती। उनकी उपसर्गार्थ चन्द्रिका ने मुझे अनेक बार उपसर्गों के वाचकत्व और द्योतकत्व के झगड़े से बाहर निकाला है। मैं यही समझी कि संस्कृत के लालित्य-सागर में अवगाहन करने वाले कवि सचमुच प्रजापति हैं, अपनी शक्ति सुधा से विष को भी अमृत बनाने में सशक्त हैं। मैं इस ‘ज्ञ’ देवता को मानस में अधिष्ठित कर व्याकरण के सभी रहस्य समझती रहूँगी। यह मेरा विश्वास है।

मेरी उपलब्धियाँ हैं। मैं स्वाध्याय निरत हूँ। अक्षर ज्ञान से लेकर व्याकरण सीखने तक जिन गुरुओं के अन्तःवासित्व का सौभाग्य मिला वे एक एक करके भौतिक उपस्थिति से दूर होते चले गये पर बुद्धि में सबका स्थान बनता चला गया। गुरुकुल वास के पश्चात् कॉलेज के अध्ययन ने मेरे जीवन की दिशा बदल दी। लीडरशिप का इंस्टिंक्ट उभरने लगा,

एक क्रान्तिकारी जीवन ने पहली सांस ली। फिर मेरे भावी पूज्य श्वसुर नामशेष रघुनन्दनशरण दुबलिश का आगमन मेरे वैचारिक जीवन में हुआ। उनकी सम्मन्त्रणा थी कि यदि आन्दोलन प्रिय है तो गृहस्थी इसके उपयुक्त नहीं होगी। मेरे विचारों का क्रुद्ध सिंह धीरे धीरे गोत्व में बदलने लगा। पिता पुत्र (मेरे ससुर और पति) जो मेरे भौतिक परिवेश से दूर हो चुके हैं, आज भी अपने सूक्ष्म शरीर से मुझमें विद्यमान हैं।

मेरे श्वसुर मेरे गार्हस्थ्य के पथ प्रदर्शक रहे। उन्हीं की कृपा से मैं आज 75 वर्ष में पदार्पण किये हुए भी युवा महिला की भांति विद्याध्ययन में रत हूँ। उनमें व्यवहार की ऋजुता और पुस्तकीय ज्ञान का गाम्भीर्य सहवास करते थे। मेरी परिस्थिति, मेरे उत्तरदायित्वों की गम्भीरता उन्हें पूरी तरह से ज्ञात थी। 1947 में मैंने बी.ए. की परीक्षा दी, परिणाम घोषित हुआ। मेरा रोल नं० लेकर वे अखबार देखने लगे और तृतीय श्रेणी में मेरा नं० न देखकर उन्होंने घेपित कर दिया कि रमा फेल हो गई। सौभाग्य से मैं अनुत्तीर्ण नहीं हुई थी। द्वितीय श्रेणी में 5 वे नं० पर मेरा रोल नं० था। अनावश्यक विवरण देने से कोई लाभ नहीं, बस इतना ही कह सकती हूँ यदि मुझे मेरे पूज्य श्वसुर का मार्गदर्शन न मिलता तो मैं केवल गृहस्थ की चार दीवारी में ही बन्द खिड़कियों में पड़ी होती।

‘महाकाव्यों में कविसमय’ इस विषय पर पीएच.डी. करते हुये मुझे एक गुरु मिले—स्वर्गीय डा. श्रीनिवास शास्त्री। जन्म से उनकी कोई भी जाति रही हो वे वृत्ति से सच्चे त्यागी विप्र थे (विशेषण प्राति पुनाति स्वात्मानमन्यानपि वा)। वे जाति—पाति के भेदभाव को राष्ट्रोन्नति का कण्टक मानते थे। शिक्षा और ज्ञान की दृष्टि से वे दर्शन और काव्यशास्त्र—निष्णात एक लब्ध प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। उनके गुरु डा. धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री ने उनकी प्रतिभा को पहचान उसे विकसित होने के लिए क्षेत्र दिया, निश्चय ही कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय का प्रांगण उनकी प्रज्ञा व प्रतिभोन्मेष के लिए एक वरदान रहा। मैंने अपने गुरु आदरणीय श्रीनिवास जी से अनुसन्धान की विधि सीखी जिसका उपयोग मैं अपने सेवानिवृत्त जीवन में कर रही हूँ। (अपनी कुछ शिष्याओं से ऐसा सम्बन्ध हो गया है जिसको मैं कोई निश्चित नाम नहीं दे पाती हूँ। मधु (आर. जी. कॉलेज, मेरठ में संस्कृत विभाग की अध्यक्ष), उसकी बहिन पूनम (आर. जी. कॉलेज मेरठ में ही प्रवक्ता—पद पर आसीन) मेरे अत्यन्त निकट हो गई हैं। न जाने मुझमें क्या दूँढती रहती हैं। प्रत्येक बार दृष्टिगोचर होने पर दुगने उत्साह व हर्ष से मिलती, उनकी निष्ठा मेरे लिये अनुकरणीय है।)

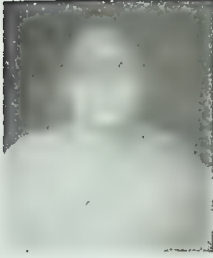
अब मैं अपना एक अनुकरणीय गुरु और बताती हूँ जो मेरे सहारनपुर निवास के 15 वर्षों में मेरे साथ रहा। मैं 15 अक्टूबर सन् 1970 को मुन्नालाल कॉलेज में रीडर के पद के लिये इण्टरव्यू देने आई थी। मुझे नहीं पता किन परिस्थितियों में केवल संस्कृत विभाग को ही रीडर की आवश्यकता हुई। खैर मेरी नियुक्ति हुई मैं पहली बार सिरा बैनर्जी से मिली। मुझे उसका व्यक्तित्व विलक्षण लगा। वह ईश्वर प्रदत्त अस्मिता, महिमा तथा गौरव की प्रतिमा

सी प्रतीत हुई। प्रोफेसर दुबलिश (मेरे पति) को यह व्यक्तित्व बहुत सराहनीय लगा। हम सहारनपुर में अच्छे पड़ोसी की भांति रहे। जीवन का इतिहास सुनाने में मेरी रुचि नहीं पर जो अनुकरणीय गुरु मुझे सिप्रा में दिखाई दिया उसे कहे बिना यह निबन्ध अधूरा ही रहेगा। मेरी प्रिय शिष्या पूनम शर्मा जो मेरे बहुत निकट थी, कहा करती थी कि सिप्रा दीदी पढ़ाती बहुत अच्छा हैं। मैं सवाल कर उठती क्या विशेषता है उनके शिक्षण की तो उसका उत्तर जो होता था उसे मैं अपने शब्दों में बता रही हूँ, 'उत्तररामचरित पढ़ाते हुए सिप्रा दीदी भवभूति बन जाती हैं और अपनी सारी अनुभूतियाँ रस में उड़ेलकर बहने के लिए छोड़ देती हैं।' मैं व्याकरण और फिलोसॉफी की शिक्षिका उस रस को क्या जानूँगी। परन्तु नहीं, आज जब संस्कृत की बच्चियाँ मुझसे कुछ पूछने के लिये आती हैं तो मेरे पास से बोध की बदली में स्नान करके जाती हैं। सिप्रा की रसमयी शैली से मैं पूर्णतया अभिज्ञ हूँ। व्यञ्जना के नन्हें नन्हें से सुबोध व पटु वर्णविन्यास तत्काल तो नहीं पर धीरे धीरे बुद्धि में व्याप्त होकर चिरस्थायी आनन्द का आभास देने लगते हैं।

सिप्रा प्रौढ़ हो गई है। उसने निःसन्देह अनाविल कौमार्य व्रत निभाया है। उसकी लेखनी सशक्त होती नज़र आ रही है। कैसा मधुमय है उसका व्रत। रोग आये, छाये और कण्टक भी बिछाकर भाग गये, पर उसकी सशक्त आत्मा पर कोई प्रहार न कर सका। गृहस्थी के सारे उत्तरदायित्व जो इस व्रत-दौर्बल्य से उसके व्यक्तित्व को क्रान्त कर सकते थे, सिमट कर बैठ गये और उसकी अनवरत लेखनी के प्रवाह में बहने लगे। न तट के वृक्षों को उखाड़ा न तट की मर्यादा को तोड़ा। शिष्यों के प्यार व समादर की सरिता उसकी सब बाधाओं को हरने लगी। वह दृढ़ इच्छा शक्ति की प्रतीक है। शासन का अकिंचन राग उसे लुभा न सका। वह मेरी प्रेरणा स्रोत है। मैं उसे प्यार करती हूँ, उसका सम्मान करती हूँ। वह पहले से अधिक परिपक्व हो गई है। समय की मांग को वह टुकराती नहीं पर मैं जानती हूँ वह बुराई से समझोता नहीं करेगी। यही उसका गुरुत्व है। कहने को तो बहुत कुछ है पर भावों के जाल में मैं गुंथ न जाऊँ इसलिए एक ही वाक्य में कथन की इतिश्री करती हूँ, 'गुरु वह नहीं, जो पढ़ाता है, गुरु वह है जो सिखाता है, अभ्यास कराता है, जीवन के सुख दुःख को सहने की क्षमता उत्पन्न करता है, अपनी अध्यापन शैली से और और जानने की जिज्ञासा बढ़ाता है।' तभी तो हमारे वैयाकरण पाणिनि ने शिक्षा के अभ्यास, मर्षण, जिज्ञासा और ज्ञान— ये अर्थ बताये हैं। वयोवृद्ध होने के नाते मध्यम पुरुष एक वचन का प्रयोग मैंने सिप्रा के लिये किया पर वह है अनुकरणीय गुरु।

लेखिका परिचय

उत्तर प्रदेश के जिला बुलन्दशहर का एक छोटा सा कस्बा सयाना। वहाँ के समृद्ध, सुसंस्कृत रायबहादुर फकीरचन्द जी और श्रीमती रामकली जी के जीवन प्रांगण में जो कली 17 जनवरी 1925 में विकसित हुई वही कालान्तर में विद्यालंकृता डॉ० श्रीमती रमा दुबलिश नाम से संस्कृत



जगत् में सुपरिचित हुई। विद्यानुरागी माता पिता ने बालिका रमा को विद्यार्जन हेतु कन्या गुरुकुल देहरादून में भेज दिया। गुरुकुलीय संस्कारों से संस्कृत रमाजी वहां से प्रथम श्रेणी में विद्यालंकृता की उपाधि प्राप्त करने के उपरान्त महादेवी कन्या पाठशाला देहरादून से स्नातक बनी। विद्यानुरागिणी रमा जी ने हिन्दी तथा संस्कृत में एम०ए० तथा पीएच०डी० की उपाधि भी समय के साथ प्राप्त की। मेरठ कालिज मेरठ में अंग्रेजी विभाग में प्रवक्ता पति अब कीर्तिशेष वीरेन्द्र कुमार दुबलिश जी के साहचर्य में अंग्रेजी साहित्य का भी प्रचुर अध्ययन किया।

सरकारी शिक्षा संस्थानों में अध्यापन प्रारम्भ करने वाली रमा जी ने रघुनाथ गर्ल्स कालिज मेरठ में प्रवक्ता पद पर कार्य किया, फिर सहारनपुर के मुन्नालाल जयनारायण खेमका पी.जी. गर्ल्स कालिज में अक्टूबर 1970 में संस्कृत विभाग में रीडर तथा अध्यक्ष पद पर नियुक्त हुई तथा प्राचार्य पद तक उनकी प्रतिष्ठा हुई। जून 1985 में वहीं से वे दीर्घ अध्यापन जीवन-यापन के पश्चात् ससम्मान सेवा निवृत्त हुईं।

सेवा निवृत्ति श्रीमती दुबलिश के लिए विश्राम अथवा निष्क्रियता का नामान्तर नहीं बनी वरन् वे अधिक सक्रिय हो गईं। जीवन-सहचर के अकाल धराधाम का परित्याग करने के उपरान्त उन्होंने अपने पारिवारिक दाय-दायित्वों का निर्वाह किया तथा विश्राम का क्षण पाने पर स्वयं को पूर्णरूपेण सरस्वती की साधना में निरत कर दिया। परिणामतः जहाँ एक ओर दस से अधिक शोध छात्राओं का शोध निर्देशन कर चुकी हैं वहीं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से स्वीकृत मेजर रिसर्च प्रोजेक्ट के अन्तर्गत शोध कार्य सम्पन्न किया है जो आज 'अमरकोषस्य वातायनात्' नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशनाधीन है। गुरुकुलीय शिक्षा ने जहां उनके संस्कृत भाषा पर अधिकार को पुष्ट किया वहीं उनकी प्रतिभा ने उनके भावों और पाण्डित्य को आकार दिया फलतः समय समय पर उनके अनेक शोधपत्र, अधिकतर संस्कृत में, प्रकाशित होते रहते हैं।

विदेश-मन्त्रालय में कार्यरत अपने कनिष्ठ पुत्र के साथ उन्हें श्रीलंका तथा जर्मनी जाने का अवसर मिला। पण्डिता रमा दुबलिश ने वहां भी अपने पाण्डित्य की छाप छोड़ी। 1990-91 में श्रीलंका के जयवर्धने यूनिवर्सिटी में उन्होंने संस्कृत विभाग में कन्सलटेन्ट प्रोफेसर के रूप में अवैतनिक कार्य किया तो 1996 में हैम्बर्ग यूनिवर्सिटी जर्मनी में अवैतनिक रूप से वे दो शिक्षा सत्रों में अध्यापन कर चुकी हैं।

इस समय वे आल इण्डिया संस्कृत पत्रिका की सदस्या हैं। परिपक्व अवस्था में भी उनका लेखन, पठन पाठन वस्तुतः प्रशंसनीय है।



अनुकरणीय गुरु श्री सूर्यपाल सिंह

श्री माताप्रसाद

मुझे लोअर प्राइमरी, प्राइमरी और मिडिल स्कूलों में विभिन्न गुरुओं से कुछ कुछ समय तक शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला। सन् 1942 में हिन्दी मिडिल और सन् 1943 में उर्दू मिडिल पास किया। सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के कारण हाई स्कूल या कालिज में शिक्षा प्राप्त करने का अवसर ही नहीं मिला। जब मैं सन् 1939 में मिडिल स्कूल, मछली शहर, जिला जौनपुर उ.प्र. में पढ़ने गया तो वहां के कई अध्यापक अलग अलग विषय पढ़ाते थे। सभी अध्यापकों का कुछ न कुछ प्रभाव तो अपने विद्यार्थियों पर होता ही है परन्तु मुझे जिन्होंने सबसे अधिक प्रभावित किया वे थे बाबू सूर्यपाल सिंह जी जिन्हें सब बाबू साहब कह कर पुकारते थे। मैंने सन् 1940-41 में कक्षा छः तथा 1941-42 में कक्षा सात की परीक्षा उत्तीर्ण की। बाबू सूर्यपाल सिंह जी दोनों वर्ष मेरे कक्षा इंचार्ज थे और इन दोनों वर्षों में मुझे उनके निकट सम्पर्क में रहने का अवसर मिला।

श्री सूर्यपाल सिंह जी का व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली था। वे बहुत मोटे और तगड़े शरीर के थे। बाबू साहब बहुत तेज बोलते थे। उस समय के पढ़ाने की पद्धति ही कुछ अलग थी। इतिहास और भूगोल के अधिकतर नोट लिखवाकर रटाये जाते थे। वह रटना कुछ इस तरह दिमाग में बैठ गया कि मुझे आज भी प्राचीन काल और मध्यकाल के इतिहास की घटनाओं की तिथियां याद हैं। भूगोल में नक्शों में स्थान दिखलाकर पढ़ाया जाता था। हिन्दी भाषा मौखिक पढ़ाकर उसके बाद पद्यों का अर्थ लिखाया जाता था। गणित में लंगड़ी, भिन्न चक्रवृद्धि व्याज, लाम-हानि, प्रतिशत आदि के सवाल हल कराये जाते थे। इस प्रकार बाबू साहब विभिन्न विषय विभिन्न ढंग से पढ़ाते थे परन्तु यह सब कुछ पढ़ाते हुए उनका व्यवहार हमेशा अपनत्व लिये हुए होता था। अपनेपन के साथ उनका अनुशासन कड़ा था। गलतियों पर छड़ियां खानी पड़ती थी।

हमारे इन गुरुजी के मन में छल कपट नाममात्र भी नहीं था। जातीय अहं उनमें बिल्कुल नहीं था। सच तो यह है कि समाज में उस समय अछूतों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं होता था लेकिन उस पाठशाला में पढ़ते हुए मुझे इसका कभी अनुभव नहीं हुआ। उसका एक कारण तो शायद यह था कि मछलीशहर कस्बे में मुसलमानों का प्रभुत्व था।

वे छुआछूत नहीं मानते थे। कस्बे में पिछड़ी जाति और बनियों की संख्या अधिक थी। मुस्लिम नाई और धोबी थे। इसलिए हमें छुआछूत का सामना नहीं करना पड़ा। दूसरी ओर बाबू साहब जी भी सभी छात्रों के साथ, उसकी जाति अथवा आर्थिक स्थिति पर ध्यान दिये बिना, समान व्यवहार करते थे। सबके पाठ्यक्रम को पूरा कराने की, सबको आगे बढ़ाने की ही इच्छा बलवती थी। इसीलिये मुझे गुरुजनों, विशेषकर मिडिल स्कूल तक बाबू साहब के कारण जातीय तिरस्कार का सामना नहीं करना पड़ा।

मेरे इन अनुकरणीय गुरु की शैक्षिक योग्यता क्या थी, मुझे मालूम नहीं और न कभी जानने की इच्छा हुई या आवश्यकता अनुभव की। हां, इतना पता है कि उस समय साधारणतया हिन्दी-उर्दू मिडिल पास करके दो वर्षीय नार्मल ट्रेनिंग का प्रशिक्षण लेकर मिडिल स्कूलों में सीधे अध्यापक हो जाते थे। हमें इतना पता है कि हमारे गुरु जी का गणित का ज्ञान इतना था कि आजकल के बी.ए. के छात्रों को भी उतना ज्ञान नहीं होगा। उन्हें ज्यामिति के सभी सिद्धान्तों का ज्ञान भी खूब था। अपने ज्ञान के साथ वे विद्यार्थियों के प्रयासों को सफल करने में हमेशा सहायक बने रहते थे, उनकी शंकाओं का समाधान करने में सक्षम थे चाहे वह पाठ्य पुस्तक विषयक शंका हो अथवा सामान्य विषय की। इस सन्दर्भ में मुझे एक बात याद आ रही है। एक बार मैंने उनसे पूछा, 'लोग सूर्य को देवता क्यों कहते हैं?' उन्होंने बहुत सीधा-सादा पर सारगर्भित उत्तर दिया, 'जो हमें कुछ देता है, वह देवता है। सूर्य हमें रोशनी देता है, इसलिये देने के कारण ही उसे 'देवता' कहते हैं।'।

बाबू सूर्यपाल जी की दिनचर्या बहुत नियमित और अनुशासित थी। वे हर हफ्ते सोमवार को अपने घर कुंवरपुर, जो मछलीशहर से पांच मील दूर था, से इक्के में मछलीशहर स्कूल आते थे और हर शनिवार को घर चले जाते थे। वे रात को स्कूल के हॉस्टल में ही रहते थे। हम छात्रगण रात को भी उनसे पढ़ा करते थे। उस समय हम लोगों की दिनचर्या थी-प्रातः चार बजे उठना और छः बजे तक पढ़ना। इसके बाद एक घंटे की छुट्टी दिशा मैदान के लिए। सात से आठ बजे तक क्लास चलती, फिर खाने की छुट्टी होती। फिर दस बजे से शाम चार बजे तक क्लास अटैण्ड करना। शाम चार बजे से छः बजे तक फिजिकल मार्चिंग और फिर छः बजे से आठ बजे तक खाने की छुट्टी। रात को फिर आठ बजे से दस बजे तक पढ़ाई होती थी। इस पूरी दिनचर्या में बाबू साहब का पूरा सहयोग होता था। इस कारण ज्ञान अर्जन के साथ साथ हमारे व्यक्तित्व विकास में भी उनका पूर्ण योग रहा। उनके साथ व्यतीत किये हुए उन दो वर्षों के समय से ही मैंने प्रातः चार बजे जगकर पढ़ना और रात दस बजे सोना सीखा है। मैं जब अध्यापक रहा तब भी और आज राज्यपाल के दायित्व को निभाते हुए भी वही पुरानी आदत कायम है।

हमारे गुरु जी बहुत सादा जीवन व्यतीत करते थे। वे रात को स्कूल के एक कमरे में चारपाई पर लेटे हुए या बैठे हुए हमें पढ़ाया करते थे। उसी कमरे में पुआल बिछा होता, हम लोग उस पर बैठ कर पढ़ते फिर वहीं सब, जिसके पास जो ओढ़ना होता था, उसे ओढ़कर सो जाते थे। बाबू साहब तम्बाकू बहुत पीते थे। पीतल का एक बड़ा हुक्का था उनके पास। बाबू साहब के लिये मुझे दिन में और रात में भी तम्बाकू चढ़ाकर देना पड़ता था। शाम को पढ़ाते समय जब वे लेटकर पढ़ाते थे, उस समय उनके पैर भी मुझे दबाने पड़ते थे। इतना होने पर भी मुझे कभी यह काम बोझ नहीं लगता था क्योंकि वे हमें खूब पढ़ाते थे, मेहनत से पढ़ाते थे और उल्लेखनीय बात यह है कि हमसे कुछ अपेक्षा नहीं रखते थे। न कभी वेतन का रोना था न अन्य असुविधाओं की चर्चा, केवल छात्रों को आगे बढ़ाने की चिन्ता थी।

मेरे गुरु की छात्रों को आगे बढ़ाने की चिन्ता ने ही मेरे जीवन को एक नई दिशा दी। आगे बढ़ने का मार्ग प्रशस्त किया। हर विषय में पढ़ने में मैं सबसे आगे था और मुझ पर उनका पूरा विश्वास था। हमारे मिडिल स्कूल में एक लाइब्रेरी थी जिसकी पूरी जिम्मेदारी उन्होंने मुझ पर सौंप रखी थी। इस लाइब्रेरी के वे ही इन्चार्ज थे पर उन्होंने कभी स्वयं लाइब्रेरी का काम नहीं देखा। मैं ही अन्य अध्यापकों तथा छात्रों को पुस्तकें देता था और वापस जमा करता था। एक रजिस्टर पुस्तकों की सूची का था और दूसरा पुस्तक लेने वाले और जमा करने वालों का था। मैं रजिस्टर में नाम दर्ज करता और उनसे हस्ताक्षर करवाता। इस लाइब्रेरी के काम से मुझे एक बहुत बड़ा लाभ हुआ कि उसकी बहुत सी पुस्तकें मैं पढ़ गया जिनमें जार्ज वाशिंगटन, गारफील्ड, अब्राहम लिंकन, हिटलर, मुसोलिनी, अतातुर्क कमालपाशा, नेपोलियन बोनापार्ट के अतिरिक्त महात्मा गांधी की आत्मकथा, पंडित नेहरू की मेरी कहानी आदि उल्लेखनीय पुस्तकें हैं। इनके अतिरिक्त टीका सहित बिहारी सतसई तथा कुछ उपन्यास आदि भी पढ़ डाले। महापुरुषों की जीवनी पढ़ते समय कभी कभी मन में प्रश्न उठता 'क्या मैं ऐसा नहीं बन सकता?'

मेरे गुरु का मेरे जीवन में एक अन्य बहुत बड़ा योगदान है। हुआ यूँ कि वे मुझे अच्छा विद्यार्थी होने के कारण बहुत पसन्द करते थे। उस समय रजिस्टर में मेरा नाम 'मितई राम' था। एक दिन बाबू साहब ने कहा 'तुम्हारा नाम ठीक नहीं है। मैं तुम्हारा नाम 'माताप्रसाद' कर देता हूँ।' उन्होंने रजिस्टर मंगाया और 'मितई राम' के सामने 'माताप्रसाद' लिख दिया। अगले वर्ष कक्षा सात में फाइनल परीक्षा में फार्म भरते समय मेरा नाम 'मितई राम' उर्फ 'माताप्रसाद' हो गया। कक्षा सात के प्रमाण पत्र में भी यही नाम रहा। आगे प्राइवेट हाई स्कूल की परीक्षा जब मैंने पास की तब भी यही उर्फ वाले दोनों नाम मेरे रहे। उर्दू मिडिल, कोविद, विशारद, साहित्य रतन और बी.टी.सी. की परीक्षाओं के प्रमाण पत्रों

में भी दोनों नाम रहे किन्तु व्यवहार में मैं माताप्रसाद हो गया। इस प्रकार 'मितईराम' को 'माताप्रसाद' बनाने का श्रेय: मेरे गुरु जी को है।

नाम के साथ मेरे कर्मक्षेत्र में उन्नति की ओर बढ़ाने में भी बाबू सूर्यपाल सिंह जी का योगदान अविस्मरणीय है। सन् 1942 में हिन्दी मिडिल, सन् 1943 में उर्दू मिडिल पास कर सन् 1946 में एच.टी.सी की दो वर्षीय टीचर्स ट्रेनिंग गोरखपुर से जब मैं पास करके आया तो डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के स्कूल में मैं अध्यापक हो गया। सन् 1949 के जुलाई माह में बाबू सूर्यपाल सिंह ने अपने गांव कुंवरपुर में होरिलराव मिडिल स्कूल की स्थापना करनी चाही। उस समय डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के चेयरमैन श्री राऊफ जाफरी साहब थे जो स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी थे और मछली शहर के ही रहने वाले थे। बाबू जी एक अन्य स्वतन्त्रता संग्राम सेनानी श्री अमर बहादुर सिंह तथा कुंवरपुर के कुछ अन्य विशिष्ट लोगों को लेकर श्री राऊफ जाफरी साहब के पास गए तथा बिना मुझसे पूछे ही ऑन डेपुटेशन अपने नए जूनियर हाई स्कूल में मुझे हेडमास्टर बनाने की स्वीकृति उनसे ले ली। मुझे बाद में बुलाकर इसके लिए आवेदन पत्र ले लिया गया। मेरे गुरु को शायद मेरी योग्यता और परिश्रम पर विश्वास था कि मैं उनका स्कूल चला लूंगा इसीलिए उन्होंने मुझसे पूछने की जरूरत भी नहीं समझी। खैर, मैं कुंवरपुर गया। पहले कुछ दिन अकेले जाता रहा, फिर एक और अध्यापक को मेरी सहायता के लिये दिया गया। उस समय आसपास के कई दूसरे मिडिल स्कूलों से कई छात्र अपना अपना स्कूल छोड़कर मेरे स्कूल में पढ़ने आने लगे। अधिकतर छात्र मेरे से उम्र में मात्र पांच छः साल छोटे थे पर वे मेरा पूरा सम्मान करते थे। वह विद्यालय अच्छा चल निकला। आजकल वह 'होरिलराव इन्टर कालिज, कुंवरपुर' नाम से जाना जाता है और बहुत अच्छा चल रहा है। वस्तुतः मेरे गुरु बाबू सूर्यपाल सिंह जी का मेरे जीवन पर जो प्रभाव पड़ा, जो दिशा-निर्देश मिला, उसे मैं कभी भूल नहीं सकता।

अपने अनुकरणीय गुरु को स्मरण करते हुए मेरा ध्यान अनायास आज की शिक्षा-पद्धति तथा गुरु-शिष्य सम्पर्क की ओर चला गया। आज गुरु-शिष्य का सम्पर्क अच्छा नहीं रहा गया है। अधिकतर गुरु आदर्श स्थापित नहीं कर पा रहे हैं। दोनों में दूरी बढ़ रही है। अधिकतर पब्लिक स्कूलों के अध्यापक छात्रों का क्लास लेने के बाद ट्यूशन करना चाहते हैं। ट्यूशन न करने पर या क्लास टीचर के अतिरिक्त किसी अन्य से ट्यूशन पढ़ने पर वे अपने विषयों में उन्हें अनुत्तीर्ण तक कर देते हैं। साधारण आर्थिक स्थिति के छात्र तो ऐसे स्कूलों में शिक्षा प्राप्त करने से इसी कारण वंचित ही रह जाते हैं। ऐसे गुरुजनों के प्रति छात्रों की क्या श्रद्धा होगी? कुछ अध्यापक अपने चहेते छात्रों को परीक्षा में अनुचित लाभ पहुंचाने की कोशिश करते हैं। कुछ अध्यापक अपनी जातीय

भावना के चलते चहेते छात्रों को प्रेक्टिकल परीक्षा में अच्छे नम्बर देते या दिलवाते हैं। ऐसे अध्यापक गुरु की महत्ता को गिरा रहे हैं, इसी कारण छात्रों में असन्तोष और अनुशासनहीनता बढ़ रही है। बार बार अध्यापकों की हड़ताल भी उनके सम्मान को गिरा रही है। जब तक गुरु आत्मीयता के साथ छात्रों को शिक्षा नहीं देंगे, उनका आदर नहीं बढ़ेगा। सभी अध्यापकों के व्यवहार, योग्यता, परिश्रम की जानकारी छात्रों द्वारा उनके संरक्षकों को होती रहती है। स्कूलों-कालिजों में अध्यापकों के भय से छात्र उनके गुण-दोषों को भले न बता सकें, लेकिन संरक्षकों को तो वे सब कुछ बता देते हैं। इसी पैमाने के आधार पर जनता अध्यापकों के बारे में सब कुछ जानती रहती है।



लेखक परिचय

श्री माताप्रसाद जी का जन्म उत्तर प्रदेश के जिला जौनपुर के मछली शहर में काजियाना में 11 अक्टूबर 1925 को हुआ। पिता स्व. श्री जगरूप राम और माता श्रीमती रज्जी देवी दलित जाति के होने तथा आर्थिक दृष्टि से अत्यधिक पिछड़े होने के कारण संघर्षमय जीवन व्यतीत करते थे। स्वाभाविक रूपेण माताप्रसाद जी का भी संघर्षों से निकट का परिचय रहा। उस

विषम परिस्थिति में भी माताप्रसाद जी ने 1942 तथा 1943 में क्रमशः हिन्दी मिडिल और उर्दू मिडिल तथा 1952 में हाई स्कूल (प्राइवेट) परीक्षा पास की। साहित्यरत्न और एच.टी. सी. (1946) की परीक्षाएं भी उत्तीर्ण कर ली। आपने अपना जीवन अध्यापन से प्रारम्भ किया तथा 1946 से 1955 तक उत्तर प्रदेश के जिला बोर्ड तथा प्राइवेट शिक्षा संस्थाओं में अध्यापन किया।

अध्यापन से आपका पदार्पण राजनीति में हो गया। कांग्रेस की सक्रिय राजनीति में भागीदार बन आप उत्तर प्रदेश के विधान-सभा सदस्य के रूप में बिना किसी व्यवधान के लगातार 1957 से 1977 तक बीस वर्ष विधान सभा में जाते रहे। सन् 1980 से 1992 के दो सत्र में आप विधान परिषद् के सदस्य बने। इसी अवधि में 1988-1989 में आपने राजस्व मन्त्री, उत्तर प्रदेश का कार्यभार सम्भाला।

माताप्रसाद जी की सक्रियता का परिचायक है कि वे समय समय पर अनेक दायित्वपूर्ण पद सम्भालते रहे हैं यथा उत्तर प्रदेश कांग्रेस कमिटी के महामन्त्री 1971 से 1973 तथा 1980 से 1982 तक रहे। उत्तर प्रदेश कांग्रेस विधायक मंडल दल के महामन्त्री 1982 से 1986 तक एवं कोषाध्यक्ष 1986 से 1992 तक रहे। एस.सी.एस.टी. सेल उ.प्र.

कांग्रेस कमिटी का संयोजक का पद भी आपने 1982 से 1988 तक सम्भाला। इसके अतिरिक्त समय समय पर आप उत्तर प्रदेश के वेतन आयोग, आवास विकास परिषद, अल्प संख्यक आयोग, लीगल एड एण्ड एडवाइजरी बोर्ड के सदस्य रहे तो ए. बी. टी. कानपुर के डायरेक्टर, अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति एवं विमुक्ति जाति सम्बन्धी विधान मंडल की संयुक्त समिति के चेयरमैन और जनपद हिन्दी साहित्य सम्मेलन जौनपुर के अध्यक्ष पद को भी सुशोभित कर चुके हैं।

आप 21.10.1993 से 1999 तक अरुणाचल प्रदेश के महामहिम राज्यपाल रहे। इस अवधि में आपने पूर्वोत्तर परिषद् मुख्यालय शिलांग, मेघालय के चेयरमैन के दायित्व का भी निर्वाह किया।

माताप्रसाद जी एक राजनेता तथा राजनीतिज्ञ ही नहीं, वे सच्चे अर्थों में हिन्दी-प्रेमी तथा साहित्यकार भी हैं। साहित्य की विविध विधाओं में उनकी एकाधिक रचनाएं प्रकाशित हैं। काव्य विधा में उनकी रचनाएं हैं— दलित जाति सम्बन्धी लोकगीत, एकलव्य (खण्डकाव्य), राजनीति की अर्धसतसई, परिचय सतसई। नाटकों में उल्लेखनीय हैं अछूत का बेटा, धर्म के नाम पर धोखा, वीरांगना झलकारी बाई, प्रतिशोध आदि। भीमशतक तथा दिग्विजयी रावण उनके प्रबन्धकाव्य हैं। समीक्षात्मक अथवा शोधपरक रचनाओं में परिगणित किया जा सकता है 'हिन्दी काव्य में दलित काव्य धारा, उत्तर प्रदेश की दलित जातियों का दस्तावेज। पूर्वोत्तर भारत के राज्य अरुणाचल प्रदेश के राज्यपाल के रूप में उस प्रदेश के गहन अध्ययन का प्रतिफल है 'मनोरम भूमि अरुणाचल प्रदेश'। उनकी एक और उल्लेखनीय रचना है 'दलित जीवन के खट्टे मीठे अनुभव।' पंचम विश्व हिन्दी सम्मेलन में ट्रिनिडाड-टुबैगो में आप भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के नेता रूप में 1996 में सम्मिलित हुए थे।

माताप्रसाद जी के व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य तथा कृतित्व के मूल्यांकन स्वरूप समय समय पर उन्हें अनेक सम्मान तथा पुरस्कारों से अलंकृत किया गया है। कतिपय का नामोल्लेख किया जा रहा है— डा. अम्बेडकर राष्ट्रीय एवार्ड (1988) (दलित साहित्य अकादमी, नई दिल्ली), कीर्ति भारती (1994), (हिन्दी प्रचारिणी सभा, कानपुर), डा. अम्बेडकर कीर्ति सम्मान (1994), (नेशनल प्रेस इन्डिया, नई दिल्ली)। इनके अतिरिक्त विभिन्न अन्य संस्थाओं से प्राप्त सम्मान हैं— साहित्यभूषण (1995), जवाहर लाल नेहरू एक्सलेंस सम्मान (1996), मानव सेवा शिखर सम्मान (1996), हिन्दी गौरव (1996), लोक मित्र (1997), तथा ग्लोरी आफ इन्डिया इन्टरनेशनल एवार्ड (1997) आदि।

आपने अनेक सम्मानित पद सुशोभित किये हैं यथा डा. अम्बेडकर फिल्म निर्माण-पाण्डुलिपि समिति के चेयरमैन (1994) थे तथा त्रिपुरा दलित साहित्य सभा द्वारा 1996 में विशेष सम्मानित हुए। अपनी समस्त राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक गतिविधियों की व्यस्तता के साथ साथ अनेक शोध संस्थानों, विश्वविद्यालयों आदि में राष्ट्र भाषा हिन्दी, दलित साहित्य तथा ट्राइबल विषयक सेमीनारों में भी भाग लेते रहे हैं। माताप्रसाद जी के सम्मानार्थ 1997 में डा. एन सिंह द्वारा सम्पादित 'श्रीमाताप्रसाद अभिनन्दन ग्रन्थ शिखर की ओर' का प्रकाशन हुआ।



संस्मरण शिवजी का: प्रसंग उनके क्रोध का

विद्यावाचस्पति डा० श्रीरंजन सूरिदेव

आचार्य शिवपूजन सहाय हिन्दी के युगप्रवर्तक साहित्यकार हैं। वस्तुतः हिन्दी वर्तमान युग 'शिव-पूजन-युग' के नाम से ही सम्बोध्य है। द्विवेदी युगीन हिन्दी की संरचना या ढांचे को ततोऽधिक दृढता प्रदान करने के लिए उनके जैसा आत्मयोगी और आत्मविश्वासी हिन्दीसेवी की द्वितीयता नहीं है। हिन्दी को कारगर बनाने वाले या उसे मजबूत स्थिति में लाने वाले जीवन दानियों की परम्परा में आचार्य शिवजी अग्रिम पंक्ति में प्रतिष्ठित हैं।

आचार्य शिवजी ने हिन्दी को अपने जीवन का पर्याय नहीं वरन् प्रतिरूप मान लिया था। उन्होंने अपनी 'हिन्दीभूषण' उपाधि को पूर्णतः अन्वर्थ किया था। भाषिक स्तर पर हिन्दी हित-विरोधी प्रश्नों पर अपनी साधनापूत लेखनी की तीक्ष्णाक्षरता के प्रदर्शन के क्रम में, अनमनीयता के 'आत्मज्ञापन' में वह जितने स्पष्ट थे, आत्मजीवनगत भावाभाव के प्रति 'आत्मगोपन' में उतने ही तत्पर थे। उन्हें अपनी शालीन छवि की सुरक्षा की विशेष चिन्ता रहती थी, इसलिए आत्मचरित का सतर्क पर्यवेक्षण उनका सहज धर्म बन गया था।

आचार्य शिवजी का छलकते आत्मविश्वास से दीप्त निश्छल व्यक्तित्व सम्मोहक वत्सलता से परिपूर्ण था। कठिन परिस्थितियों में भावुकता उनकी पहचान अवश्य बन जाती थी परन्तु अतिवादी प्रतिक्रिया उनके निर्मल मन को कभी छू भी न पाती थी किन्तु यह समझ लेने की भूल कदापि नहीं करनी चाहिए कि उनकी सैद्धान्तिक वैचारिकी चित्त-विकलन की स्थिति में पहुंच जाती थी। सही बात तो यह है कि उनका सिद्धान्त इतना पक्का था कि उसे बाकी लोगों की तरह किसी महत्वाकांक्षी प्रलोभन द्वारा आसानी से दबाया नहीं जा सकता था। मन-वचन-कार्य में एकता के कारण उनके व्यक्तित्व में निर्भयता ही निर्भयता थी, डर और विवशता की स्थिति कभी नहीं आती थी। सन्त्रास और कुण्ठा, ये दो शब्द उनके जीवन-कोश में नहीं थे।

आदि कवि वाल्मीकि ने राम के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि राम एक ओर क्रोध में कालानल के समान थे तो दूसरी ओर क्षमा में पृथ्वी की तरह 'कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः।' (बालकाण्ड: 1.18) प्रबल रामभक्त आचार्य शिवजी में भी क्रोध और क्षमा का अद्भुत सन्तुलन था। वह महान् आत्मा से सम्पन्न थे,

इसलिए 'महात्मा' थे। महात्माओं के बारे में महान् नीतिकार नारायण पण्डित ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'हितोपदेश' में लिखा है कि महात्मा यदि किसी से प्रेम करते हैं तो उसे आमरण निबाहते हैं, उनका क्रोध तो तत्क्षण विनाशशील होता है और यदि वे किसी का परित्याग करते हैं, तो फिर उसके प्रति कभी आसक्त नहीं होते, निःसंग हो जाते हैं।

आमरणान्ताः प्रणयाः कोपास्तत्क्षणभंगुराः ।

परित्यागाश्च निःसंगा भवन्ति हि महात्मनाम् ॥ (मित्रलाभः श्लोक 192)

आचार्य शिवजी जितने भीतर से क्रुद्ध होते थे, उतनी ही जल्दी उनका क्रोध उपशान्त हो जाता था।

यौवन की देहली पर पांव रखते-रखते मैं पितृहीन हो गया। ईश्वर की अहैतुकी कृपा से आचार्य शिवजी में मुझे वात्सल्य से भीगे पितृत्व के आवर्जक दर्शन सुलभ हो गये और उन्हें मैं 'बाबू जी' शब्द से सम्बोधित करने लगा। उन्होंने मुझे सच्चा स्नेह दिया था। इसे यदि मुहावरेदार भाषा में कहा जाये, तो अधिक मौजू होगा कि उन्होंने मेरे लिए हार्दिक स्नेह लुटाय़ा था। मेरे लिए उनका स्नेह कहीं से भी, किसी प्रकार से भी कृत्रिम नहीं था। मेरे स्नेहपूत मन में उनके निष्कलुष वात्सल्य के प्रति उनके जीवनकाल में भी और आज उनके कथाशेष हो जाने पर भी न तो कभी कोई विकृति आई, न ही उनके प्रति कल्पना में भी कोई कषाय उत्पन्न हुआ। इसे तर्कजीवी लोग मेरी अन्धश्रद्धा कह सकते हैं, फिर भी इसके लिए मेरे मन में तनिक भी विचलन नहीं होगा। मेरी अवधारणा है कि सत्पात्रों पर की गई श्रद्धा कभी अन्धी नहीं होती, न ही विश्वास अन्धा होता है। अवश्य ही, अपात्रों पर की जानी वाली श्रद्धा या विश्वास अन्धश्रद्धा या अन्धविश्वास है। किन्तु, कहना न होगा कि आचार्य शिवजी विद्या, विनम्रता और पात्रता के कारण ही न केवल मेरे, अपितु समग्र हिन्दी-संसार के श्रद्धेय बन गये थे, व्यक्ति-चेतना से सर्वथा भिन्न समष्टि-चेतना के आराध्य हो गये थे। ज्ञातव्य है, अन्ध श्रद्धा व्यष्टिगत होती है, समष्टिगत नहीं। पुराण के शब्दों में वह तो 'एको देवः सर्वभूताधिवासः' बन गये थे।

आचार्य शिवजी मेरे गुरुकल्प सारस्वत पिता थे, तो पितृकल्प सारस्वत गुरु भी थे। वह मेरे बुद्धि-विकास के समानान्तर जीवनोत्कर्ष के प्रति भी सजग रहते थे और इसीलिए साधिकार मुझ पर क्रुद्ध भी होते थे। उनका सुधारवादी क्रोध मुझे आत्म-प्रायश्चित्त की स्थिति में पहुंचा देता था किन्तु मैं ग्लानिगलित होने की अपेक्षा गौरवोद्दीप्त होता था क्योंकि उनका क्रोध मूलतः उनके स्नेह का ही सात्त्विक रूपान्तर बनकर मुझे वात्सल्य की निर्भयता से आवेष्टित कर देता था और यह भी बात मन में आती थी कि जो आचार्य का क्रोधपात्र होता है, वही उनका सच्चा स्नेहपात्र बनता है। आचार्य शिवजी कोमल भावनाओं के व्यक्ति थे, ठीक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की तरह। फर्क सिर्फ इतना ही था कि

द्विवेदी जी ऊपर से रूखे थे और भीतर से कोमल; परन्तु शिवजी बहिरन्तः कोमल थे। क्रोध उनका स्थायिभाव कभी नहीं रहा। आचार्य शिवजी आचार्य द्विवेदी जी से कई मानी में विशिष्ट थे।

क्रोध की एक घटना याद आती है। यह सन् 1953 ई. की बात है। मैं बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की सेवा में आचार्य शिवजी, आचार्य नलिनजी, पं० मथुराप्रसाद दीक्षित (गुरुजी), उमानाथजी तथा ब्रजशंकर वर्मा जी (तत्कालीन सम्मेलन के प्रधान मन्त्री) की सम्मिलित अनुकम्पा से नियोजित किया गया था। उस समय मैं अविवाहित था। आचार्य शिवजी मेरा विवाह उत्तर बिहार के निवासी एक कूटस्थ कवि की कन्या से कराना चाहते थे। यह उनकी केवल इच्छा ही नहीं थी, इसके लिए वह प्रयासरत भी हुए थे परन्तु मेरे बड़े मामा कविवर पं० नरसिंह मोहन मिश्र 'सिंहजी' ने पारिवारिक स्नेहाग्रह को मूल्य देकर मेरा विवाह उत्तर बिहार में ही अन्यत्र करा दिया। इस पर आचार्य शिवजी ने अतिशय क्रुद्ध होकर मुझसे कहा, "आपने जिस लड़की को देखा तक नहीं, जिससे आपने बातचीत तक नहीं की, जिसके शील-स्वभाव से परिचित नहीं हुए, उससे आपने विवाह कैसे कर लिया?" मैं निरुत्तर होकर उनकी क्रोधरंजित भंगिमा देख रहा था। उनका क्रोध सच्चा होता था, इसलिए क्रोधावेश में भी उनके मुखमण्डल पर अपूर्व आवर्जकता विराजती सी प्रतीत होती।

आचार्य शिवजी एक दिन सन्ध्या समय अचानक मेरे आवास पर पधारे। मेरी पत्नी ने उनके चरण छुए और कुछ स्वल्पाहार-सामग्री भी उनके लिए प्रस्तुत की। मेरी पत्नी को उन्होंने आशीर्वाद से धन्य किया और उसके लिए सुख-सौभाग्य की कामना की। मैं तो इसलिए निहाल हो गया कि पारम्परिक पद्धति से विवाह कर लेने के कारण मेरे प्रति उनका जो क्रोध था, वह गल-पिघलकर वात्सल्य के स्रोत में परिणत हो गया था।

उसी अवधि की एक दूसरी घटना है। उस समय मेरी पत्नी मेरे साथ नहीं रहती थी। मैं ससुराल गया। बरसात के दिन थे। उस समय उत्तर बिहार में विनाशकारी बाढ़ आया करती थी। रेलगाड़ी का आवागमन प्रायः अवरुद्ध हो जाया करता था। बसें नहीं चलती थीं। जहाज से गंगा को पार करना पड़ता था। भौगोलिक दृष्टि से बिहार दो भागों में बंटा था— उत्तर बिहार और दक्षिण बिहार। रेलमार्ग अवरुद्ध हो जाने के कारण मैं लगभग दो सप्ताह ससुराल में रुक गया। जब मैं वहां से पटना लौटा, तब आचार्य शिवजी ससुराल में अनपेक्षित आवास पर मेरे प्रति अप्रसन्न हो उठे और रोषरुक्ष स्वर में आत्मनेपदी उदाहरण देते हुए बोले, "मैं भी तो ससुराल जाता आता था, पर अपने कर्तव्य का अप्रमत्त भाव से सदा खयाल रखता था। आप भी अपने कर्तव्य का महत्त्व कभी न भूलें।"

आचार्य शिवजी की इस अप्रसन्न गूढोक्ति के प्रति मेरे मौन भाव में क्षमा याचना की अभिव्यक्ति अन्तर्नादित हो रही थी। कहना न होगा, तब से मैं ससुराल कदाचित् ही जाने लगा और जब भी जाता, वहां एक दिन से दूसरे दिन नहीं ठहरता।

आचार्य शिवजी के मेरे प्रति क्रुद्ध होने की एक और घटना अविस्मरणीय है, जब उन्होंने मुझे चलती रेलगाड़ी में चढ़ते हुए देख लिया था। सन् 1961 ई० में, बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अट्ठाईसवां अधिवेशन डालटनगंज में आयोजित था। सम्मेलन प्रतिनिधियों का एक पूरा परिवार ही अधिवेशन में भाग लेने जा रहा था। उस समय सम्मेलन के अधिवेशनों में क्या साधारण हिन्दी सेवी और क्या कूटस्थ साहित्य मनीषी, सभी प्रकार के सदस्य स्वतःस्फूर्त आत्मीयत्व, उल्लास और उत्साह के साथ सम्मिलित होते थे। सम्मेलन के वे दिन अब नहीं बहुरेंगे।

गरमी के दिन थे। सन्ध्या समय पटना जंक्शन से सम्मेलन के प्रतिनिधियों के बृहत् परिवार को लेकर रेलगाड़ी गया होकर रवाना होने वाली थी। आचार्य शिवजी और आचार्य नलिन जी दोनों की विलक्षण सारस्वत जोड़ी एक ही डब्बे में सवार थी। मैं भी उसी डब्बे में था। उस समय आचार्य नलिन जी 'गोल्डन फ्लैक' सिगरेट पीते थे, बाद में 'चारमीनार' पीने लगे क्योंकि दोनों का वैशिष्ट्य समान माना जाता था। पटना से डालटनगंज तक पूरे सफर के लिए उनका सिगरेट कम पड़ रहा था। मैं डब्बे से उतरकर प्रायः सामने ही खड़े पान बेचने वाले से सिगरेट का पैकेट खरीदने लगा। तभी गाड़ी खुल गई और मैं सिगरेट का पैकेट लिये दौड़कर अपने डब्बे में दाखिल हो गया।

आचार्य शिवजी ने जब यह देखा, तब उनका क्रोध उबल पड़ा और मुझे उन्होंने इस अनिष्टकर कार्य के लिए कड़ी डांट सुनाई। मैं सितपिटाकर रह गया। आचार्य नलिनजी ने भी इसे उचित नहीं कहा। यद्यपि मेरे सहमे हुए मन में इस बात की आश्वस्ति थी कि मैं एक आचार्य के लिए उनकी सुविधा का सामान मुहैया कर सका। आचार्य शिवजी की वह क्रोधोद्दीप्त मुखाकृति आज भी मेरे मन-मस्तिष्क में दुहरती रहती है, जो चलती रेलगाड़ी पर चढ़ने से मुझे रोक देती है। यों, आचार्य जी के क्रुद्ध होने के और भी छोटे-मोटे कई प्रसंग आये, जो प्रायः सारस्वत कार्यों से सम्बद्ध थे। इन प्रसंगों में बिगड़ने के बजाय उन्होंने व्यंग्यगूढ़ बात कहकर ही अनुशासित किया था और मैंने भी तत्पर होकर अपनी त्रुटियों के परिमार्जन का प्रयत्न किया।

आचार्य शिवजी के उक्त तीनों क्रोध प्रसंग मेरी जीवन-यात्रा के उत्कर्ष-विधायक तीन अध्याय के समान हैं। प्रथम में उनकी, अनजानी और अनदेखी लड़की से होने वाले विवाह की परम्परित रूढ़ प्रथा के प्रति सुधारवादी दृष्टि संकेतित है तो दूसरे प्रसंग में ससुराल में अनपेक्षित आवास की मनोवृत्ति पर तीखा प्रहार है। पुनः तीसरे प्रसंग में तो

स्पष्ट ही उनका यह समीचीन परामर्श है कि ऐसा कोई अनर्थकारी अकार्य नहीं करना चाहिए, जिसमें जान जाने का खतरा हो।

आचार्य शिवजी की यह विशेषता उल्लेखनीय है कि वह जिसमें भी आवश्यकता से अधिक उत्साह और कल्पना शक्ति का अतिरेचन देखते थे, उसे नियन्त्रित करने के लिए आवश्यकतानुसार डांटने-फटकारने से नहीं चूकते थे। वह जितने उदार थे, उतने ही अनुशासनप्रिय भी थे।

मुझे देश के बड़े-बड़े साहित्यकारों के सान्निध्य का अध्ययन करने का सौभाग्य मिला है। मैं निस्संकोच कह सकता हूँ कि आचार्य शिवजी से बढ़कर उच्चकोटि का उदारचेता मनुष्य मुझे हिन्दी सेवी समाज में बहुत कम ही दर्शनसुलभ हुआ है। आचार्य शिवजी जितने महान् लेखक थे, उससे कहीं अधिक वह महापुरुष थे।



लेखक परिचय

प्रतिभा, पाण्डित्य और उपाधियों के सुन्दर संगम का नाम है विद्यावाचस्पति डा० श्रीरंजन सूरिदेव। बिहार के दुमका जिले के शुम्भेश्वरनाथ घौनी नामक स्थान में उनका जन्म 28 अक्टूबर 1926 ई० को हुआ।

श्रीरंजन जी का विद्याध्ययन प्राच्य परम्परा तथा अंग्रेजी शिक्षा परम्परा दोनों विधाओं से हुआ। एक ओर बिहार विश्वविद्यालय मुजफ्फरपुर से तीन एम०ए०-हिन्दी, संस्कृत तथा प्राकृत-जैनशास्त्र में स्वर्णपदक प्राप्त करके किया वहीं कामेश्वर सिंह दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा एवं वाराणसी, अब सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से साहित्य, आयुर्वेद पुराण, पालि और प्राकृत-जैनशास्त्र में आचार्य की उपाधि प्राप्त की। बंगाल संस्कृत समिति, कलकत्ता से व्याकरणतीर्थ की उपाधि से अलंकृत हुए तो हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग से साहित्यरत्न और हिन्दी विद्यापीठ, देव-धर से साहित्यालंकार की उपाधि भी प्राप्त की। 'वासुदेवहिण्डी: एक आलोचनात्मक अध्ययन' विषय पर शोधकार्य करके पीएच०डी० की उपाधि से भी आप विभूषित हुए।

इस प्रकार अनेकानेक उच्च उपाधियों से सम्पन्न सूरिदेव जी का लेखन कार्य उनकी किशोरावस्था से ही प्रारम्भ हो गया था जब आचार्य शिवपूजन सहाय सम्पादित 'बालक' मासिक पत्रिका में 'मन्दार पर्वत' नामक निबन्ध प्रकाशित हुआ। 1945 से तो आपका नियमित साहित्यिक जीवन प्रारम्भ हो गया। उनकी रचनाएँ अनेक हैं तथा विविध

विधाओं की हैं। जहाँ 'गीत संगम' तथा 'बहुत है काव्य संकलन हैं वहीं 'मेघदूत एक अनुचिन्तन', 'प्राकृत-संस्कृत का समानान्तर अध्ययन', 'वासुदेव हिण्डी भारतीय जीवन और संस्कृति की बृहत्कथा' आलोचनात्मक रचनाएं हैं। 'बिहार के स्मृति पुरुष' संस्मरणों का संकलन तथा 'अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त' तीन व्याख्यानों का संग्रह है। श्रीरंजन जी का बालोपयोगी साहित्य भी उल्लेखनीय है। बालकथा-संग्रह हैं— 'आटे का मुरगा', 'आसमानी घोड़ा', 'चित्रकार की बेटी', 'पिटारी की रानी', 'काठ की तलवार', 'बेताल का बदला', 'अनमोल माला', और 'चार पापी'। संस्कृत गद्य पद्य संग्रह है 'अक्षर भारती'।

आपने प्राकृत से हिन्दी में 'वासुदेव हिण्डी' 'अगडदत्त कहा' तथा 'धूर्ताख्यान' का तथा संस्कृत से हिन्दी में 'सिंहासनबत्तीसी' का अनुवाद किया है। उनके सम्पादित साहित्य में 'जीवन दर्पण', 'स्मृतिशेष आर्यपुरुष-पं० रामनारायण शास्त्री (स्मृति ग्रन्थ), 'पाटलिपुत्र की धरोहर-रामजी मिश्र 'मनोहर' (अभिनन्दन ग्रन्थ), 'कृष्णकुमार विद्यार्थी-व्यक्तित्व और कृतित्व (अभिनन्दन ग्रन्थ), 'तुलसीदलम्', 'पुण्यस्मरण', 'रेत के रस गीत', 'निबन्ध दर्पण' आदि निबन्ध संकलन हैं।

आपने प्राकृत शोध संस्थान वैशाली में व्याख्याता तथा बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना की 'परिषद् पत्रिका' के उपनिदेशक (शोध) एवं सम्पादक का पद सुशोभित किया है। पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन का भी आपको पर्याप्त अनुभव है। उल्लेखनीय है कि आचार्य शिवपूजन सहाय और आचार्य नलिन विलोचन शर्मा के सहकारी सम्पादक रहे 'साहित्य' त्रैमासिक में। इसके अतिरिक्त 'परिषद् पत्रिका' पटना 'धर्मायण' पटना, 'शिखा संकेत' पटना, 'ब्रह्मज्योति' एवं 'चक्रबन्धु' वाराणसी का भी सम्पादन कर चुके हैं। कतिपय पत्र पत्रिकाओं का अनाम-सम्पादन भी आपने किया है।

भारत के विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में वैदिक, जैन एवं बौद्ध साहित्य और संस्कृति से सन्दर्भित शताधिक शोध-आलेख प्रकाशित हैं।

अनेक संस्थाओं में आप सहायक हैं यथा 'आचार्य शिवपूजन सहाय स्मारक न्यास' के न्यासी सदस्य, जैन एकेडेमिक फाउण्डेशन ऑफ नार्थ अमेरिका द्वारा प्रकाशमान 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ जैनियम' के साहित्य खण्ड के सम्पादक, 'हिन्दी शब्दनिधि' नामक हिन्दीकोश के सम्पादक तथा भारतीय अन्तर्देशीय जलमार्ग-प्राधिकरण (भूतल परिवहन मन्त्रालय) की पटना शाखा की 'राजभाषा क्रियान्वयन समिति' के विशिष्ट परामर्शदाता।

आपके ऐसे उल्लेखनीय कार्यों के कारण आपको अनेक मानद उपाधियां प्रदान

की गई हैं यथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की 'विद्यावाचस्पति' के अतिरिक्त 'साहित्यमार्तण्ड' (मथुरा), 'साहित्यमार्तण्ड' (पटना), 'विद्याविभूषण' (छपरा), 'भारतभाषा भूषण' (पटना), 'वाङ्मयरत्न' (समस्तीपुर) तथा 'सांस्कृतिक सौरभ' (पटना) आदि।

आपको अनेक सम्मान तथा पुरस्कार भी प्राप्त हो चुके हैं यथा बलिनारायण राष्ट्रभाषा पुरस्कार (दुमका), गणेशप्रसाद वर्णी स्मृति पुरस्कार, भारतवर्षीय दि० जैन महासभा (बिहार शाखा), अखिल भारतीय साहित्य परिषद् (भोपाल), राष्ट्रीय विद्वत्संगोष्ठी (मथुरा), द इण्डियन सोसाइटी ऑफ क्रियेटिव आर्ट्स (पटना), सूरि सेवाश्रम (इलाहाबाद), बिहार पत्रकारिता संस्थान एवं संग्रहालय (पटना) आदि।



मेरे पण्डित जी, मौलवी साहब और वत्सल गुरु पं० अयोध्यानाथ शर्मा

डा० रमानाथ त्रिपाठी

मेरे बाबा अध्यापक थे, मेरे पिता अध्यापक रहे, मेरे बड़े भाई अध्यापक हैं और मैं भी अध्यापक हूँ। बचपन से ही शिक्षा मिली थी कि गुरु चाहे जिस जाति का हो उसका आदर करूँ। हाँ, ब्राह्मण होने के कारण अब्राह्मण गुरु को प्रणाम न करने की प्रथा अवश्य थी।

कुछ ऐसी परिस्थितियाँ आयीं जिनके कारण मुझे बाध्य होकर गांव से 16 मील दूर मुरादगंज (जिला इटावा) के मिडिल स्कूल में प्रवेश लेना पड़ा। हिन्दी मिडिल की परीक्षा पास कर चुका था, वहीं से उर्दू मिडिल कर रहा था। मुरादगंज से एक मील दूर अयाना गांव में स्कूल बोर्डिंग था। हेड पण्डित पूज्य श्री रामसनेही पाण्डेय के साथ सायंकाल हम सभी अयाना चले जाते थे। प्रथम दिन चौके में पंक्ति-भोजन के उपरान्त सभी छात्र पण्डित जी के पलंग के आसपास चुपचाप जाकर बैठ गये। पण्डित जी ने एकाध बार नाक से हवा फुसकार कर मुझसे कहा— 'खड़े हो जाओ।' डर कर खड़ा हो गया। बोले 'फेफड़े साफ करो।' मैं समझा नहीं, देर तक चुप खड़ा रहा। पुराने पण्डित के डण्डे की मार याद करता हुआ कांप रहा था। पास बैठे हुए लड़के ने धीरे से कहा, 'पण्डितजी गाना सुनाने के लिए कह रहे हैं।'

मैं और भी घबरा गया, क्या गाऊँ और कैसे गाऊँ। मेरा गांव ब्राह्मणों का है। हम बचपन से ही संस्कृत के अनेक श्लोक ऐसे ही याद कर लेते हैं। मैंने धड़कते हृदय और कांपते स्वर से संस्कृत के कुछ श्लोक गा कर सुनाये। शायद पण्डित जी को मेरा गायन बहुत पसन्द आया। अब प्रति मंगलवार को होने वाली शिव की आरती का सामूहिक गान कराने को मुझे ही कहा गया।

पण्डित जी नियम के पाबन्द थे। छात्रावास के सभी लड़कों के हर काम का समय निश्चित था। मजाल क्या कि कोई नियम तोड़ जाए। उस समय के पण्डित लोग अपने छात्रों को जी-जान से पढ़ाते थे। नियत वेतन के अतिरिक्त इस अध्यापन का वे कुछ नहीं लेते थे। हाँ, इन्हें जो मिलता था वह था आदर। सादर चरणस्पर्श में ही वे तृप्त रहते थे। उनके लिए यह बहुत कुछ था।

हमारे पण्डित जी हम बच्चों की बिल्कुल माँ की तरह देखभाल करते थे। प्रत्येक के सामान की खाना-तलाशी लेकर बासी पकवान फिकवा देते थे। निर्धन छात्रों की हर तरह से सहायता करते थे। मैस में क्रमानुसार सभी लड़कों को लकड़ी देनी पड़ती थी,

मेरे लिए पण्डित जी ने एक जमींदार से कह कर पेड़ का मोटा तना मैंस में रखवा दिया था। मेरी बारी पर कहार उसी में से लकड़ी निकाल लेता। एक बार महाराज ने बताया कि जमींदार लकड़ी उठवा ले गये हैं। अब कुछ लकड़ी जमा करो। बड़ी समस्या। पण्डित जी मुझ से सभी पैसे अपने पास जमा करा लेते थे जिससे कि अण्ट-सण्ट खाने की गन्दी आदत न पड़ने पाए। पण्डित जी से पैसे मांगने का साहस न हुआ। अकेला बैठ कर रोता रहा। फिर अपनी सभी पुरानी कापियां और कुछ दूसरे लड़कों की पुरानी कापियां उनकी अल्मारियों से निकालकर चुपके से बेच आया। लकड़ी खरीदी, आधा मन से भी कम आयी। सिर पर बड़ी कठिनाई से लादकर चला, बोझ से सिर गरदन में घुसा जाता था। रास्ते भर रोता गया। महाराज बहुत नाराज हुआ। इतनी लकड़ी से क्या होगा। पण्डित जी के पास शिकायत पहुंची। पण्डित जी एकदम बिगड़ उठे, 'तुम्हारे पास पैसे कहां से आये?' मैं डर और कुछ व्यथावश फफक-फफक कर रो पड़ा। पण्डित जी ने मुझ से और कुछ नहीं कहा। महाराज से कहा, 'अब इससे कभी लकड़ी न मांगना। मैं प्रबन्ध कर दूंगा।' सन्ध्याकाल उन्होंने मुझे बुलाकर सिर पर हाथ फेर कर पुचकारा और कहा, 'अब कोई समस्या हो तो मुझ से कहा करो।'

पण्डित जी लड़कों को कभी नहीं मारते थे। उनके पढ़ाने का ढंग बड़ा रोचक था। स्वयं पढ़ाने या रटाने की अपेक्षा लड़कों से स्वयं परिश्रम कराते थे। उस समय तो उनके पढ़ाने के ढंग पर कभी-कभी क्षुब्ध होता था किन्तु अब सोचता हूं तो लगता है उनकी वैज्ञानिक शैली थी। वे पाठ को बुद्धि से समझने और लिखने पर काफी बल देते थे।

इसी स्कूल में मेरे क्लास टीचर एक मौलवी साहब थे। ढीला पायजामा, बन्द गले का कोट और गान्धी टोपी पहनते थे। हल्की सी दाढ़ी रखते थे। मुरादगंज और दलेलनगर में अधिकांश आबादी मुसलमानों की है। मेरे साथ पढ़ने वाले लगभग सभी लड़के मुसलमान थे। ये मुझे बहुत तंग करते थे। ये मुझे कानपुर के दंगों के हाल सुनाते कि किस प्रकार मुसलमान लोग 'अल्लाहो अकबर' का नारा लगाकर हिन्दुओं को गाजर-मूली की तरह काट डालते हैं। मैं कुढ़-कुढ़ कर रह जाता। कभी-कभी रोष न दबा पाता तो मुंह से कुछ निकल जाता। बस मेरी आफत आ जाती। मौलवी साहब की निगाहें बड़ी तेज थीं। वे भांप जाते, कब ये लड़के मुझे परेशान कर रहे हैं। वे इन शैतानों को हमेशा आड़े हाथों लेते रहते। एक लड़का कट्टर मुसलमान था। एक दिन मुझे परेशान करने की कोई तरकीब उसे न सूझी तो जाकर मौलवी साहब से ही शिकायत कर दी,.... 'साहब ये जेब में बेर डाले है। मैं रोजा किये हूं। बेर देख कर मेरे मुंह में पानी भर जाएगा और मेरा रोजा टूट जाएगा।' मौलवी साहब ने मुझे बुलाकर डांटा। मैं मौलवी साहब से डरता न था, अपितु मुंह लगा बेटा सा हो गया था। मैंने श्रद्धा सहित कहा, 'मौलवी साहब,

यह पायजामे की गिरह में दो अमरुद बांधे हैं, इससे इसका रोजा नहीं टूटता?’ मौलवी साहब ने उसके कान पकड़ कर दो घूँसे जमा दिये।

उन दिनों मुस्लिम लीग का हरा झण्डा लेकर सैकड़ों मुसलमान आसपास के गांवों में घूमा करते थे। हिन्दुओं को आतंकित करने के लिए उनके ये प्रदर्शन होते थे। मैं कुछ समझता नहीं था। उनके जोशीले गीत अच्छे लगते। मैं भी उनके स्वर में स्वर मिला कर पीछे गाता हुआ चलता...

बदल देगा फिजाए कौम मुस्लिम लीग का झण्डा,

बनेगा रहनुमाए कौम मुस्लिम लीग का झण्डा।

एक दिन मौलवी साहब ने मुझे बुलाकर मना कर दिया।

ये मौलवी साहब भी बोर्डिंग में रहने लगे। हमारे चौके में खा नहीं सकते थे। बेचारे अलग अपनी रकाबियाँ लेकर बैठ जाते थे। उनकी सेवा का भार मुझ पर था। मैं दूर से उनकी रकाबियों में भोजन परोस दिया करता। जब वे रकाबियाँ मिट्टी से मांजते तब मैं कुएं से जल लाकर दूर से रकाबियों पर पानी डालता जाता और वे धोते जाते। अपने गुरु से ऐसा व्यवहार करते समय मुझे ग्लानि होती। मेरी कठिनाई को वे समझते और कहते ‘जैसा रिवाज है, वैसा ही करो, तुम आखिर बिरहमन हो।’

मौलवी साहब प्रातः नमाज पढ़ कर घूमने निकल जाते। मैं उनके कमरे में घुस कर झाड़ू लगा देता, पुस्तकें आदि ठीक कर देता और भाग आता। इस प्रकार सन्ध्या के समय घूमने चले जाने पर मैं उनकी लालटेन साफ कर जला देता। उनकी खाट बाहर बिछा देता। मुसलमानों में ऐसा देवता-तुल्य व्यक्ति मैंने कभी नहीं देखा।

परीक्षा इटावा शहर में हुई थी। मैं अपनी कक्षा का तेज छात्र था। मौलवी साहब ने परीक्षा के दिन इटावा आने का वचन दिया था। पण्डितजी की छत्रछाया थी ही। दो प्रश्न पत्र एक साथ होने को थे। एक हो गया, अब इन्टरवल था। मैं अपने साथियों की भीड़ में जाकर खड़ा हो गया। एक साइकिल के हैंडिल पर हाथ रखकर मैं अपने प्रश्नोत्तर के बारे में जोश-खरोश के साथ बता रहा था। एकदम याद आने पर मैं असन्तुष्ट होकर बोला, ‘देखा, मौलवी साहब ने कैसा धोखा दिया। आये ही नहीं। हम लोगों की हिम्मत न बढ़ जाती।’

अल्लादिया और यूसुफ बार-बार मेरी चुटकी काटते, मैं समझ नहीं पाया और बकता रहा। अन्त में यूसुफ बोल ही पड़ा ‘और हाथ किसकी साइकिल पर रखे हो?’

मैंने मुड़ कर देखा, मौलवी साहब खड़े थे। शर्म से पानी-पानी हो गया। वे मुस्करा दिये। घण्टी बजी। मौलवी साहब ने सिर पर हाथ रख कर कहा, ‘बेटा, अब शायद तुम से भेंट न हो पाए, मैं सच्चे दिल से दुआ मांगता हूं, तुम बहुत बड़े आदमी बनो।’

सोच न सका, मैं क्या करूँ, पैर छुजं, हाथ जोड़ूँ या ऐसा काम करूँ जिससे इस गुरु के समक्ष मैं अपनी समस्त श्रद्धा निवेदित कर दूँ। मैं कुछ न कर सका। केवल रुंधे स्वर में आदाब अर्ज कर डबडबाई आंखों से नीचे देखता हुआ भाग कर परीक्षा-भवन में जा बैठा।

मौलवी साहब के आशीर्वाद से बड़ा आदमी तो नहीं बना। अध्यापक अवश्य बना किन्तु पढ़ाने की मेरी शैली और विद्यार्थियों के प्रति मेरे व्यवहार में यदि कोई अच्छाई होगी तो वह अवश्य ही पण्डित जी और मौलवी साहब की देन होगी।

जुलाई, 1944 ई० में जब मैंने विक्रमजीत सिंह सनातन धर्म कालेज, कानपुर में प्रवेश लिया, तब यहाँ इण्टर आर्ट्स की कक्षाएँ नहीं हुआ करती थीं। यह कामर्स कालेज के रूप में प्रसिद्ध था। इच्छा और रुचि के विरुद्ध मुझे विवश होकर आइ० कॉम० का छात्र बनना पड़ा। हमारे कोर्स में कहीं हिन्दी नहीं थी। शिक्षा का माध्यम इंग्लिश था।

मैं कभी-कभी एक अध्यापक विशेष को आते-जाते देखा करता। काली गोल टोपी, बन्द गले का प्रायः स्लेटी कोट, धोती और छड़ी। ज्ञात हुआ ये हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पं० अयोध्यानाथ जी शर्मा हैं। संकोचवश और कुछ पण्डित जी के गरिमामय व्यक्तित्व के कारण उनसे बोलने का साहस नहीं कर पाया था। जन्माष्टमी की छात्र कविता-प्रतियोगिता में मुझे प्रथम पुरस्कार मिला था। निर्णायक पूज्य पण्डित जी ही थे। वे कालेज मैगजीन के सम्पादक भी थे। मैंने अपने एक सहपाठी के द्वारा अपनी कविता उनके पास पहुँचायी थी, स्वयं उनके पास जाने का साहस भी नहीं हुआ था। जब मेरी कविता प्रथम पृष्ठ पर छपी तो मैं विभोर हो उठा था। यह मेरी प्रथम प्रकाशित रचना थी।

आइ०कॉम० करने के पश्चात् मैं बी०ए० का छात्र बना। इस प्रकार बी०ए० और एम०ए० (हिन्दी) की उच्च शिक्षा के क्षेत्र में पण्डित जी मेरे श्रद्धेय गुरु रहे।

पण्डित जी आगरा विश्वविद्यालय के बोर्ड आफ स्टडीज के कन्वीनर और पेपर सेटर थे। हम छात्र लोग साँठ-गाँठ कर पण्डित जी के घर धावा बोलते, तरह-तरह के हथकण्डे अपनाते, किन्तु पण्डित जी से सम्भावित प्रश्नों का सुराग नहीं लगा पाये। वे सभी प्रश्न और टॉपिक्स इम्पोर्टेन्ट बता देते। सभी छात्र खीजकर कह उठते— यह ठण्डी बर्फ हम कभी नहीं तोड़ पाएँगे। क्षुब्ध होने पर भी उनकी ईमानदारी और कर्तव्य-परायणता के प्रति हम और भी अधिक श्रद्धावान् हो रहे थे।

महात्मा गान्धी की हत्या का झूठा आरोप राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ पर लगाकर प्रतिबन्धित कर दिया गया था। सरकार के इस अन्याय के विरुद्ध हमने हजारों की संख्या में सत्याग्रह किया। हमें जेल भेज दिया गया। परीक्षा से पन्द्रह-सोलह दिन पूर्व हमें रिहा कर दिया गया। मेरे पास एक भी पुस्तक नहीं थी। पैसे भी नहीं थे। पण्डित जी से पुस्तकें माँगी, उन्होंने अस्वीकार कर दिया। वे बोले— 'तुम दिनभर ट्यूशन करोगे, नेतागिरी

करोगे, पढ़ोगे कब? यदि पढ़ना है तो जब समय मिले, मेरे घर आकर पढ़ो। बस, यहीं के लिए पुस्तकें दी जाएँगी।'

बुरा तो लगा किन्तु और कोई चारा नहीं था। आठ बजे सन्ध्या काल पण्डित जी के घर पहुँचता और दस बजे पढ़कर छात्रावास लौट जाता। दिन भर की थकावट के कारण नींद आने लगती, पण्डित जी के डर के कारण नींद को बलात् भगाता। उस समय यह प्रौढ़ अध्यापक किस प्रकार वत्सल पिता का हृदय लेकर मेरी देखरेख करता, मेरे आसपास निःशब्द चक्कर काटता, यह सोचकर मैं आज भी गद्गद हो उठता हूँ। पण्डित जी का आदेश मान लिया, इसी के फलस्वरूप मुझे अपने सहपाठियों से बहुत अधिक अंक मिले। उनके घर जाकर न पढ़ता तो शायद पढ़ ही नहीं पाता। एम०ए० की कक्षा उत्तीर्ण कर मैं शिष्य से पण्डित जी का सहयोगी अध्यापक बन गया।

गुरुवर शर्मा जी का जीवन संयम और मर्यादा का जीवन रहा है। वे प्रायः अपने निवास स्थान से कालेज तक पैदल ही आते जाते रहे। यह उनके संयम का ही प्रताप था कि वे अपने समयस्क अथवा लघुवयस्क सज्जनों से अवस्था में छोटे प्रतीत होते थे।

गर्मी की ऋतु में पण्डित जी धोती और बनयान पहिने चटाई पर बैठे मिल जाया करते थे। पंखा बहुत ही धीमी गति से चलता रहता। बारहों मास उनके शिष्य आया करते थे। उनके शिष्य पूरे देश में फैले हैं। वे प्रायः फल-मिठाई भेजते रहते थे। शिष्यों का यह चढ़ावा पण्डित जी के शिष्यों में ही गुरुप्रसाद बनकर वितरित हो जाता था। बीच-बीच में माता जी अपने मानस पुत्रों को देख जाती और मानस पुत्र भी मां-गुरुपत्नी का चरण स्पर्श कर धन्य हो उठते।

शर्माजी का विनोदी रूप भी मैंने देखा है। उन दिनों पण्डित जी की एक मात्र पुत्री इन्दिरा बालिका ही थी। उन्होंने प्रयाग विद्यापीठ की प्रवेशिका परीक्षा दी थी। पण्डित जी ने मुझे बताया— 'रमानाथजी, आपकी बहिन इन्दिराजी इतिहास का प्रश्नपत्र देकर आयी हैं। प्रश्न था— हर्षवर्द्धन कौन था? इन्दिरा लिख आयी हैं— हर्षवर्द्धन मेरा छोटा भाई है।' मैं हंस पड़ा। जब भी इन्दिरा मिलती हैं, मैं उन्हें इस बात की याद दिला देता हूँ। यहाँ यह भी बता दूँ कि शर्मा जी का सबसे छोटा पुत्र हर्षवर्द्धन है, मैंने इसे पढ़ाया है। पण्डित जी छोटे बच्चों के नाम के साथ भी 'जी' जोड़ा करते थे।

आज मैं देख रहा हूँ कि अध्यापक लोग भाषण तो झाड़ते रहते हैं किन्तु Text मूलपाठ से पढ़ाने से कतराते हैं। बिना मूलपाठ के सुचारु अध्ययन से किसी लेखक का मर्म नहीं समझा जा सकता। अध्यापक के रूप में पण्डित जी की सबसे बड़ी देन है मूलपाठ का अध्ययन-अध्यापन। उनके शिष्यों पर भी उनके गुण का प्रभाव पड़ा है।

मैं पीएच०डी० हो चुका था और डी०लिट० का शोध प्रबन्ध मूल्यांकन के लिए प्रस्तुत कर चुका था। पण्डित जी के बार-बार आग्रह करने पर मैंने दिल्ली विश्वविद्यालय

के अध्यापक-पद के लिए आवेदन-पत्र भेज दिया। उनके आशीर्वाद से मेरी नियुक्ति हो गयी। कानपुर का अपनत्वमय वातावरण और गुरु के श्रीचरणों का सन्निध्य छोड़कर मैं दिल्ली महानगर के आत्मीयताहीन सागर में असहाय सा जा पड़ा।

वर्ष पर वर्ष बीतते गये, मैं अपनी योग्यता-वृद्धि की ओर जितना अग्रसर होता गया, विश्वविद्यालय मुझे उतना ही पीछे फेंकता गया। मुझसे बाद में जो अध्यापक किसी भी विभाग में आये, वे न जाने कब के रीडर, प्रोफेसर, अध्यक्ष बनते चले गये और मैं जस का तस पड़ा सड़ता रहा। पण्डित जी ने बहुत कुछ सिखाया किन्तु शीश झुकाकर कुछ माँगने का गुरुमन्त्र नहीं दिया, सम्भवतः इसलिए मेरी यह छीछलेदर हुई। कभी-कभी घुटन और यंत्रणा से छटपटाकर पण्डित जी को पत्र लिख बैठा हूँ। उन्होंने अत्यन्त संयत भाषा में उत्तर दिया है, तथापि शब्द शब्द में उनकी अन्तर्व्यथा व्यक्त हो ही गयी है। अपने पुत्र तुल्य शिष्यों की अवरुद्ध उन्नति से वे कितने व्यग्र हो उठे हैं, यह कभी विद्वानों से चर्चा के समय जान सका हूँ। उनके आश्वासन भरे पत्र मेरे घावों पर शीतल प्रलेप का कार्य करते रहे हैं। मैं अनेक आघात इन पत्रों के बल पर सह गया हूँ।

ऋषितुल्य पण्डित जी यशस्वी एक सौ एक शरत् देखकर दो जनवरी 1998 को इस नश्वर जगत् से विदा हो गये। पार्थिव रूप में वे हमारे समक्ष नहीं हैं, किन्तु एक सात्त्विक प्रेरणा के रूप में वे अभी भी हमारे मध्य विद्यमान हैं। हमने उनसे सीखा है, 'न अनीति करो और न अन्याय सहो।'



लेखक परिचय

उत्तर प्रदेश के इटावा जिले का एक छोटा सा ग्राम क्यौंटरा जहाँ सन् 1926 को नागपंचमी के दिन रमानाथ त्रिपाठी जी का जन्म हुआ। पितामह, पिता तथा अग्रज सभी अध्यापक रहे हैं। उसी संस्कार से पोषित त्रिपाठी जी की प्रारम्भिक शिक्षा मुरादगंज (इटावा) में हुई। उसके पश्चात् कानपुर के विक्रमजीत सिंह सनातन धर्म कालिज से आइ० काम०, बी०ए० तथा एम०ए०

हिन्दी की परीक्षा ससम्मान उत्तीर्ण की। बंगाली में 'मध्य तीर्थ' की उपाधि प्राप्त की।

उन्होंने 'बांग्ला रामायण और रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन' विषय पर पीएच०डी० और 'असमिया-रामायण, बांग्लारामायण और ओड़िया-रामायण के साथ मानस के तुलनात्मक अध्ययन' पर डी.लिट्. की उपाधि प्राप्त की। अध्ययन के पश्चात् वे दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में प्रवक्ता पद पर प्रतिष्ठित हुए तथा वहीं से सेवानिवृत्त हुए।

रामचरितमानस पर तुलनात्मक अध्ययन को शोध का विषय चुनने वाले डा०

त्रिपाठी ने रामकथा को ही अपने अध्ययन का मुख्य विषय बना लिया। उन्होंने देश की समस्त भाषाओं की रामकथा के साथ साथ विदेशों में प्रचारित रामकथा तथा वन्य जातियों और लोकजीवन में व्याप्त रामकथाओं का भी गम्भीरता से अध्ययन किया। मध्यप्रदेश तुलसी अकादमी द्वारा प्रकाशित तुलसी सम्बन्धित आठ प्रकार की सूचनाएं देने वाली 'तुलसी निदेशिका' का डा० त्रिपाठी ने निःशुल्क सम्पादन किया। 'रामचरितमानस' से सम्बन्धित अन्य एकाधिक ग्रन्थों का सम्पादन भी आपने किया। बांग्लादेश की रामायण लेखिका सन्त चन्द्रावती के जीवन को आधार बनाकर तथा बांग्लादेशीय आख्यान गीतों पर आश्रित 'शंख-सिन्दूर' नामक एक नवीन विधा का उपन्यास लिखा जो चर्चित हुआ तथा कई भाषाओं में अनूदित तथा पुरस्कृत है। रामकथा के मर्मज्ञ विद्वान् आपने वाल्मीकि रामायण के महानायक राम को आश्रित कर एक अभिनव रामकथा का प्रणयन किया है जो उपन्यास की शैली में है तथा भावसौन्दर्य सम्पन्न भी है और यथार्थपरक भी।

डा० रमानाथ त्रिपाठी को मात्र रामकथा-मर्मज्ञ नहीं कहा जा सकता है। वे बहुभाषाविद् भी हैं। भाषा का ज्ञान पढ़ने, लिखने अथवा समझने तक ही सीमित नहीं है वरन् सुवक्ता त्रिपाठी उन उन भाषाओं में धाराप्रवाह भाषण भी देते हैं। यदि असम साहित्यसभा, गौहाटी के विराट् अधिवेशन में उन्होंने असमिया में अपना सुदीर्घ भाषण प्रस्तुत किया तो वहीं डा० हरेकृष्ण महताब की प्रजातन्त्र परिषद् कटक द्वारा राज्यपाल के माध्यम से सम्मानित होने के अवसर पर उन्होंने अपना भाषण ओड़िया भाषा में ही दिया। कलकत्ता और शान्तिनिकेतन की अनेक संस्थाओं द्वारा आयोजित कार्यक्रमों में वे समान पारंगत भाव से बंगाली तथा हिन्दी दोनों में अपना वक्तव्य प्रस्तुत करते रहे हैं।

डा० त्रिपाठी वास्तविक अर्थों में कलम के धनी हैं तभी उनके शोध-निबन्ध संग्रह, सात उपन्यास, एक कहानी संग्रह और एक यात्रा वृत्तान्त के साथ समस्त प्रकाशित ग्रन्थों की संख्या चालीस के लगभग है जिनमें उनके मौलिक ग्रन्थों के साथ सम्पादित तथा अनूदित ग्रन्थ भी सम्मिलित हैं। हिन्दी, बंगाली, ओड़िया और मारिशस की पत्रिकाओं में प्रकाशित उनकी कहानियाँ, कविताओं, शोध-लेखों आदि की संख्या 300 से अधिक है। उनके अनूदित साहित्य में असमिया, बंगाली और ओड़िया से हिन्दी और हिन्दी से उक्त भाषाओं में अनुवाद सम्मिलित हैं।

डा० रमानाथ त्रिपाठी सर्वदा समर्पित साधक के समान साधना में लीन रहते हैं फिर भी पुरस्कारों तथा सम्मानों ने स्वयं उनका वरण कर लिया। परिणामतः उनके डी० लिट्० के शोध प्रबन्ध पर उत्तर प्रदेश सरकार का तुलसी पुरस्कार तथा दिल्ली प्रशासन की साहित्य कला-परिषद् का सम्मान उन्हें मिला। मध्यप्रदेश की तुलसी अकादमी ने उन्हें 'मानस-सम्मान' दिया तो 'संस्कार-भारती' ने 'तुलसी-साहित्य के तुलनात्मक शोधकर्ता' का सम्मान प्रदान किया। एक ओर आप रामकृष्ण हरजीमल डालमिया के प्रथम पुरस्कार

के अधिकारी चुने गए तो दूसरी ओर नागरी-प्रचारिणी सभा, आगरा ने आपको सशक्त कथाकार और रामकथा विशेषज्ञ का सम्मान दिया। भारतीय अनुवाद संस्थान, लखनऊ ने उन्हें पचास हजार रुपये के 'साहित्यभूषण' सम्मान से सम्मानित किया। दूरदर्शन, आकाशवाणी, अनेक विश्वविद्यालयों तथा मारिशस की अनेक संस्थाओं के द्वारा रामकथा-विशेषज्ञ के रूप में आप सादर आमन्त्रित किये जाते हैं। सेवानिवृत्ति के पश्चात् दो वर्ष तक आप भारतभवन, भोपाल के 'निराला सृजन पीठ' के निदेशक रहे।

स्वाभिमानि तथापि अन्याय के प्रतिरोधक देशभक्त त्रिपाठी जी को स्वाधीन भारत में यातनाएं भोगनी पड़ी, कई बार जेलयात्रा भी करनी पड़ी तथापि 'विद्वान् सर्वत्र पूजा जाता है' की उक्ति को चरितार्थ करता हुआ क्रमशः भागीरथ मिश्र तथा डा० प्रतिभा राय (मूर्तिदेवी पुरस्कार से सम्मानित) द्वारा सम्पादित दो अभिनन्दन ग्रन्थ आपका यशोगान कर रहे हैं।



खट्टी मीठी यादें

डा० अरुण कुमार सेन

पूर्व बंगाल के ढाका जिले में हमारे पूर्वजों का एक बहुत सुन्दर ग्राम था जिसका नाम है सोनारंग अर्थात् सोने जैसा रंग वाला। इस ग्राम में दो बड़े विद्वानों का परिवार था— बड़ा विशारद बाड़ी एवं छोटा विशारद बाड़ी। बड़ा विशारद बाड़ी में हमारे काका आचार्य क्षितिमोहन सेन थे। वे संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् थे और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के दाहिने हाथ थे। रवि ठाकुर की मृत्यु के बाद शान्तिनिकेतन का दायित्व भी उन्होंने कुछ दिनों के लिए सम्भाला था। छोटा विशारद बाड़ी में हमारे पूर्वज रहते थे। मेरे पिता कृतार्थकमल सेन का उसी बाड़ी में लालन-पालन हुआ और सरकारी डाक्टर की नौकरी लेकर सन् 1914 में वे मध्यप्रदेश आ गए। मेरा जन्म 6 मई 1928 को मध्यप्रदेश के रायपुर जिले के राजिम ग्राम में हुआ था। बचपन से ही मुझे संगीत के प्रति रुझान था। जब मेरी उम्र मात्र 5-6 वर्ष की थी, मैं तब से सार्वजनिक समारोह में गाया करता था, विशेष रूप से लम्बे आलाप के साथ 'वन्दे मातरम्' का गायन मेरी विशेषता थी। मेरे प्रथम संगीत गुरु श्री नारायण मित्र महोदय थे। पिताजी स्वयं बहुत अच्छे गायक थे और मध्यरात्रि के समय जब वे मरीज देखकर लौटते थे, तो गांव के दूसरे छोर से उनकी आवाज हवा में लहराती हुई आती थी और मेरी मां को संकेत देती थी कि वह पिताजी के लिए खाना गरम करे।

मेरे परिवार में वैसे तो संगीत प्रेम सभी में था परन्तु मुझमें विशेष रूप से सांगीतिक प्रतिभा देखकर पिताजी के मन में इच्छा हुई कि मैं रायपुर कालीबाड़ी में प्रतिवर्ष आयोजित संगीत प्रतियोगिता में भाग लूं। मुझे याद है कि गुरु जी श्री नारायण मित्रजी ने मुझे राग यमनकल्याण में एक रचना प्रतियोगिता के लिए सिखाई थी और मैं इस प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए आरंग से रायपुर लाया गया था। उस समय उम्र के आधार पर प्रतियोगिता में वर्गीकरण नहीं था। पिछले कई वर्षों से चौदह-पन्द्रह वर्ष की एक बालिका प्रतियोगिता में प्रतिवर्ष प्रथम आती थी। मेरे लिए प्रतियोगिता का वह दृश्य ही नया था। जब मैं एक प्रतियोगी के रूप में गाने लगा तो माहौल देखकर बड़ी घबराहट हुई। मुझे कंपकंपी छूट गई, आंखे गीली हो गई पर सामने गुरुजी की कठोर मुद्रा को देखकर मुझे लगा यदि मैंने गाना बन्द कर दिया तो मेरी पिटाई हो जाएगी। रोते-रोते ही मैंने अपना गाना पूरा किया। शायद मेरे बालपन का ही निर्णायकों पर प्रभाव पड़ा हो—मैं प्रतियोगिता में प्रथम आया और पिछले अनेक वर्षों से प्रथम आने वाली बालिका को

निराश होना पड़ा। मेरे पिताजी इतने प्रसन्न हुए कि मुझे गोद में लेकर आनन्द से थिरकने लगे। मेरे गुरुजी भी बहुत प्रसन्न थे। उन्होंने कांच निर्मित बन्दूक में पीपरमेन्ट की गोलियों को भरकर उपहार स्वरूप मुझे दिया था।

संगीत शिक्षा के साथ मेरा विद्याध्ययन भी नियमित चलता रहा।

आरंग से मैंने चौथी प्राइमरी की परीक्षा उत्तीर्ण की। वहां कोई हाई स्कूल नहीं था इसीलिये मुझे रायपुर भेज कर पढ़ाने का निर्णय पिताजी ने लिया।

मैं पाँचवी से आठवीं तक चार वर्ष मिडिल स्कूल की कक्षाओं में पढ़ता रहा। जिन गुरुओं से मुझे उस समय शिक्षा मिली उनका भव्य आदर्श स्वरूप आज भी हृदय पटल पर अंकित है। कक्षा छठी में मुमताज अली साहब हमारे कक्षा के अध्यापक थे, अंग्रेजी पढ़ाते थे। विशेषकर अंग्रेजी व्याकरण को इतने सहज ढंग से पढ़ाते थे कि अंग्रेजी की बुनियाद मेरे लिए पक्की हो गई। सेवामुक्त होने के बाद अनेक वर्षों तक वे जीवित थे और मेरा उनका सान्निध्य बना रहा। कक्षा आठवीं में कुसरे मास्टर साहब से हमने गणित का अध्ययन किया। उस समय घर का काम करके कक्षा में न जाने वाले विद्यार्थियों को मार पड़ती थी, पर इस मार से विद्यार्थियों को जो लाभ मिलता था वह अवर्णनीय है। मुझे याद है कि एक बार कुसरे मास्टर साहब ने मेरी हथेली पर अपनी छड़ी से मारा था पर उसके परिणामस्वरूप मैं गणित में कक्षा का सर्वोत्तम विद्यार्थी भी बना। आज मुझे अपने गुरुओं की याद आ रही है जिनके आशीर्वाद एवं मार्ग दर्शन से मेरी शिक्षा सार्थक हुई। मुझे याद है, हाई स्कूल में जठार मास्टर साहब ने मुझे पढ़ाया था। यह संयोग था कि बी०ए पास होने के बाद मैं कालीबाड़ी स्कूल में जब शिक्षक बना तब जठार साहब सेवा निवृत्त होकर उसी स्कूल में हेडमास्टर थे। जो प्यार मुझे एक विद्यार्थी के रूप में स्कूल में उनसे मिला था वही मुझे एक शिक्षक के रूप में उनके प्रमुख शिक्षक होने के पश्चात् भी मिलता रहा। उनकी मधुर स्मृतियां आज भी बनी हुई हैं। हमारे साथ अमजद अली नाम का एक छात्र था, जिसे उर्दू और फारसी में इतने अंक मिलते थे कि हम हिन्दी और संस्कृत पढ़ने वाले कभी उसकी बराबरी न कर पाए। हमारे स्कूल में 11वीं तक केवल दो ही सेक्शन थे। परीक्षा में प्रथम श्रेणी पाना बहुत कठिन था। दोनों सेक्शन से केवल चार विद्यार्थी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुए थे। सौभाग्यवश मुझे भी प्रथम श्रेणी प्राप्त हुई थी।

स्कूल की पढ़ाई के साथ-साथ मेरी संगीत की शिक्षा भी चलती रही और बूढ़ापारा में मेरे गुरुवर्य पं० विष्णु कृष्ण जोशी से मैंने ग्वालियर घराने का शास्त्रीय गायन सीखा। श्रीराम संगीत महाविद्यालय में हम लोग आदरणीय जोशी जी से गायन सीखते थे और छोटी कक्षाओं में अध्यापन भी करते थे। शास्त्रीय संगीत की यह शिक्षा मेरे जीवन में नींव के पत्थर के समान हुई। मेरा गायन बचपन से चलता रहा। अनेक संगीत कार्यक्रमों में पुरस्कृत हुआ। जब मैं कक्षा दसवीं में था उस समय मुझे मेरे गुरुजी पांच अन्य संगीत

के विद्यार्थियों के साथ लेकर परीक्षा हेतु ग्वालियर गए थे। हमने ग्वालियर स्टेट में प्रचलित संगीत की सबसे ऊंची उपाधि 'संगीतरत्न' की परीक्षा दी।

उस समय की गायन परीक्षा आजकल के समान सहज नहीं थी। मुझे याद है हम सब लोग ग्वालियर में एक धर्मशाला में रुके थे। परीक्षा के समय परीक्षक के रूप में सामने पांच वयोवृद्ध संगीत विद्वान् बैठे हुए थे। कुंडलगुरु बाडाभाऊ उमडेकर और राजा भैया पूंछवाले के सर पर बहुत बड़ी पगड़ी थी। उनके भव्य स्वरूप को देखकर विद्यार्थी वैसे ही थरथरा जाते थे। हमारे साथ गायन में संगति करने के लिए एक सारंगी वादक भी थे पर वे परीक्षार्थी को कोई सहारा नहीं देते थे। यदि परीक्षार्थी बेसुर गाता था तो वे भी उसी सुर में सारंगी बजाते थे। पांच विद्वान् परीक्षकों का मिलकर एक साथ जो आक्रमण होता था उसकी याद करने के बाद आज की प्रायोगिक परीक्षा हास्यास्पद लगती है।

उस समय देश के विभिन्न नगरों से अनेक परीक्षार्थी ग्वालियर जाते थे। यह 1944 की बात है। परीक्षा कड़ी होती थी। उस वर्ष प्रथम श्रेणी में एक भी विद्यार्थी उत्तीर्ण नहीं हो सका था। शास्त्र और प्रायोगिक परीक्षा में मुझे द्वितीय श्रेणी में सर्वोच्च अंक प्राप्त हुए। इस परीक्षा के बाद मैंने लखनऊ से 'संगीत निपुण' की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। आजकल 'सभा गायन' की परीक्षा उसी कमरे में ली जाती है जहाँ सामान्य प्रायोगिक परीक्षा होती है। मातखण्डे विद्यापीठ, लखनऊ द्वारा 'संगीत निपुण' की परीक्षा में विशाल प्रेक्षागृह में निमंत्रित अतिथियों के सामने परीक्षार्थी को अपना गायन प्रस्तुत करना पड़ता था। कम से कम तीन प्रायोगिक परीक्षक होते थे जो प्रश्नों की झड़ी लगा देते थे। अच्छे अच्छे विद्यार्थी घबरा जाते थे और उनकी आवाज कांपने लग जाती थी। इन परीक्षाओं का सबसे बड़ा लाभ यह था कि विद्यार्थी अपनी पूरी तैयारी संगीत साधना के रूप में करते थे जिसका लाभ उन्हें आजीवन प्राप्त होता था। आज भी मुझे उस समय के तैयार किये गए राग और बंदिशें पूरी तरह याद हैं। नियमित अभ्यास से ही संगीत के क्षेत्र में कुशलता प्राप्त होती है। ऐसे ही अवसर के लिए— 'अधबूड़े बूड़े, तैरे जे बूड़े सब अंग' अर्थात् 'जो ज्ञान के क्षेत्र में आधा डूबता है, वह डूब जाता है पर जो पूरी तरह डूबता, वह तैर जाता है अर्थात् वही वास्तव में ज्ञानी बन जाता है 'कहावत सार्थक होती है। मैं जब विद्यार्थी था, उस समय संगीत का अध्ययन करते हुए मुझे नीचे की कक्षाओं को नियमित रूप से पढ़ाने का अवसर भी मिलता था। इस तरह सीखी हुई बंदिशों एवं रागों की पुनरावृत्ति होती थी। विद्या के क्षेत्र में यह कहावत सचमुच सार्थक है— 'विद्या का जितना दान करोगे, तुम्हारी विद्या उतनी ही बढ़ेगी।' आज के विद्यार्थियों पर पढ़ाई का इतना बोझ लाद दिया जाता है कि वे ज्ञान के क्षेत्र में अधूरे रह जाते हैं और उनके व्यक्तित्व का सही विकास नहीं हो पाता।

मैंने स्वाध्यायी विद्यार्थी के रूप में हिन्दी साहित्य में एम०ए० नागपुर विश्वविद्यालय

से किया और साथ-साथ शिक्षक का कार्य भी करता रहा। इसी विश्वविद्यालय से मुझे "भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन" विषय पर पीएच० डी० की उपाधि मिली। जीवन के विकास में गुरु का कितना महत्त्व है, यह मैं सामान्य शिक्षा एवं संगीत की सूक्ष्म शिक्षा के क्षेत्र में अनुभव करता रहा। शिष्य के प्रयासों को सफल सार्थक करने में, ज्ञान पिपासा को शांत करने तथा उपलब्धियों की ओर प्रेरित करने में मुझे अपने गुरुओं का निरंतर आशीर्वाद मिलता रहा है। मैं श्रीराम एवं अन्य महामानवों के जीवन वृत्त को, उनके आदर्शों को स्वरचित गीतों में कथासूत्र से बांधकर प्रस्तुत कर सकूँ, यह मेरी अभिलाषा थी। इस क्षेत्र में मुझे मेरे गुरुओं का आशीर्वादपूर्ण सान्निध्य प्राप्त हुआ। यह सत्य है एक सफल एवं आदर्श अध्यापक निर्देशक, दार्शनिक तथा मित्र होता है, जो स्वयं को शिष्य के ऊपर थोपता नहीं है वरन् उसकी जरूरतों को गहराइयों से अनुभव करता हुआ उसके साथ तादात्म्य स्थापित करता है। मैं मूलतः गायक था, मेरी कवित्व शक्ति के विकास में मेरे हिन्दी के प्राध्यापक स्व० श्री रामेश्वर प्रसाद श्रीवास्तव का बहुत बड़ा योगदान रहा। मेरे 'गीत रामायण' की रचना के समय भरत के सम्बन्ध में उन्होंने मुझसे कहा, 'कैसे कहते हो भरत निष्पाप थे, निष्कलंक थे! हो सकता है मामा के घर से वे परिस्थितियों का आकलन कर रहे हों प्रजा ने स्वीकार कर लिया तो राज्य करूंगा अन्यथा मंथरा और कैकई को आरोपित कर श्रीराम को बुलवा लूंगा।' इस उक्ति ने मुझे झकझोर दिया था और मेरे 'गीत रामायण' में भरत के लिये गीत बना—

विकल भरत कहते करुणा से, एक बार तो अवसर देते!

वनवासी बनने से पहले भैया, मुझको बुलवा लेते।

'गीत रामायण' की लोकप्रियता ने मुझे अन्य महामानवों के कृतित्व को गीतों में मंच पर प्रस्तुत करने की प्रेरणा दी और इसी क्रम में 'गीत नानक' 'गीत महावीर' 'गीत गांधी' 'गीत विवेकानंद' आदि की रचना होती गई। इस नई विधा में सामान्य जनमानस को आकर्षित करने, प्रभावित करने की शक्ति का मैंने अनुभव किया। शब्द और स्वर के मिलन से जो चमत्कार होता है, उसे पहचानने की क्षमता मुझे गुरुओं से मिली। मेरे 'गीत रामायण' में रामजन्म का गीत मैंने राग गौड़ सारंग में बांधा, जो दोपहर का राग है। शब्दों-स्वरों के समन्वय से मुझे अनिवर्चनीय आनंद मिला। शास्त्रीय गायन के क्षेत्र में भी मैंने स्वरचित विलंबित एवं मध्यलय के ख्यालों की जोड़ियां बनाईं, दरबारी कानड़ा राग में आकाशवाणी से रात ग्यारह बजे आधे घंटे के लिये प्रसारित 'मुबारक वादियां शादियां तोहे दीनी', विलंबित ख्याल के साथ मध्यलय के ख्याल 'घर जाने दे, छंड मोरी बइयां' के विरोधी भावों को बदलकर मैंने विलंबित ख्याल में श्रीकृष्ण की रास-लीला पर आधारित 'सुंदर घनश्याम' तथा मध्यलय में 'गीता को रचे कन्हैया' की जोड़ी बनाकर गाया। जिस दिन पृथक बांग्लादेश की घोषणा हुई, मुझे आकाशवाणी नागपुर से राग

चंद्रकौंस को प्रसारित करना था। मैंने तत्काल 'शस्य श्यामला बांग्लादेश तव जय, जय हो' बंदिश रचकर गाया। शिष्य की सृजनशीलता को गुरु का स्पर्श मिले, यही महान् गुरुओं का लक्ष्य होता है। अच्छे गुरु के आशीर्वाद के साथ समूची गुरु परम्परा का आशीर्वाद शिष्य को प्राप्त हो जाता है।

स्कूल कालेज में दी जाने वाली कक्षागत शिक्षा शिष्य के या विद्यार्थी के सर्वांगीण विकास हेतु वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आवश्यक है, ऐसा मैं मानता हूँ। इस माध्यम से अनेक गुरुओं का सान्निध्य, अनेक विषयों का ज्ञान विद्यार्थी को मिलता है, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में विद्यार्थी के जीवन को संवारने में महत्त्वपूर्ण सिद्ध होता है। स्वामी विवेकानन्द के जीवन में गुरु रामकृष्ण परमहंस का सान्निध्य महत्त्वपूर्ण उदाहरण है, जिन्होंने विवेकानन्द को एक योद्धा संन्यासी के रूप में आगे बढ़ने का पाथेय दिया और संन्यासी जीवन में सेवा के महत्त्व को प्रतिष्ठित किया। अनुकरणीय गुरु वही है, जो शिष्य की शक्ति का आकलन कर उसके जीवन-क्रम में नवीन आदर्शों को प्रस्थापित कर सके। जिस समय उद्धत विवेकानन्द निर्विकल्प समाधि लेने की बात सोच रहे थे, गुरु रामकृष्ण परमहंस ने कहा था—

‘अरे दृश्य मैं देख रहा हूँ, तू विशाल वट वृक्ष बनेगा
और सैकड़ों दुखीजनों को, पावन शीतल छाया देगा।
इधर व्यस्त तू मुक्ति हेतु निज, इतना लघु आदर्श व्यर्थ रे
नारायण जो छिपे नरों में, उनकी सेवा परम अर्थ रे,
बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, हो नरेन्द्र तेरा यह जीवन।

गुरु को ब्रह्मा, विष्णु, शिव या साक्षात् परब्रह्म मानकर प्रणाम करने में शिष्य में दासत्व की भावना पनपती है, इस विचार से मैं सहमत नहीं हूँ। गुरु के आदर्शों को शिष्य ग्रहण करे और अपनी प्रतिभा को विकसित करे, यही सच्चे गुरु भी चाहते हैं। ग्वालियर घराने के प्रसिद्ध गुरु एवं गायक स्व० राजा भैयाजी के पास एक शिष्य संगीत सीखने आये थे। राजा भैयाजी के एक पैर में तकलीफ थी और वे लंगड़ाकर चलते थे। शिष्य ने भी निष्ठा से लंगड़ाकर चलना प्रारंभ कर दिया। राजा भैयाजी ने जब यह देखा तो अत्यंत कुपित हुये और उन्होंने कहा कि 'तू मेरे पास संगीत सीखने आया है, लंगड़ाने की शिक्षा लेने नहीं आया है।' गुरुओं के आदर्शों का समन्वित प्रभाव मेरे जीवन में पड़ता रहा है। आज भी प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जहां से जो कुछ सीखने को मिलता है, सीखता रहता हूँ अपनी खट्टी-मीठी यादों से कोई सार्थक कार्य जीवन के अंतिम क्षण तक कर सकूँ, इसी अभिलाषा के साथ।

लेखक – परिचय

संगीत उपासना है, साधना है, तपस्या है। संगीत भक्ति है। संगीत आनन्द है। डा० श्री



अरुण कुमार सेन उपासक हैं, साधक हैं, तपस्वी हैं, भक्त हैं, आनन्द में निमज्जित हो लिखते हैं, बन्दिशें बनाते हैं, सुरबद्ध करते हैं, गाते हैं, आनन्द पाते हैं, आनन्द बिखेरते हैं।

सुगायक, सुकवि, संगीतकार अरुण कुमार जी का जन्म राजिम, जिला रायपुर (मध्य प्रदेश) में पिता श्री कृतार्थकमल सेन के घर 7 जून 1928 को हुआ। संगीत प्रेमी पिता से संगीत के संस्कार पा तथा जन्मजात प्रतिभा से सम्पन्न आपने बहुत बचपन से ही संगीत साधना प्रारम्भ कर दी और मंच पर गाना भी। आपने 'संगीत निपुण' तथा 'संगीतरत्न' के अतिरिक्त 'साहित्य रत्न' और 'धर्म विशारद' की उपाधियां भी अर्जित की हैं। दूसरी ओर हिन्दी साहित्य में एम०ए० की परीक्षा स्वाध्यायी विद्यार्थी के रूप में नागपुर विश्वविद्यालय से उत्तीर्ण की तथा उसी विश्वविद्यालय से 'भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन' विषय पर पीएच.डी. की उपाधि भी प्राप्त की। सुगायक डा० अरुण कुमार जी रेडियो एवं दूरदर्शन के 'ए' ग्रेड के कलाकार हैं— ग्वालियर घराना के शास्त्रीय गायन ख्याल आपका प्रमुख क्षेत्र है। आप संगीत के क्षेत्र में अनेक सम्मानित पदों पर रह चुके हैं अथवा अभी भी हैं। उनमें से कतिपय का नामोल्लेख करना आपके बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्तित्व का एक चित्र प्रस्तुत करने में पर्याप्त होगा।

अरुण कुमार जी भातखण्डे संगीत संस्थान, मुम्बई एवं रायपुर के प्रमुख निदेशक हैं। मध्यप्रदेश फिल्म विकास निगम (मर्यादित) के आप अध्यक्ष पद पर आसीन हैं। इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय, खैरागढ़, के उप-कुलपति के साथ साथ रायपुर के कमलादेवी संगीत महाविद्यालय के संस्थापक प्राचार्य; लक्ष्मी नारायण कन्या उच्चतर माध्यमिक विद्यालय के संस्थापक और भातखण्डे ललित कला शिक्षा समिति के संस्थापक तथा अध्यक्ष हैं। आप अखिल भारतीय संगीत समाज के अध्यक्ष तथा भैरवी कला समिति, दिल्ली के संरक्षक हैं। अरुण कुमार जी मध्य प्रदेश कला परिषद भोपाल, इन्दिरा कला संगीत विश्वविद्यालय खैरागढ़ और अनेक विश्वविद्यालयों एवं अखिल भारतीय शोध तथा सांस्कृतिक संस्थाओं के सदस्य हैं। डा० सेन अनेक अखिल भारतीय परिसंवादों तथा कर्मशालाओं का संयोजन कर चुके हैं। वे अनेक विश्वविद्यालयों से स्वीकृत शोध निर्देशक तथा परीक्षक हैं।

सुगायक डा० सेन स्वयं सुकवि भी हैं। उन्होंने स्वयं रामायण की कथा को गेयरूप में लिखा तथा स्वरबद्ध किया है। वे उसके गायक भी स्वयं हैं। इस विधा को उन्होंने 'गीत रामायण' के नाम से परिचित करवाया। इसी भांति की उनकी रचनाएं हैं 'गीत नानक', 'गीत महावीर', 'गीत विवेकानन्द' आदि जिनका गायन देश और विदेश में करते हैं। उक्त गीतों के उनके ग्रामोफोन रिकार्ड्स और कैसेट्स हैं जिनके नाम हैं— 'गीत

गांधी', 'गीत रामायण', 'गीत महावीर', 'गीत नानक', 'छत्तीस गढ़ी गीत' तथा 'गायन पाठमाला'। अरुण जी के उक्त स्वरचित गीत अत्यधिक लोकप्रिय हैं। न केवल देश अपितु विदेश में— कल्याण आश्रम ट्रस्ट लन्दन के निमन्त्रण पर भारतीय आदिवासियों के सहायतार्थ 'गीत रामायण' का विभिन्न नगरों में गायन हो चुका है। अन्तरराष्ट्रीय रामायण सम्मेलन ह्यूस्टन, यू०एस०ए० में गीत रामायण के गायन हेतु आप आमन्त्रित हुए। इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय तथ्य है कि डा० अरुण कुमार सेन के गायन में सहभागिता करती हैं उनकी सुगायिका विदुषी धर्मपत्नी डा० अनीता सेन जी। संगीत साधक इस दम्पती का 'गीत रामायण' इतना प्रसिद्ध तथा प्रचलित हुआ कि पूर्व राष्ट्रपति महामहिम डा० शंकरदयाल शर्मा जी ने 'गीत रामायण' गायन हेतु सन् 1995 में श्रीमती तथा श्री सेन का राष्ट्रपति भवन में सम्मान किया।

'गीत रामायण' में श्रीराम—जन्म से सीता के पाताल प्रवेश तक की गीतमय गाथा पुस्तकाकार में प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त चौबीसवें तीर्थङ्कर भगवान् महावीर स्वामी की गीतमय गाथा भी प्रकाशित है। उनकी अन्य प्रकाशित रचनाएं हैं 'गीत नानक', 'गीत गांधी', 'गीत रामकृष्ण', 'गीत विवेकानन्द' आदि। इनके अतिरिक्त आपकी प्रकाशित रचनाओं में उल्लेखनीय है 'रानी दुर्गावती नाटक', 'भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन', 'उत्तर भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास' और 'Indian Concept of Rytham'.



वर्तमान सन्दर्भ में गुरु की प्रासंगिकता

डा० बालाशोर रेड्डी

प्राचीन भारतीय परम्परा में गुरु को अत्यधिक सम्मान दिया जाता रहा है। गुरु को ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर ही नहीं, बल्कि साक्षात् परब्रह्म मान कर उनकी वन्दना की गई है। 'आचार्य देवो भव' कहकर उन्हें देवताओं की पंक्ति में बिठाया गया है। प्रायः विश्व के सभी धर्मों में गुरु को ईश्वर का अवतार या प्रतिनिधि अथवा ईश्वर तक पहुंचने वाले मार्गदर्शक के रूप में स्वीकार कर लिया गया है।

सन्त कबीर ने गुरु-गोविन्द की महानता को स्वीकारते हुए गोविन्द की अपेक्षा गुरु के महत्त्व को अधिक माना है। तेलुगु के सुविख्यात सन्त कवि वेमना ने गुरु के बिना सही और सच्ची विद्या की प्राप्ति को असम्भव बताया है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि गुरु शिष्य को जो ज्ञान रूपी आलोक प्रदान करता है उसकी रोशनी में शिष्य जगत् को समझने में सफल होता है। इस कारण गुरु का आदर अथवा सम्मान अवश्य करना चाहिए परन्तु उनको ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर आदि देवों की कोटि में रखना सर्वथा अनुचित है। मनुष्य के समग्र विकास के लिए अनेक प्रकार के व्यक्तियों के सहयोग एवं मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। केवल बौद्धिक विकास ही व्यक्ति की पूर्णता का द्योतक नहीं है। शारीरिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। अतः हम यह नहीं कह सकते हैं कि गुरु अथवा आचार्य सर्वगुणसम्पन्न होते हैं। अधिकांश गुरु अरिषड्वर्ग के प्रलोभन से मुक्त नहीं होते हैं। पुराण, इतिहास, काव्य इत्यादि इस कथन की पुष्टि करते हैं।

प्राचीन काल में आध्यात्मिक ज्ञान कराने वाले गुरु को गोविन्द के सदृश माना गया है। इनमें भी साधारण गृहस्थों की अपेक्षा साधु, सन्त, मुनि एवं भक्तों ने ही गुरु का अधिक आश्रय लिया और उनकी शरण में गए। साधारण गृहस्थ अपने तथा अपने परिवार के भरण-पोषण तथा जीवन-यापन हेतु शारीरिक श्रम करते हुए अवकाश के क्षणों में ज्ञान और भक्तिमार्ग का आश्रय लेते रहें हैं। गुरु के प्रति भक्ति एवं श्रद्धा दर्शाकर उनसे भुक्तिमार्ग के उपदेश मात्र ग्रहण करते रहें हैं। इसलिए गुरु सामान्य गृहस्थों के लिए मार्गदर्शक और उपदेशक मात्र थे परन्तु गृहस्थों के लिए केवल अध्यात्म ज्ञान ही पर्याप्त

नहीं होता है अपितु लोक जीवन के निर्वाह के लिए आवश्यक विविध क्षेत्रों का ज्ञान भी उतना ही आवश्यक है। इस दृष्टि से एक गृहस्थ के जीवनकाल में अनेक प्रकार के गुरुजनों से सम्पर्क होता है।

जीवन वैविध्यपूर्ण ही नहीं वरन् व्यापक और गहन भी होता है। अतः जीवनकाल में उपस्थित होने वाली समस्याओं का सामना करने अथवा उन्हें हल करने के लिए कई लोगों की सहायता अथवा सहयोग की आवश्यकता होती है। उन स्थितियों से जूझने के लिए जो लोग हमारे पथ-प्रदर्शक बनते हैं, वे भी एक प्रकार से हमारे गुरु होते हैं। इस प्रकार वर्तमान समय में गुरु की परिभाषा को एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में निर्धारित करना होगा।

आधुनिक युग में हमें जो शिक्षा मिलती है वह अनेक सोपानों से गुजरते हुए पूरी होती है अथवा हम शिक्षा-क्षेत्र में आधी मंजिल भी तै नहीं कर पाते हैं। जो शिक्षा मिलती है वह अधूरी होती है। यदि कोई प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा तक का ज्ञान प्राप्त करता है तो उस अवधि तक वह गुरु के महत्त्व को समझने की स्थिति में नहीं होता है। साथ ही आधुनिक शिक्षा-प्रणाली व्यावसायिक दृष्टि-प्रधान है। उसका लक्ष्य या आदर्श शिक्षार्थी के बौद्धिक, शारीरिक एवं चारित्रिक विकास को प्रश्रय देना नहीं है। सबसे अधिक विडम्बना की बात यह है कि प्राथमिक शिक्षा से लेकर उच्च शिक्षा की समाप्ति तक एक विद्यार्थी को अनेक गुरुओं से अनेक विषयों का ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। गुरुजन स्कूलों, कालिजों और विश्वविद्यालयों में वही शिक्षा देते हैं जो उनके पाठ्यक्रम में निर्धारित होता है। उसमें गुरु की मौलिक प्रतिभा कहीं दर्शित नहीं होती है। वे मात्र व्याख्याता होते हैं। अतः आज के विद्यार्थी पर अधिकांश गुरु अपना प्रभाव डाल नहीं पाते हैं और यदि कहीं गुरुजनों का प्रभाव किसी विद्यार्थी पर परिलक्षित होता भी है तो वह स्नातकोत्तर कक्षाओं अथवा शोध छात्रों पर ही क्योंकि गुरु के साथ उनका सीधा सम्पर्क होता है और उनके निर्देशन अथवा मार्गदर्शन में शोधार्थी अध्ययन करता है।

प्राचीनकाल में गुरुकुल शिक्षाप्रणाली अमल में थी। इस कारण छात्र आरम्भ से लेकर शिक्षा की परिसमाप्ति तक गुरु के सान्निध्य में और उनके पर्यवेक्षण में विद्याध्ययन करते थे। गुरु प्रत्यक्ष रूप से उनके सुख-दुःखों का ध्यान रखते थे और उन्हें उत्तम भावी नागरिक बनाने के लिए उनके बौद्धिक विकास के साथ चारित्रिक विकास पर भी ध्यान देते थे। नालन्दा, विक्रमशिला, तक्षशिला आदि के समान विश्वविद्यालयों में वशिष्ठ, विश्वामित्र, द्रोण, सान्दीपनि, चाणक्य इत्यादि आचार्यों के सान्निध्य में शिक्षा प्राप्त करके

कृष्ण, अर्जुन, चन्द्रगुप्त आदि के तुल्य प्रतापी तथा यशस्वी महानुभाव इतिहास प्रसिद्ध हो चुके।

गुरुकुलों में आचार्य अपने शिष्यों को शिक्षा तो देते थे पर साथ ही उन्हें एक योग्य नागरिक बनाने के संकल्प से उनके शारीरिक एवं चारित्रिक विकास का भी समुचित मार्गदर्शन करते रहे और देश के प्रति उनका कर्तव्य बोध भी कराते रहे। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि वे मिट्टी जैसे पदार्थरूपी शिशु को मूर्तरूप देकर एक प्रतिमा को स्वरूप प्रदान करते थे। यही कारण है कि शिक्षार्थी भी गुरु के इस उपकार से अभिभूत होकर उन्हें देवस्वरूप मानते रहे हैं। इसके अतिरिक्त आश्रम में विद्याध्ययन काल में शिष्य गुरु और गुरुमाता की सेवा करते हुए उनके प्रति पितृवत् तथा मातृवत् व्यवहार करते थे। गुरु दम्पती भी शिष्यों को अपने पुत्रवत् मानकर उनकी केवल शिक्षा के प्रति ही नहीं अपितु उनके सर्वांगीण विकास पर ध्यान देकर उनके पूर्ण योग-क्षेम का दायित्व वहन करते थे। अतः वे शिष्यों की दृष्टि में देवता स्वरूप हो जाते थे।

वर्तमान समय में न गुरु में वह व्यापक दृष्टि रही और न शिष्य के मन में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा तथा समर्पित भावना ही। अधिकांश अध्यापक अत्यधिक स्वार्थ से प्रेरित हो विद्यार्थियों के माध्यम से धन-प्राप्ति के लिए शिक्षा को माध्यम बनाये हुए हैं। इस कारण आचार्यों के प्रति शिष्यों के मन में न आदर तथा सम्मान की भावना और न आचार्यों में अपने शिष्यों के प्रति दायित्व-बोध। फलतः दोनों एक दूसरे के द्वारा उपेक्षित हैं। अनुशासन भी न रहा। विद्यार्थी आचार्यों से विद्या खरीदते हैं और कतिपय स्थितियों में आचार्य के व्यवहार से असन्तुष्ट विद्यार्थी उनका अपमान करने तथा उन्हें मारने पीटने के लिए उद्यत हो जाते हैं।

इस परिप्रेक्ष्य में 'अनुकरणीय गुरु' की परिकल्पना करना हास्यास्पद नहीं तो आश्चर्य की बात मानी जाएगी।

जहां तक मेरे गुरुजनों का प्रश्न है, उनमें से दो गुरुओं ने मुझ पर विशेष प्रभाव डाला और मेरा सही पथ-निर्देश किया। मेरे गांव गोमल गूडूर, आन्ध्र प्रदेश की पाठशाला में चार अध्यापक थे— लक्ष्मी रेड्डी, वेंकट रेड्डी, यल्ला रेड्डी और ओबुल रेड्डी। लक्ष्मी रेड्डी पहली कक्षा के अध्यापक थे—अत्यन्त क्रूर प्रकृति के। कठोर दण्ड देते थे और तुनक मिजाज के थे। दूसरे शिक्षक थोड़ा-बहुत समझाते थे परन्तु वे बहुधा अस्वस्थ रहा करते थे और उनके परिवार में सदा कलह हुआ करता था। तीसरे यल्लारेड्डी जी अपने विषय के पूर्ण ज्ञाता थे और प्रतिभावान् थे। सम्पन्न परिवार के थे। पढ़ाते बहुत अच्छा थे।

वे इन्टरमीडिएट परीक्षा पास थे। जरूरतमन्दों और गरीबों को अधिक ब्याज पर ऋण देकर उनका शोषण करते थे। फलतः उनके पढ़ाने पर तो हम मुग्ध थे किन्तु उनकी इस अमानवीय शोषण प्रवृत्ति पर असन्तुष्ट। आज भी उनकी शिक्षण-पद्धति की प्रशंसा करते उनके पुराने विद्यार्थी थकते नहीं हैं।

हाईस्कूल में श्रीरामस्वामी तथा श्री ज्वालापति, दो अध्यापकों ने मुझ पर अमिट प्रभाव डाला। आन्ध्र प्रदेश के नेल्डूर शहर के सेन्ट जोसफ हाई स्कूल में वे दोनों शिक्षक थे। श्री रामस्वामी जी इतिहास पढ़ाते थे। देश और विदेश के इतिहास इस प्रकार पढ़ाते थे कि पूरे वर्ग में कोई भी विद्यार्थी अनुर्त्तीण नहीं होता था। मैं तो सदा प्रथम श्रेणी में प्रथम स्थान पर रहता था। ऐतिहासिक स्थलों का जीता-जागता वर्णन इस प्रकार करते थे मानो वे दृश्य हमारे समक्ष प्रत्यक्ष हैं। उन्हीं से प्रेरणा पाकर मैंने अपनी पढ़ाई समाप्त होते ही भारत के अधिकांश ऐतिहासिक स्थलों का भ्रमण किया था।

श्री ज्वालापति जी गणित पढ़ाते थे। वे इस प्रकार समझाते थे कि मूर्ख से मूर्ख विद्यार्थी भी गणित के सवाल आसानी से हल कर देता था। हिन्दी के कथाशिल्पी प्रेमचन्द जी ने 'मेरा बचपन' लेख में लिखा था कि गणित उनके लिए गौरीशंकर के शिखर के समान था जिस पर वे चढ़ नहीं सके। यदि वे हमारे गुरु श्री ज्वालापति से गणित सीखते तो निश्चय ही उत्तीर्ण हो जाते। इन दो गुरुओं के प्रति मैं जीवन पर्यन्त कृतज्ञ रहूंगा ही। इसी प्रकार हमारे भूगोल के मास्टर श्री विलियम ने भूगोलशास्त्र इतना अच्छा पढ़ाया था कि आज भी मैं सारे विषय तत्काल बताने में समर्थ हूँ।

काशी के विद्याध्ययन काल में राष्ट्रभाषा विद्यालय के प्राचार्य आचार्य गंगाधर मिश्र ने साहित्य और साहित्य का इतिहास हमारे मस्तिष्क में इस प्रकार ठूस दिया कि फिर उन विषयों को आज तक पुनः पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। वे सच्चे अर्थों में मेरे गुरु थे, विद्वत्ता में ही नहीं, आचरण में भी सही मानव थे। मेरा सौभाग्य था कि ऐसे आचार्य मुझे प्राप्त हुए। पुत्रवत् वात्सल्य दिया, पढ़ाया। मार्गदर्शन भी किया। मेरी शिक्षा की समाप्ति के 15 वर्ष पश्चात् वे मुझे देखने मद्रास आए, दस-पन्द्रह दिन हमारे साथ रहे। फिर मेरे साथ तिरुपति आदि क्षेत्रों में गए। मद्रास और तिरुपति के उच्चशिक्षा और शोध संस्थानों में व्याख्यान भी दिए। ऐसे गुरु पर कोई भी छात्र गर्व कर सकता है; श्रद्धा से अभिभूत होकर उन्हें नमन कर सकता है। आज भी वे मेरे स्मृति-पटल पर अंकित हैं। वे मेरे सच्चे गुरु तथा मार्गदर्शक रहे। वे शत प्रतिशत अनुकरणीय गुरु थे।



लेखक परिचय

संविधान के अनुसार हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार करना, उसे पढ़ना, लिखना और बोलना एक बात है और हिन्दी को अपना लेना, मातृभाषा— तुल्य उसे आत्मीया बना लेना, उसे अपना कण्ठहार बनाकर उसी भाषा को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बना लेना, संक्षेप में अहिन्दी भाषी होकर हिन्दी की यथासाध्य सेवा करना दूसरी बात है। डा० बालाशौरि रेड्डी ऐसे ही अहिन्दी भाषी हिन्दी उपासकों की अग्रिम पंक्ति में प्रतिष्ठित हैं। श्री गंगि रेड्डी तथा श्रीमती ओबुलम्मा के सुपुत्र बालाशौरि रेड्डी का जन्म 1 जुलाई 1928 को गोलागुडुर, कुडुप्पा जिला, आन्ध्रप्रदेश में हुआ था। प्रारम्भिक शिक्षा नेल्होर तथा कुडुप्पा में प्राप्त करके उच्च शिक्षा आपने इलाहाबाद तथा बनारस में प्राप्त की। मातृ भाषा तेलुगु के अतिरिक्त आप हिन्दी, अंग्रेजी, तमिल और कन्नड भाषाओं में निष्णात हैं।

आपने दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास के हिन्दी टीचर्स ट्रेनिंग कालिजों में प्रवक्ता तथा प्राचार्य के दायित्व का निर्वाह किया। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा में सम्पादक के रूप में भी कार्य किया। मद्रास से प्रकाशित हिन्दी चन्द्रामामा के आप दीर्घ 24 वर्षों तक सम्पादक रहे। इन कार्यों के अतिरिक्त हिन्दी की सेवा में अन्य अनेक गरिमामय पदों पर भी आप प्रतिष्ठित रहे यथा भारतीय भाषा परिषद् कलकत्ता के निदेशक, आन्ध्रप्रदेश हिन्दी अकादमी, हैदराबाद, के अध्यक्ष तथा मद्रास से प्रकाशित हिन्दी दैनिक 'चमकता सितारा' के भी आप सम्पादक रह चुके हैं। वर्तमान समय में डा० रेड्डी तामिलनाडु हिन्दी अकादमी के अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित हैं।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी डा० बालाशौरि रेड्डी का रचना संसार विविध भी है और विशाल भी। उनके रचित उपन्यास हैं शबरी, जिन्दगी की राह, ये बस्ती ये लोग, भग्न साहित्य मन्दिर, बैरिस्टर, स्वप्न और सत्य, प्रकाश और परछाई, लकुमा, धरती मेरी मां, प्रोफेसर, वीर केसरी और दावानल। डा० रेड्डी शिशु साहित्य के लिए विख्यात हैं। उनकी बच्चों की रचनाओं में कतिपय नाम हैं तेलुगु की लोककथाएं, आन्ध्र के महापुरुष, सत्य की खोज, तेनाली राम के लतीफे, तेनाली राम के नये लतीफे, बुद्ध से बुद्धिमान, न्याय की कहानियां, आदर्श जीवनियां, आमुक्त मर्यादा, आन्ध्र की लोककथाएं, दक्षिण की लोक कथाएं आदि। इनके अतिरिक्त संस्कृति तथा साहित्य आदि से सम्बन्धित रचनाओं में उल्लेखनीय हैं— पंचामृत, आन्ध्र भारती, तेलुगु साहित्य का इतिहास, तामिलनाडु,

कर्नाटक, वीर सालिंगम, तेलुगु साहित्य के निर्माता, तेलुगु साहित्य आदि। आपका अनूदित साहित्य भी पर्याप्त है जिसमें नौ-दस उपन्यास तथा चार कहानी संग्रह, पांच नाटक हैं। ये तो रहा हिन्दी में रचित उनके साहित्य की एक झलक। अपनी मातृभाषा तेलुगु में भी उन्होंने पांच पुस्तकें लिखी हैं जिनमें एक हिन्दी ग्रन्थ 'रामायण कालीन भारतीय संस्कृति' (शान्ति कुमार नानूराम व्यास) का तेलुगु अनुवाद भी सम्मिलित है। इन सबके अतिरिक्त उनके अनेक लेख सन्दर्भ ग्रन्थों तथा अभिनन्दन ग्रन्थों में भी संकलित हैं। आपके कोश-ग्रन्थ के संकलन के साथ हिन्दी के स्कूल तथा कालिज स्तरीय पाठ्य पुस्तकों के लिए भी आपकी रचनाओं का चयन किया गया है। आपने शताधिक सेमिनार तथा हिन्दी कार्यशालाओं में योगदान दिया है तथा विश्वविद्यालय में प्रदत्त आपके भाषणों की संख्या भी 100 से कम नहीं है। आकाशवाणी तथा दूरदर्शन से भी आपके कई कार्यक्रम प्रसारित होते हैं।

डा० रेड्डी अनेक संस्थाओं के साथ सम्बद्ध हैं जैसे बीस के लगभग शैक्षणिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं के सलाहकार हैं तो केन्द्र सरकार के विविध मन्त्रालयों के हिन्दी सलाहकार समिति के सलाहकार भी रहे हैं। राष्ट्रीय हिन्दी परिषद् मेरठ के अवैतनिक संरक्षक, आथर्स गिल्ड आफ इण्डिया के सदस्य और साहित्य अकादमी, नई दिल्ली की हिन्दी सलाहकार समिति के सदस्य पद को भी आप सुशोभित करते हैं।

डा० रेड्डी को उत्तर प्रदेश के शिक्षा मन्त्रालय लखनऊ, आन्ध्र प्रदेश साहित्य अकादमी हैदराबाद, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, इन्टरनेशनल आर्ट एण्ड कल्चरल सोसाइटी, नजीबाबाद, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, बंगलौर यूनिवर्सिटी आदि के द्वारा समय समय पर सम्मानित किया गया है। आपको 'साहित्य वारिधि', 'वाङ्मय रत्नाकर', 'साहित्य वाचस्पति' तथा 'उत्तर रत्न पुरस्कार' और 'आन्ध्र ऋषि पुरस्कार' से अलंकृत किया गया है तथा काशी विश्वविद्यालय ने आपको मानद डी.लिट् की उपाधि प्रदान की है।

बालाशौरि रेड्डी महोदय के व्यक्तित्व तथा कृतित्व से प्रेरित होकर उन पर शोधकार्य करके उनके शोधकर्ताओं ने विभिन्न विश्वविद्यालयों से पीएच.डी. तथा एम. फिल. की उपाधि प्राप्त कर ली और अनेक अभी शोधरत हैं। डा० रवीन्द्र कुमार जैन ने उन पर 'बालाशौरि रेड्डी का औपन्यासिक कृतित्व' नामक पुस्तक साहित्य भवन इलाहाबाद से प्रकाशित की है।



SOME REMINISCENCES ABOUT MY GREAT TEACHERS

Dr. D.B. Sen Sharma

I have been a student of the Benaras Hindu University in late forties and early fifties, when I had the fortune to see many celebrated teachers teaching different subjects in various departments in the University. Dr. Sarvapalli Radha Krishnan was the honorary Vice-Chancellor of the University who concurrently occupied the position of Sayojarao Gaekwad Professor of Indian Culture. As Professor of Indian Culture he regularly delivered lectures in the morning of every Sunday on the Bhagavadgita. As these lectures were open to all I attended them as a student to enjoy his inimitable oratory and his unfathomable erudition. He was famous for brevity of expression and perfect choice of words to convey his thoughts, and above all, for his punctuality. It was an unforgettable experience for me. I also heard another great historian Professor Anant Sadasiva Altekar, the then Raja Manindra Chandra Nandy Professor of Ancient Indian History & Culture delivering learned lectures on Ancient Indian history. I attended brilliant lectures on Shakespeare by Professor U.C. Nag, the then Principal of Central Hindu College, B.H.U. He was one of the greatest teachers of English who possessed towering personality and matchless administrative skill. I saw also Professor V.V. Narlikar, Professor of Mathematics, a wrangler in Mathematics from the Cambridge University (U.K.). Both Professor Altekar and Professor Narlikar were regarded as the model teachers on account of their combining in themselves deep scholarship with simplicity and unassuming manners. There were many such teachers in other departments of B.H.U. in those days whom I met and saw from close quarters. I would not lengthen the list of galaxy of great teachers whom I saw personally and from whom I drew my inspiration for want of space.

I would however like to mention the names of four great teachers with whom I came in close contact as a student and describe briefly my experiences with them in chronological order in order to highlight their greatness.

I was a student of B.A. during 1946-48 at the Central Hindu College, Benaras Hindu University. As I had offered Hon-

ours in Philosophy, I studied some Sanskrit texts on Vedanta with Professor Arbinda Basu, a junior teacher at that time, for two years. The medium of instruction in those days was English and Professor Basu had great command over that language. A favourite student of Dr. Radhakrishnan, Professor Basu was an inspiring teacher who had the capacity for creating interest in his students for the subject. He was a sound scholar and a very fine speaker who delivered his lectures with clarity and in a lucid language. To us students, he appeared to be replica of his great teacher in oratorical skill, as he kept us spell bound by his delivery in refined language. He exuded warmth and his behaviour with us was polished and friendly. He liked discuss problems with us and always encouraged us to ask him questions. His transparent sincerity and helpful attitude towards us, average students, allured us to visit his house almost every afternoon where we discussed philosophical problems for hours over cups of tea or light refreshment. His refined behaviour and elegant dress left lasting impression on our young minds, and we always regarded him to be ideal teacher. Later he rose to the position of Spalding Lecturer in Indian Philosophy and Religion at the University of Durham where he spent about 10 years and made great name as a teacher. Fortunately for me, he is still alive and is going out of the country every year on lecture tours. He still maintains contact with me and writes to me occasionally for information in the field of my Specialisation viz. Kashmir Saivism. It was due to his inspired teaching that I chose to study Indian Philosophy and Religion as a field of my specialisation in M.A. (Sanskrit) level.

Another great teacher who was source of inspiration for my studies at M.A. level was Professor Parashuram Laxman Vaidya, the then Mayurbhanj Professor of Sanskrit and the Head of the Department of Sanskrit Pali & Prakrit B.H.U. He was venerated in Maharashtra for his deep learning and scholarship in Sanskrit, Pali and Prakrit. He had worked with eminent scholars like Mahamahopadhyaya Dr. P.V. Kane when he was writing the History of Dharmasastra; he had assisted Dr. S.K. Belvelkar, A.D. Pusalkar, R.N. Dandekar etc. for the critical edition of the Mahabhart. He had studied in Paris and obtained his D.Lit. degree from there. He was invited by Dr. Radha Krishnan, the then Vice-Chancellor B.H.U. to adorn the post of Mayurbhanj Professor when it fell vacant. When we were students, we were not aware of his scholarly background, but as the time passed by, we realised his greatness as a teacher. He was a conscientious teacher who always came to class well prepared. He never missed any class despite his numerous

engagements as the head of the department and taught us for two hours every day. He was brilliant in exposition and always presented his thoughts with clarity. He took active interest in the welfare of all his students and used to ask if we were experiencing any difficulty in pursuing our studies.

There are numerous experiences with him to which I bear witness throwing light on him as a great teacher. I would refer to one out of many, to show how great he was as a teacher. Once after listening to his lecture one day in the class on the philosophical significance of one Rigvedic hymn (Vishnu-sukta) based on the naturalistic interpretation offered by some Western scholar, I felt dissatisfied. The interpretation of that hymn by the Western scholars appeared to me as absurd and unacceptable as it is contrary to what our ancient tradition holds about the revealed nature of the Rigvedic hymns. But as I had no courage of disputing the interpretation given by my revered teacher in the class, I kept mum. After some days Professor Vaidya asked all his students to write essays on the philosophy of Rigvedic hymns, I thought of criticising his views on the Vishnu Sukta by offering spiritual interpretation of hymn, drawing ideas from the hints given by Sayana in his commentary on the Rigveda. I wrote my essay on that very topic and gave it to my teacher. I expected severe reprimand for my criticism of his interpretation. But when I got back my note book, I found to my surprise his remarks "excellent" written at the end of my essay. This shows his greatness as teacher and scholar who was always ready to accept and appreciate others viewpoint even if it were quite opposite of his own views on the subject. He was a reasonable man whose approach was always rational. This small incident encouraged me to think independently and not follow the beaten track. From then onwards his impression about me completely changed and he always started encouraging me to think independently and constructively.

After I passed M.A. examination, I once met my teacher Professor Vaidya when he advised me to take up research. He did not suggest any topic, nor asked me to do research under his supervision. On the other hand, he enquired from me the field of my research specialisation. On my telling him that I would like to take up Kashmir Saivism for research, he not only granted me permission but also encouraged me, saying that it was a virgin field of research. He did not allow me to work under his supervision because he was due to retire after one year. He did not want to leave me half way. Such was his concern for his students, future. He constantly made enquiries about

my difficulties if any, and try to help me. But for his sincere help and advice I could not have achieved what I did several years later. I always cherish him in my memory as an ideal teacher.

I had the fortune of studying and later working as a junior colleague with another great teacher Professor Kantanath Sastri Telang who was then a lecturer. Though Professor Telang was then quite advanced in age, his relationship with us students was very cordial. He was amiable and unassuming as a teacher who never paraded his learning. He was regarded as an authority on Sanskrit rhetorics but he possessed the capacity of teaching any text belonging to other branches of learning with equal proficiency. He was very frank. He used to tell us that it is not possible for any one to master different kinds of texts belonging to different branches of learning such as Veda, Vyakarana, Sahitya, Darshan etc. One should feel satisfied if he could master one text thoroughly well. He appeared to be an exception to this. He was candid enough to admit his limitation. Once while teaching us a text dealing with Kashmir Saiva Yoga, he frankly admitted his lack of understanding of certain abstruse passages, but only paraphrased the meaning. He never belived in bluffing. He was hard working and sincere teacher who inspired us to work hard. When I started my teaching career at Benaras Hindu University, he advised me to prepare my lessons well before going to class. He told about himself that he spent twice the amount of time for preparation compared to the time for his class lectures. He invited me to his house whenever I faced any difficulty in understanding a passage and render all help. He actually trained me up in this manner to become reasonably good teacher. His deep learning, humility, transparent sincerity and readiness to help endeared him to his students. He was an ideal teacher for us, a source of inspiration for us who have chosen to become teachers themselves.

After passing M.A. examination in Sanskrit in 1950, when I joined the department as a research scholar, I came in contact with another great teacher, well known savant Mahamahopadhyaya Pandit Gopinath Kaviraj. When I was struggling with abstruse texts on Kashmir Saivism, I went to meet Kaviraj at his Sagra residence in Varanasi, one day at the suggestion of my teacher and well wisher, Professor Arabinda Basu. I was a little hesitant to approach such a great scholar for help as I could not see any reason for his extending help to me. He was not known to me, nor he was to gain anything by rendering me help. He could

not be my official guide. He had completely retired from life and therefore he always stayed at home to study for study's sake. He was visited by such renowned persons like Professor Satkari Mukherji of Calcutta, Dr. Gaurinath Sastri, Dr. K.A. Subrahmanya Aiyer of Lucknow, Dr. Ganganath Jha, Dr. Radhakrishnan, Dr. K.C. Pandey, Dr. K.C. Chattopadhyaya, Acharya Narendra Dev, Dr. T.R.V. Murti etc. to name a few. They all sought his advice and guidance to learn more. I thought that he would refuse to teach me and guide me in my work. But when I disclosed the purpose of my visit to him he just tested me to know if I was seriously interested to study this difficult school of thought. Once he found me to be keenly interested, he told me that I would have to study some Sanskrit texts with him, every day for a few years before I could even dream of conducting any research in that field. Finding no way out, I agreed and from next day onwards he started teaching me one text which he thought to be important one for understanding the philosophy of that school. He used to teach me every day for five hours at a stretch. He used to take up a few sentences from the Sanskrit text, go very deep while explaining the passage, quoting parallel passages from other texts and similar concepts from other schools of thought. His sweep knowledge was very extensive as he used to show the existence of similar ideas in Sri Aurobindo's writings, mediaeval Christian theology, Greek Philosophy etc. besides in the works of different schools of Indian philosophical thought.

He had mystical bent of mind and he loved to teach the thoughts of all those schools which lean on the side of mysticism. The flashes of intuition came to him all of a sudden and he could discover truth even in apparently trivial things. His interpretations were original and thought provoking. He possessed pratibha which enabled him to pierce the veil of ignorance and grasp the truth in fullest measure. He himself told us that Pratibha is super-sensuous faculty that enables man to grasp the truth directly and fully. The prime characteristics of this knowledge is immediacy and instance clarity so that nothing escapes its searching light. It is sudden illumination that brings all aspects to the fore. We were amazed and sometimes dumb founded to see how he would go on treading on fresh grounds on well known topics which came out from him spontaneously and effortlessly. He had developed integral vision which enabled him to look at varying views advocated by different schools of Indian philosophical thought from the point of view of

oneness. Having himself ascended to the highest peak of knowledge he could view the entire domain of philosophical thought in the true light of his wisdom (Prajana). This has been beautifully described in a verse quoted in the Vyasabhasya of Patanjali thus-

प्रज्ञा प्रसादमारुह्य अशोच्यः शोचतो जनान् ।

भूमिस्थान् इव शैलस्य सर्वान् प्राज्ञो नुपश्रपति ॥

His approach to philosophy was universal, not individualistic, pragmatic, not idealistic, not unrelated to life but wholly concerned with it.

He was very fond of going to realised sadhkas who may be householder or a sannyasin, Whenever he came to know that an enlightened sadhaka was in town, he would make it a point to visit him and put searching questions on spiritual realisations. In this way he would try to satiate his thrust for spiritual knowledge and also clear his doubts about true meaning of all that is found in the scriptures, He came in close contact with great spiritual masters like Sivarama Kinkar Yogatrayandada (a householder), Ram Thakur, Swami Visuddhananda (Also known as Gandhababa), Ma Anand Moyee, Harihara baba, Deorahababa, Digamber Baba, Swami Brahmananda, Paladhi Mahasaya, Madhav Pagla, Blind Master, Tarakesvar Ma, to name a few. He has recorded in his diary his conversations with them which have now been published. I asked him how he profited with the realisation of great souls. He told me his main purpose was to seek clarification of certain statements found in texts. As an instance he told me that he came across a passage in Bhartrihari's Vakyapadiya, saying that word and artha (i.e object denoted by it) are inseparably fused so that one could obtain the object by muttering the word signifying the object if he could acquire control over the Shabda Shakti. He went to his spiritual guru Swami Visuddhananda and asked him if this was so. Swamiji replied it was absolutely correct. He wanted practical demonstration of this. His guru agreed to show him. He then asked him to produce daisy flower by muttering the word daisy through yogic powers. Swamiji uttered the word several times and produced the flower. This satisfied him with the veracity of the statement in the Sanskrit text. He had many spiritual realisations but he never showed his yogic power, nor even mentioned any.

My association with him from 1951 onwards till his death (as a student) revealed many facets of his wonderful personality which defy description. He was a legendary figure, superb teacher,

a pious soul and a great Sadhaka. He appeared to me as a veritable Rishi to whom the truth had revealed it in all its facets (नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन/यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्, तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥ कठोपनिषद्) as well as Kavi who could communicate through faultless expression his realisations of the infinite. I consider myself blessed to get an opportunity to sit at his feet and listen to his illuminating and vibrant words that flowed like holy stream of wisdom. I confess I owe everything to him.



A Profile

Prof. Deva Brata Sen Sharma, (D.B. Sen Sharma) a well known scholar of Indian Philosophy, specialized in Kashmiri Saiva Darshan-was born on 19th April 1929 in Benaras. His father late D.N. Sen Sharma was a well known Kaviraj of Benaras.

Dr. Sen did his graduation from Benaras Hindu University in 1948 and M.A. in Sanskrit from the same university in 1950.

He had the privilege to study certain Sanskrit texts in Tantra Philosophy, such as Tantraloka, Tantrasara, Isvarapratbhijna Vimarsini, Paramarthsara etc. with Mahamahopadhyaya Pt. Gopinath Kaviraj, well known Sanskrit scholar and famous Indian Savant of Benaras during the period 1952-58 and obtained Ph.D. on the thesis entitled 'Destiny of Man and His Nature according to the Trika Philosophy of Kashmir.'

He worked as a lecturer in Sanskrit in Central Hindu College (k) Benaras Hindu University in 1952-53. In 1959 he joined Kurukshetra University as a lecturer in the department of Sanskrit and became reader in the year 1973. In July 1982 he was elevated as Chairman, Dept. of Sanskrit. In January 1983 he became professor of Sanskrit in the Institute of Sanskrit & Indological Studies Kurukshetra University and retired in 1989. After that he went to Calcutta and joined Asiatic Society as Senior Research Fellow. At present he is working at the Ram Krishna Institute of Calcutta as visiting professor of Indology. Dr. Sen Sharma has Supervised the Research of fourteen students who obtained Ph.D Degree from Kurukshetra University. He has a number of research articles to his credit published in well reputed Journals and has contributed research articles to many prestigious Felicitation volumes etc. A renowned scholar of Philosophy, Prof. Sen Sharma has a good number of books published so far and many are under preparation. To name a few

Sattrimsattattya Sandoha by Rajanak Ananda Kavi-Translated into English with explanatory notes & critical introduction (1977), Philosophy of Sadhana with special reference to Trika Philosophy of Kashmir, Studies in Tantra Yoga (1985); Matsyendra Samhita (A Tantric Text) ascribed to Siddha Matsyendranatha critically edited with introduction in English, Paramarthasara of Abhinava Gupta with Commentary by Yogaraja-Translated into English with introduction and notes (under print from U.S.A.); Opening the Eyes of Siva (Extracts from different Sanskrit texts on Kashmir Saivism-translated with explanatory notes) under print form U.S.A., Bhagavadgita with four commentaries by Rama Kantha, Abhinava Gupta, Bhaskarnath and Rajanak Ananda with detailed introduction in English is under preparation.

Descriptive Bibliography of Saiva and Sakta Tantras (both published and available only in Mss form) under preparation.

Prof. Sen was invited by NEW ERA to attend world conference on 'God' held at Fas Lautadete (U.S.A.). He has visited many countries in Europe, America and Canada and delivered lectures on Indian Philosophy and Religion in the Universities of Pennsylvania, Berkley, New York, Hamilton, Sundbury, Berlin and Leeds (U.K.) He was also invited by the European Institute for South and South East Asian Studies to take part in International Work Shop on 'Understanding Asian Values' held at Brussels (Belgium) to present paper on the Hindu concept of values in Nov. 1995.

He was invited by the South Asian Studies Deptts. of the Universities of Heidelberg & Marburg (Germany) to deliver lectures in Kashmiri Saivism in Nov. 1992.

He has presided over one session of the conference, Tantra and Agama Section of the World Sanskrit Conference. He has presented papers in many conferences and delivered lectures in many universities and research centres etc. He is the expert member of the P.G. Board of Studies in Sanskrit Universities of Burdwan, Jadavapur, Viswa Bharati and is the member of Research Degree Committee, Rabindra Bharati University Calcutta.

He has contributed entries in many Encyclopaedias Kalatattva Kosh Vol.II, IGNCA, New Delhi, 1992, The Encyclopaedia of Indian Philosophy, Ed. by Karl H Potter, Vol. VI, Encyclopaedia of Hinduism under print in U.S.A., Encyclopaedia of Indian Culture, Sanskrit Parishad Calcutta etc. etc. He is the member of the Editorial Board of the Journal of Tantra published by the Harvard University Massachussets (U.S.A. available on the Internet).



THOSE WHO INSPIRED ME

Padmabhushan Julio Francis Rebeiro

I cannot think of any one teacher who has influenced me in my thinking. I had many teachers in school and in college. The ones whom I remember most are those who were fond of me like Miss Phoebe D'souza in Sd. III of St. Xavier's School, Rev. Fr. Jorda in Std. VII of the same school and Professor U.V. Desai at Sydenham College. Since they were well disposed towards me, more than other teachers that I had, I remember them with fondness. I was an average student in school and college. So I did not have any particular interaction on an intellectual plane with any of the teachers. Since I was disciplined and obedient, I did not have any problems with any of my teachers.

I can think of two senior police officers who taught me to become a better individual and a better police officer. One is Mr. V.V. Nagarkar who was my Superintendent when I first joined service. He asked me to stay at his own house as a member of his own family and he used to take me on inspections and talk to me at the dinner table about his philosophy of life, of individual behaviour and of policing. He was an unconventional officer who cared for the poor and the weak. He was prepared to work with his hands and do himself what he asked his juniors to do eg. if he wanted the policemen to do sharamdan, he would join in the shramdan.

The other officer who influenced me was Mr. N.S. Saksena who was the Director General of the Central Reserve Police Force when I was a Dy. Inspector General of Police. When I met him, I was 45 years old. Yet he could influence me by his sincerity and erudition. He always bathed in cold water whatever the season of the year. He always splashed water on his eyes every morning to clean them. I did the same after learning from him. He used to go for long walks everyday. I used to accompany him. He would stop at a panwalla shop to read the advertisements or notices. From there he gauged the interest of the people and what they were thinking about. He explained to me how intelligence is gathered from simple observations like reading bill boards and graffiti.

Incidentally, I also learnt from him how to avoid certain pitfalls. He had strong prejudices and many likes and dislikes based on these prejudices. Having observed this trait, I decided that I would not become a victim of such prejudices myself, particularly when I assumed higher leadership. This helped me in managing my men and my affairs.



A Profile :

Julio Francis Ribeiro (born on May 5, 1929) who hails from the erstwhile Portuguese enclave of Goa in Western India is perhaps the best known Indian police officer for his remarkable achievements- the most popular Police Commissioner of Bombay in the eighties for his success in taming the underworld and the most daring Director

General of Police of the northern state of Punjab for taking on the Sikh terrorists at the height of insurgency in the late eighties and successfully reversing the trend. "Newsweek" gave him the unique honour of a full page interview on his achievements, beliefs and future struggle (India's top gang buster", Feb.22, 1999).

Success against terrorism did not come about easily. He and his wife were injured in two brutal armed attacks by Sikh terrorists, first in 1986 while in Punjab, and then in 1991 while in Bucharest as Indian envoy to Romania. But that did not deter him from carrying on with his struggle for just social causes. Ribeiro emphasized on human rights despite the complexity of the Sikh insurgency which needed stern measures- also he was the first Punjab police officer in trying to win over the hearts of the alienated Sikhs in the terrorist stricken Punjab, even as he was engaged in controlling terrorism.

Post retirement, he is engaged in another struggle in Mumbai- that of bringing communal harmony in this megalopolis which had witnessed the worst riots between Hindus and Muslims in 1992-1993. He is fully busy fostering closer social interaction between the two communities through "Mohalla Ekta" (Precincts Amity) Committees. He is also engaged in preservation of ecology by being the regional head of the WWF (Worldwide Fund for Nature).

Ribeiro who started his police career in 1953, retired from active Government service in 1993 after serving four years

as Indian Ambassador in Romania. In between he held a number of key posts Commissioner of Police, Bombay, Director General of Police, Central Reserve Police (Federal para- military organisation), Director General of Gujarat State Police, Special Secretary in charge of Internal security in the Federal Ministry of Home Affairs, Director General of Punjab Police and Advisor to the Governor of Punjab. Govt. of India conferred on him a very high National Award (Padma Bhushan) in 1987 in recognition of his outstanding service.

His status as the father figure in the Indian Police was recognised in 1998 by the present Government of India which under the directions of the Supreme Court chose him to head a Committee on Police Reforms. This report is under the consideration of the highest court in India . His memoir, "Bullet for Bullet" containing a transparent account of his experience, beliefs and philosophy became a best seller in 1998.

Ribeiro has participated in several seminars on police and social subjects including two international workshops (1) United Nations Asia and Far East Institute, Tokyo on Criminal Justice System (Feb./March 1980) and (2) XI Corso Internazoinale Forze di Poliza at Milazzo (Italy) (Oct. 1988)



GRATITUDE

Dr. N.B. Patil

My mind goes back in the memory lane and I recollect the day the 9th of August 1976. It was on this day that the postman handed over me a letter from the University of Bombay. It stated that the thesis I had submitted in the early March that year was approved by the referees and I was eligible for the degree of Ph.D. It was a day of fulfilment and for sometime I lost myself in a reverie. I remembered the preceding five years of hard labour. Long sittings in the University library, taking notes from various sources, picking up narratives from the various recensions of the Mahabharata, putting them in order, studying them, analysing them, interpreting them, discussing them with my guide, recasting the earlier writing in the light of the discussion. My guide was Dr. Sadashiv Ambadas Dange, Ex. Professor and Head of the Department of Sanskrit at the University of Bombay. He also held Professor Bhandarkar Chair in the University. He encouraged me in taking up the studies in Folklore in the Mahabharata. He himself was a great scholar of the Vedic Literature and was an international authority in the study of myths and legends. He was a prolific author and a number of his works have received State and National awards. His greatest contribution towards the end of his life was the Encyclopedia of the Puranas, a work running over five Volumes. He groomed me in my studies and disciplined me in research methodology. The five years I spent in close contact with him, during my studies for Ph.D. had a tremendous impact on my life. Of late, he was keeping indifferent health and the cold death took his toll on the 25th of October 1999.

As I penned the above lines. I remembered that I owe a lot to my earlier teachers who disciplined me, particularly in my post graduation days. I was lucky enough to have reputed Sanskrit professors, during my undergraduate and post graduation years.

Prof. Sarasvati Prasad Chaturvedi taught me Kumar Sambhavam and Svapnavasavadattam, Prof. Mahamahopadhyaya V.V. Mirashi taught me Grammar Viz. Laghu Siddhanta Kaumudi and History of Sanskrit Literature during my undergraduate

years. I left Amravati in 1949 to pursue my post graduate studies in Sanskrit at the reputed Morris College of Nagpur. Here Dr. Hiralal Jain, the reputed Jain Scholar, Dr. V.W. Karambalekar, an authority on the Atharva Veda, Prof. S.G. Somalwar, a master exponent of Kavyashastra led us in our studies. Sanskrit studies is a dense forest and a person can get lost unless led by a good guide.

Yes, All these teachers were great and they oriented me in my studies of Sanskrit. But how can I forget my first teacher of Sanskrit. I entered the class IX at the Government High School, Amravati at the age of thirteen. My father very much wanted me to learn Sanskrit and so I opted Sanskrit as an optional subject at the H.S.C. Examination. Luckily we had an excellent teacher of Sanskrit in Shri N.B. Javadivar. He was an M.A. of Benaras Hindu University and was a freedom fighter in his youth. Later, he was elevated as Professor of Sanskrit at the King Edward College, Amravati, where again I had a privilege of studying under him. At the tender age of thirteen, it was Shri Javadivar who sowed the seed of the love of Sanskrit, which eventually grew year by year and ultimately the fruition came in 1976 in the form of the Ph.D. Unfortunately, Prof. Javadivar was no more in the world when I got it, but my another teacher who was our Head Master in the middle school came all the way from Amravati to Mumbai to congratulate me on that occasion.

When I think of my Gurus, I cannot forget my father, Late B.K. Patil and my mother who gave me the first lessons in reading and writing. Both these inculcated in me all the good traditions of the family and the community. My father was a great admirer of Swami Vivekanand and he got me read all the volumes of the Complete Work of Vivekanand during my teens. This reading later stood me in good stand and it shaped my studies in more mature years. I remember here my teachers in the primary school who loved me and cared for me. Man is born as a lump of clay, a bundle of bones and flesh, but his parents and Gurus shape him as a potter would a pot. After the decades, when life ebbs out of him, the pages of his life are left over to be read by the posterity.

The Indian tradition emphasises the need of a Guru. Guru is Brahma, Vishnu and Mahesh. ...nay, parabrahma. It is the Guru who opens the eyes of the disciple and leads him to light in the midst of utter darkness. I prostrate before all my Gurus, who shaped me into a Man.



A Profile

Dr. N.B. Patil born on 23rd Oct. 1929 at Amravati graduated from Vidarbha Mahavidyalaya Amravati and then went to Nagpur for Post graduate studies. He was inmate of Vivekananda Students Home of Ramkrishna Math, He did his M.A. in Sanskrit in 1951 and Seciology in 1960 from Nagpur University. He was keenly associated with Math activities

during his stay at Nagpur from 1949 to 1961.

He left Nagpur in 1962 and joined state education service (Admn. side). Later he was transferred to general Admn service and was promoted as Dy. Director of Languages, a joint director and as director (1981-87). He got his retirement as Director of Languages Maharashtra in Oct. 1987. For studies in Mahabharata he was awarded Ph.D. by Bombay University in 1976. This thesis was published in 1983. The topic of his research was 'Folklore in Mahabharata'. An Important achivement to his credit remains translation of Swami Akhandanandji's Bengali works in Marathi and in English. He contributed articles and papers to research journals and attended national and international conferences particularly World Sanskrit Conference in 1984 at Philadelphia (U.S.A.). He became chairman of Ramakrishna Vivekanand Kendra, Dadar Mumbai from 1967. As a member of the Managing committee of Ramakarishna Mission Khar and of Asiatic Society Bombay he won laurels.

Currently he is working as Honorary Professor of Sanskrit in Ananthacharya Indological Research Institute (A Post Graduate centre affiliated to University of Bombay). He is also holding the charge as honorary Director, Dr. P.V. Kane Institute of Post Graduate Studies Research, Asiatic Society of Bombay. He is Editorial Consultant to Tattvaloka, A bimonthly published from Chennai under the Sringeri Math, Chennai.



मेरे गुरु

डा० मेला राम शर्मा

मेरी दृष्टि में जो हमारा मार्गदर्शन करें, हमारे समक्ष एक आदर्श स्थापित करें, जाने अनजाने हमारे व्यक्तित्व को निखारे, वे ही हमारे अनुकरणीय होते हैं, हमारे गुरु होते हैं। इस दृष्टि से सर्वप्रथम मैं अपने पिता को अपना अनुकरणीय मानता हूँ। मेरे पिता पण्डित हुकुमचन्द जी रुड़की जनपद के मुंडिया ग्राम के मुखिया थे। स्वयं अनपढ़ परन्तु शिक्षा के प्रति अत्यधिक सम्मान का भाव धारण करते थे। उसी का परिणाम था कि वे मेरे बड़े भाई तथा मुझे ऊँची शिक्षा देने को सदा प्रस्तुत रहते थे। पिताजी सीधे सादे स्वभाव के परन्तु सदा दूसरों की भलाई करने में लीन थे। गरीब, दुखी जन ही उनके परम आत्मीय समान थे। कोई उनके दरवाजे से निराश नहीं जाता था। दूसरी विशेषता थी कठोर नैतिकतावादी। न अन्याय करना, न अत्याचार, अनाचार को बढ़ावा देना। उनके व्यक्तित्व का ही प्रभाव था कि उनकी मुखियागिरी में गांव में चोरी नहीं होती थी, कोई गलत काम नहीं कर सकता था। बचपन से ही अपने अनजाने में पिता को अपना आदर्श मान उनके संस्कारों को ग्रहण करता रहा और आज भी उन संस्कारों से ही संचालित हो रहा हूँ। अपनी सेवा निवृत्ति के बाद भी यदि मेरे गांव से कोई भी व्यक्ति किसी ज़रूरत को लेकर सामने आता है तो उसे पूरा किये बिना मुझे चैन नहीं मिलता। और आज मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि अब तक के जीवन में न गलत काम किया और न गलत काम को सहन किया। अपने अनुकरणीय गुरुओं में तभी मैं अपने पिता को अपना पहला गुरु मानता हूँ।

इण्टरमीडिएट करने के बाद मैं पढ़ने के लिए रुड़की गया। मेरे चाचा के मित्र राय साहब ललता प्रसाद जी उस समय रुड़की यूनिवर्सिटी के रजिस्ट्रार थे। वहाँ के एन्ट्रेंस परीक्षा के सन्दर्भ में उनसे मेरा प्रथम परिचय हुआ। स्नेहशील व्यक्ति ललता प्रसाद जी ने घर से बाहर रहने वाले किशोर आयु के मेरे भोजन की व्यवस्था अपने घर पर कर दी। इस तरह उनके निकट आने का मुझे मौका मिला। मैं उनको जितना जानता गया उतना ही उनसे प्रभावित होता चला गया। एक शब्द में कहूँ तो वे एक नेक आदमी थे। उन जैसा दूसरा नेक आदमी मुझे नहीं मिला। उनका जीवन आदर्श जीवन था। कोई गलत काम नहीं करते थे, गलत ढंग से किसी से नहीं दबते थे। बड़े से बड़ा काम अपने बलबूते पर करते थे। इतने दायित्वशील पद पर होते हुए भी वे कभी किसी गलती के साथ समझौता नहीं करते थे। मेरे प्रति तो उनका प्यार अपने बेटे जैसा ही हो गया था।

हमेशा मेरी मदद करने को तैयार रहते थे। कभी कभी तो वे हैसियत से बाहर जाकर भी मदद करते थे। बी.एस.सी. करने के बाद इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से एम.एस.सी. करने की इच्छा थी पर वहां प्रवेश सहज नहीं था। इस काम के लिये भी ललता प्रसाद जी ही मेरे उद्धारक बनकर सामने आए। उस समय रुड़की यूनिवर्सिटी के सिविल इंजीनियरिंग विभाग में प्रोफेसर थे डा. एस.आर. सिंह। उनके भतीजे डा. राजेन्द्र सिंह उर्फ रज्जू भैया इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में फिजिक्स विभाग में प्रवक्ता थे। ललता प्रसाद जी ने डा. एस. आर. सिंह के माध्यम से मेरा प्रवेश वहां करवा दिया। ललता प्रसाद जी के साथ मेरी निकटता और प्रगाढ़ हुई जब मैं केंद्रीय भवन अनुसन्धान संस्थान (सी.बी.आर.आई.) में नौकरी करने आया। उस समय तक वे अपने पद से सेवा निवृत्त हो चुके थे। उनकी पत्नी का देहान्त हो चुका था परन्तु उनका परोपकार का भाव कम नहीं हुआ था। उन्होंने निःशुल्क आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रारम्भ कर दी थी। गरीब लोगों की सेवा का एक सहज और लाभकारी मार्ग उन्होंने अपना लिया था। उनका जीवन समर्पित जीवन था। मेरे को स्नेह दिया पर साथ ही मेरा मार्गदर्शन करते रहे। न जाने मैंने उनसे कितना कुछ सीखा, कितना स्नेह लिया, अपनापन लिया। अपने उन अनुकरणीय मार्गदर्शक को गुरु न कहूं तो क्या कहूं।

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में मैं छात्रावास में रहकर एम.एस.सी. कर रहा था। हमारे छात्रावास के सुपरिन्टेण्डेंट थे डा. सन्त प्रसाद टण्डन जो राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के सुयोग्य पुत्र थे। वे उस समय केमिस्ट्री विभाग में थे और बाद में विभाग के अध्यक्ष भी बने। शुरु शुरु में मेरा टण्डन साहब के साथ ठीक सम्बन्ध नहीं था। कुछ खटपट सी हो गई और तभी मैंने एकाध बार उनके सामने ही उनके निर्णयों की या उनके व्यवहार की कटु आलोचना कर दी थी। मेरी शिकायत थी कि वे दूसरे व्यक्ति विशेष के साथ जैसा व्यवहार करते उसी परिस्थिति में मेरे साथ विपरीत व्यवहार करते हैं। डाक्टर टण्डन उसूलों के आदमी थे, महान् पिता के पुत्र होने की बू उनमें नहीं थी। कठोर अनुशासनप्रिय थे। छात्रों को इंट्रोडक्शन नाइट नहीं करने देते थे। रेगिंग भी सीमा में रहकर ही की जा सकती थी। सीमा का थोड़ा सा भी उल्लंघन करने के कारण कई छात्रों को छात्रावास से बाहर तक निकाल दिया था। सभी उनसे डरते थे। ऐसे व्यक्ति के सामने उनके आचरण की समालोचना करना साधारण बात नहीं थी परन्तु धन्य है उनकी न्यायप्रियता और विनम्रता कि उन्होंने न केवल एक विद्यार्थी (मेरे सामने अपनी गलती ही मानी बल्कि मेरे) से माफी तक मांगी। मैं उनकी इस महानता से अभिभूत हो गया और उसके बाद जितना उनके सम्पर्क में आता गया उनके व्यक्तित्व की विशेषताओं से प्रभावित होता गया। उनके जिस गुण ने मुझे सबसे ज्यादा प्रभावित किया वह था कि वे कभी किसी गलत बात के सामने झुकते नहीं थे, किसी गलत व्यक्ति से दबते नहीं थे।

अपने उसूलों से कभी समझौता नहीं करते थे। इसके साथ वे 'सादा जीवन उच्च विचार' के जीते जागते नमूने थे। आडम्बर रहित ही नहीं, सच्चे अर्थों में वे सात्विक जीवन जीते थे। मैं तीन साल तक उनके स्नेह सम्पर्क में रहा और उनसे प्रभाव ग्रहण करता रहा। मेरे शुरु के व्यवहार से वे क्षुब्ध नहीं हुए थे, वरन् उन्हें मेरे सत्साहस पर प्रसन्नता हुई थी। इसी कारण मैं उनका विशेष स्नेह पात्र बन गया। इसी का परिणाम था कि जहां वे अन्य विद्यार्थियों को छपा हुआ टेस्टिमोनियल देते थे, वहीं मुझे अपने हाथ से लिखकर दिया था। वह प्रमाण पत्र आज भी मेरी अमूल्य निधि है जिसे मैंने सहेज कर रखा हुआ है। मेरा सौभाग्य ही रहा कि डाक्टर टण्डन से मेरा बाद में भी सम्पर्क बना रहा और मैं उनका स्नेह सुख भोगता रहा। अभी दो साल पहले मेरे उन अनुकरणीय गुरु ने दिल्ली में अन्तिम श्वास लिया। मैं उससे कुछ समय पूर्व ही उनसे मिल कर आया था। उनकी स्मृति को मेरा नमन।

एक अन्य अनुकरणीय गुरु को स्मरण किये बिना मेरी बात अधूरी ही रह जाएगी। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में फिजिक्स एम.एस.सी. के प्रवेश में जिनकी प्रत्यक्ष सहायता मिली थी वे डाक्टर राजेन्द्र सिंह जी जब मुझे पढ़ाने लगे तो अपने व्यक्तित्व की विशेषताओं से मेरे आदर्श, मेरे अनुकरणीय बन बैठे। अध्यापन के साथ उस समय भी वे आर.एस.एस. का काम करते थे परन्तु उल्लेखनीय तथ्य तो यह है कि दोनों ही काम वे पूरी निष्ठा और समर्पण से करते थे। उनके पिता चीफ इंजीनियर के पद से सेवा निवृत्त होकर जब इलाहाबाद आ गए तथा अपनी कोठी बना ली तब भी हमारे रज्जू भैया अपने पुराने आवास में ही रहते रहे। किसी ज़माने के इलाहाबाद विश्वविद्यालय के टॉपर, आर. एस.एस. को समर्पित, आजीवन ब्रह्मचारी रज्जू भैया को कई बार हम अपने राजनैतिक कामकाज करके मोटरसाइकिल पर आते देखते। मोटरसाइकिल रख सीधे कक्षा में आते और एक्सटेम्पोर पढ़ाते थे। अपने विषय पर उनकी पकड़ वास्तव में प्रशंसनीय है। लगता सारा विषय ही उन्हें याद है, कहीं कोई जटिलता नहीं, कहीं कोई अस्पष्टता नहीं। उनकी यही खासियत मुझे मुग्ध करती कि जैसे अपने विषय के सम्बन्ध में वे आश्वस्त हुआ करते वैसे ही अपनी राजनैतिक विचारधारा के सम्बन्ध में। इस सन्दर्भ में मुझे एक घटना स्मरण आ रही है। यूनियन हाल में एक वामपन्थी नेता का भाषण हुआ। नेता का नाम मुझे याद नहीं आ रहा है। यह याद आ रहा कि उनके भाषण से हम सभी बहुत प्रभावित हुए। लगा उनकी विचारधारा ही ठीक है। उनके बाद मंच पर आए रज्जू भैया जिन्होंने अपने धाराप्रवाह भाषण में पूर्व वक्ता की सभी युक्तियों को काट दिया, धराशायी कर दिया। रज्जू भैया का भाषण उनके चिन्तन से उपजता है। उनकी सुलझी विचारधारा से निकलता है। वे फिजिक्स के समान ही राजनैतिक भाषण भी एक्सटेम्पोर देते उतनी ही सहजता से, उतने ही आश्वस्त भाव से। जब पढ़ता था, रज्जू भैया का स्नेह पात्र था पर बाद में

हमेशा मेरी मदद करने को तैयार रहते थे। कभी कभी तो वे हैसियत से बाहर जाकर भी मदद करते थे। बी.एस.सी. करने के बाद इलाहाबाद यूनिवर्सिटी से एम.एस.सी. करने की इच्छा थी पर वहां प्रवेश सहज नहीं था। इस काम के लिये भी ललता प्रसाद जी ही मेरे उद्धारक बनकर सामने आए। उस समय रुड़की यूनिवर्सिटी के सिविल इंजीनियरिंग विभाग में प्रोफेसर थे डा. एस.आर. सिंह। उनके भतीजे डा. राजेन्द्र सिंह उर्फ रज्जू भैया इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में फिजिक्स विभाग में प्रवक्ता थे। ललता प्रसाद जी ने डा. एस. आर. सिंह के माध्यम से मेरा प्रवेश वहां करवा दिया। ललता प्रसाद जी के साथ मेरी निकटता और प्रगाढ़ हुई जब मैं केन्द्रीय भवन अनुसन्धान संस्थान (सी.बी.आर.आई.) में नौकरी करने आया। उस समय तक वे अपने पद से सेवा निवृत्त हो चुके थे। उनकी पत्नी का देहान्त हो चुका था परन्तु उनका परोपकार का भाव कम नहीं हुआ था। उन्होंने निःशुल्क आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रारम्भ कर दी थी। गरीब लोगों की सेवा का एक सहज और लाभकारी मार्ग उन्होंने अपना लिया था। उनका जीवन समर्पित जीवन था। मेरे को स्नेह दिया पर साथ ही मेरा मार्गदर्शन करते रहे। न जाने मैंने उनसे कितना कुछ सीखा, कितना स्नेह लिया, अपनापन लिया। अपने उन अनुकरणीय मार्गदर्शक को गुरु न कहूं तो क्या कहूं।

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में मैं छात्रावास में रहकर एम.एस.सी. कर रहा था। हमारे छात्रावास के सुपरिन्टेण्डेंट थे डा. सन्त प्रसाद टण्डन जो राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के सुयोग्य पुत्र थे। वे उस समय कैमिस्ट्री विभाग में थे और बाद में विभाग के अध्यक्ष भी बने। शुरु शुरु में मेरा टण्डन साहब के साथ ठीक सम्बन्ध नहीं था। कुछ खटपट सी हो गई और तभी मैंने एकाध बार उनके सामने ही उनके निर्णयों की या उनके व्यवहार की कटु आलोचना कर दी थी। मेरी शिकायत थी कि वे दूसरे व्यक्ति विशेष के साथ जैसा व्यवहार करते उसी परिस्थिति में मेरे साथ विपरीत व्यवहार करते हैं। डाक्टर टण्डन उसूलों के आदमी थे, महान् पिता के पुत्र होने की बू उनमें नहीं थी। कठोर अनुशासनप्रिय थे। छात्रों को इंट्रोडक्शन नाइट नहीं करने देते थे। रेगिंग भी सीमा में रहकर ही की जा सकती थी। सीमा का थोड़ा सा भी उल्लंघन करने के कारण कई छात्रों को छात्रावास से बाहर तक निकाल दिया था। सभी उनसे डरते थे। ऐसे व्यक्ति के सामने उनके आचरण की समालोचना करना साधारण बात नहीं थी परन्तु धन्य है उनकी न्यायप्रियता और विनम्रता कि उन्होंने न केवल एक विद्यार्थी (मेरे सामने अपनी गलती ही मानी बल्कि मेरे) से माफी तक मांगी। मैं उनकी इस महानता से अभिभूत हो गया और उसके बाद जितना उनके सम्पर्क में आता गया उनके व्यक्तित्व की विशेषताओं से प्रभावित होता गया। उनके जिस गुण ने मुझे सबसे ज्यादा प्रभावित किया वह था कि वे कभी किसी गलत बात के सामने झुकते नहीं थे, किसी गलत व्यक्ति से दबते नहीं थे।

अपने उसूलों से कभी समझौता नहीं करते थे। इसके साथ वे 'सादा जीवन उच्च विचार' के जीते जागते नमूने थे। आडम्बर रहित ही नहीं, सच्चे अर्थों में वे सात्विक जीवन जीते थे। मैं तीन साल तक उनके स्नेह सम्पर्क में रहा और उनसे प्रभाव ग्रहण करता रहा। मेरे शुरु के व्यवहार से वे क्षुब्ध नहीं हुए थे, वरन् उन्हें मेरे सत्साहस पर प्रसन्नता हुई थी। इसी कारण मैं उनका विशेष स्नेह पात्र बन गया। इसी का परिणाम था कि जहां वे अन्य विद्यार्थियों को छपा हुआ टेस्टमोनियल देते थे, वहीं मुझे अपने हाथ से लिखकर दिया था। वह प्रमाण पत्र आज भी मेरी अमूल्य निधि है जिसे मैंने सहेज कर रखा हुआ है। मेरा सौभाग्य ही रहा कि डाक्टर टण्डन से मेरा बाद में भी सम्पर्क बना रहा और मैं उनका स्नेह सुख भोगता रहा। अभी दो साल पहले मेरे उन अनुकरणीय गुरु ने दिल्ली में अन्तिम श्वास लिया। मैं उससे कुछ समय पूर्व ही उनसे मिल कर आया था। उनकी स्मृति को मेरा नमन।

एक अन्य अनुकरणीय गुरु को स्मरण किये बिना मेरी बात अधूरी ही रह जाएगी। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में फिजिक्स एम.एस.सी. के प्रवेश में जिनकी प्रत्यक्ष सहायता मिली थी वे डाक्टर राजेन्द्र सिंह जी जब मुझे पढ़ाने लगे तो अपने व्यक्तित्व की विशेषताओं से मेरे आदर्श, मेरे अनुकरणीय बन बैठे। अध्यापन के साथ उस समय भी वे आर.एस.एस. का काम करते थे परन्तु उल्लेखनीय तथ्य तो यह है कि दोनों ही काम वे पूरी निष्ठा और समर्पण से करते थे। उनके पिता चीफ इंजीनियर के पद से सेवा निवृत्त होकर जब इलाहाबाद आ गए तथा अपनी कोठी बना ली तब भी हमारे रज्जू भैया अपने पुराने आवास में ही रहते रहे। किसी ज़माने के इलाहाबाद विश्वविद्यालय के टॉपर, आर. एस.एस. को समर्पित, आजीवन ब्रह्मचारी रज्जू भैया को कई बार हम अपने राजनैतिक कामकाज करके मोटरसाइकिल पर आते देखते। मोटरसाइकिल रख सीधे कक्षा में आते और एक्सटेम्पोर पढ़ाते थे। अपने विषय पर उनकी पकड़ वास्तव में प्रशंसनीय है। लगता सारा विषय ही उन्हें याद है, कहीं कोई जटिलता नहीं, कहीं कोई अस्पष्टता नहीं। उनकी यही खासियत मुझे मुग्ध करती कि जैसे अपने विषय के सम्बन्ध में वे आश्वस्त हुआ करते वैसे ही अपनी राजनैतिक विचारधारा के सम्बन्ध में। इस सन्दर्भ में मुझे एक घटना स्मरण आ रही है। यूनियन हाल में एक वामपन्थी नेता का भाषण हुआ। नेता का नाम मुझे याद नहीं आ रहा है। यह याद आ रहा कि उनके भाषण से हम सभी बहुत प्रभावित हुए। लगा उनकी विचारधारा ही ठीक है। उनके बाद मंच पर आए रज्जू भैया जिन्होंने अपने धाराप्रवाह भाषण में पूर्व वक्ता की सभी युक्तियों को काट दिया, धराशायी कर दिया। रज्जू भैया का भाषण उनके चिन्तन से उपजता है। उनकी सुलझी विचारधारा से निकलता है। वे फिजिक्स के समान ही राजनैतिक भाषण भी एक्सटेम्पोर देते उतनी ही सहजता से, उतने ही आश्वस्त भाव से। जब पढ़ता था, रज्जू भैया का स्नेह पात्र था पर बाद में

जीवन की धारा में बहते उनसे आज तक मिलना न हो पाया परन्तु आज भी वे मेरे अनुकरणीय गुरु हैं।

और अन्त में मैं एक और व्यक्ति का उल्लेख करना चाहूंगा। पारम्परिक दृष्टि से यद्यपि मैं उनको स्पष्ट शब्दों में अपना गुरु न कह पाऊँ परन्तु वे मेरी प्रेरणा हैं, मेरे समस्त अच्छे कार्यों के प्रति उनका समर्थन तथा उत्साह तो रहता ही है साथ ही उनका व्यक्तित्व उनका आचरण, उनके मन की उदात्त भावना मुझे प्रभावित करती है, प्रेरित करती है। वे हैं मेरी जीवन-संगिनी श्रीमती सरस्वती शर्मा। वे सामान्य स्त्रियों से बिल्कुल भिन्न हैं। अपने तथा मेरे भाई के बच्चों में उन्होंने कभी कोई फरक नहीं समझा। मेरे गांव से जो लोग आते हैं और मेरे मिलने वालों में कोई अन्तर नहीं समझा। न तो जाति और न पदवी का उनके लिए कोई महत्त्व है। उनकी दृष्टि में हर इन्सान एक समान है। यही कारण है मेरे और मेरे नौकर के भोजन में कभी कोई अन्तर नहीं है। उनके इस गुण का मैं सम्मान करता हूँ और उन्हें अपनी प्रेरणा मान उनका अनुकरण करता हूँ।



लेखक परिचय

मेलाराम जी का जन्म रुड़की तहसील के ग्राम मुंडियाईकी में पण्डित हुकुमचन्द जी और श्रीमती मनभरी देवी के घर 12 जून 1930 को हुआ। आगरा विश्वविद्यालय से 1950 में बी.एस.सी. तथा 1954 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम.एस.सी. फिजिक्स की उपाधि प्राप्त कर फोटोग्राफी में डिप्लोमा किया। 1968 में इंग्लैण्ड के ए.ए. स्कूल लन्दन से ट्रॉपिकल स्टडीज में डिप्लोमा प्राप्त किया। 1977 में आगरा विश्वविद्यालय से पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की।

कुछ समय बड़ौत में प्रवक्ता रूप में कार्य करने के पश्चात् 20 जून 1956 को उन्होंने केन्द्रीय भवन अनुसन्धान रुड़की में जे.एस.के पद पर कार्य प्रारम्भ किया तथा क्रमशः उन्नति करते हुए 1977 में साइंटिस्ट के पद पर प्रोन्नत हुए तथा 1990 में उसी पद से सेवा निवृत्त हुए।

केन्द्रीय भवन अनुसन्धान संस्था में रहते हुए मेलाराम जी रुड़की विश्वविद्यालय के आर्किटेक्चरल तथा सिविल इन्जीनियरिंग डिपार्टमेंट्स के अतिरिक्त रेलवे स्टाफ कालिज, बड़ौदा, कॉलिज आफ आर्किटेक्चर, चण्डीगढ़, अलवर पोलिटैक्निक, वी.आर. इंजीनियरिंग कालिज, नागपुर आदि में बिल्डिंग फिजिक्स विषय पर भाषण देने गए।

डा. मेलाराम ने भवन-निर्माण सम्बन्धी सामग्री पर लगभग 26 शोध-पत्र लिखे जो भारत और विदेशों के महत्त्वपूर्ण शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए तथा बिल्डिंग डाइजेस्ट पर श्री छः शोधपत्र और जलवायु से सम्बन्धित वातानुकूलित प्रणाली पर

विशेष प्रकाशन अपनी संस्था से प्रकाशित करवाए। परन्तु आपका सबसे महत्वपूर्ण कार्य सूचकांक की विशेष रिपोर्ट यूनेस्को के रीजनल आफिस बैंकाक (थाइलैण्ड) को 1979 में भेजना था।

मेलाराम जी का शोध का विषय 'थर्मल इफैक्ट ऑफ क्लाइमेट एण्ड बिल्डिंग ऑन ह्यूमन कम्फर्ट विद स्पेशल रेफरेन्स टु इण्डिया' था। इसी दिशा में उनका विशेष उल्लेखनीय कार्य 'ट्रापिकल समर इण्डैक्स (उष्णकटिबन्धीय ग्रीष्म ऋतु सूचकांक) है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में कम्फर्ट इण्डैक्स का बनाना एक नवीन और अनूठा कार्य है। इससे पूर्व तक भारतीय परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण की घोरता (सीवियरिटी) नापने का कोई पैमाना नहीं था और इसके लिए पाश्चात्य देशों के लिए बने पैमानों और उनके अनुमानों पर ही निर्भर रहना पड़ता था। उदाहरणार्थ अब यह ज्ञात हुआ है कि ग्रीष्म ऋतु में भारतीय 30° सी (टी.एस.आई.) तापक्रम को कम्फर्ट इण्डैक्स की सीमा मानते हैं जबकि पाश्चात्य देशों में यह सीमा 24° सी है।

कम्फर्ट इण्डैक्स के सम्बन्ध में एक विस्तृत व्याख्या सहित कम्प्रीहेन्सिव पुस्तक 'क्लाइमेटोलॉजिकल एण्ड सोलर डेटा फॉर इण्डिया टु डिजाइन बिल्डिंग्स फार थर्मल कम्फर्ट', प्रकाशित की गई है जिसमें मेलाराम जी वरिष्ठ लेखक हैं। इस पुस्तक के कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। वास्तु शिल्पकारों और शिक्षा संस्थानों में इसकी बहुत मांग है।



मेरे अनुकरणीय गुरु

डा० सत्यव्रत शास्त्री

अपने छात्र जीवन में अनेक गुरुजनों से विद्याध्ययन का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। उन सभी के प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ। 'एकाक्षरगुरुर्गुरुः', ही मेरा सिद्धान्त है।

प्रायः यह देखा गया है कि अनेक वर्षों का सान्निध्य होने पर भी अन्तरंगता किसी किसी के साथ ही आ पाती है। गुरुजनों का सान्निध्य भी इसका अपवाद नहीं है।

मेरे दो गुरुओं ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया है। उनमें एक थे पण्डित शुक्रदेव झा। उनसे मैंने सम्पूर्ण महाभाष्य का अध्ययन किया। काशी में स्वनामधन्य 'महाशय जी' के नाम से विख्यात तिवारी जी के बाद वे ही एक मात्र ऐसे विद्वान् थे जिन्हें सम्पूर्ण महाभाष्य कण्ठाग्र था। अनेक खण्डों का वह विशाल ग्रन्थ किस तरह उनकी स्मृति में समाया हुआ था इसे आज का व्यक्ति शायद ही समझ सके।

प्रातःकाल वे विद्यालय में पढ़ाते थे जहाँ से वे ग्यारह बजे के लगभग लौटते थे। फिर भोजन कर, किंचित् विश्राम करते थे। विश्राम के बाद वे अपने में एक ताजगी का अनुभव करते थे। यही कारण था कि दो बजे दोपहर का समय उन्होंने मुझे पढ़ाने के लिए निश्चित कर रखा था।

एक दिन पाठ चल रहा था। अचानक एक अतिवृद्ध व्यक्ति, जिनकी कमर दोहरी हुई जा रही थी, लाठी टेकते टेकते उनके पास आ गए। उन्हें देखते ही गुरुजी उठे और उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। इसी से मैंने अनुमान लगा लिया कि वे उनके गुरु हैं। उन वृद्ध व्यक्ति ने प्रश्नसूचक दृष्टि से मेरी ओर देखा। गुरुजी समझ गए कि वे जानना चाहते हैं कि मैं कौन हूँ। उन्होंने तुरन्त कहा, 'यह आपका पौत्र है।' उनके ये वचन मुझे कहीं गहरे तक छू गए। पाणिनि ने दो सम्बन्धों का उल्लेख किया है विद्या सम्बन्ध और योनि सम्बन्ध। विद्या सम्बन्ध से गुरुजी के गुरु का मैं पौत्र ही लगा। कितनी आत्मीयता थी उनके शब्दों में। काश! आज के गुरुजनों में भी शिष्यों के प्रति इस तरह का पुत्र-पौत्र भाव होता।

दही—चिउड़ा मुझे विशेष प्रिय है। अनेक बार गुरु जी अपने हाथों से उसे मुझे परोसते थे और जब तक मैं खाना समाप्त नहीं करता मेरे पास उकड़ूँ बैठ कर देखते रहते थे कि पेट भर खा भी रहा हूँ या नहीं।

विवाह के पश्चात् जब मैं पत्नी के साथ गुरुजी का आशीर्वाद लेने उनके यहां पहुंचा

तो उन्होंने हंडिया भर रसगुल्ले मंगवा लिये और मेरी पत्नी से कहा कि उन्हें खाओ और खिलाने के लिये जिस तरह मेरे सामने बैठ जाते थे उसी तरह उसके सामने भी बैठ गये। रसगुल्लों की संख्या देख पत्नी घबरा उठी और बोल पड़ी कि इतने नहीं खाये जायेंगे। गुरुजी ने कुछ चकित होकर मेरी ओर देख पूछा, 'क्या यह किसी गरीब घर की है?' आज भी जब हम पति-पत्नी इस बात को याद करते हैं तो हंस पड़ते हैं।

गुरु जी स्नेह और वात्सल्य की मूर्ति थे। वह मूर्ति प्रभु ने हमसे छीन ली पर उनकी स्मृतियां हृदय में सदा-सदा के लिये बसी हैं।

मैं जब आचार्य के द्वितीय वर्ष में ही था तो गुरु जी ने वैयाकरण भूषणसार पर प्रश्नोत्तरी के रूप में एक पुस्तक लिखी। मुझसे वे बोले, 'इसका प्राक्कथन तुम्हें लिखना है।' मैं अवाक् रह गया। एक छात्र से गुरु कह रहे हैं कि उनकी कृति पर वह प्राक्कथन लिखे। उनकी बात पर सहसा विश्वास न हुआ। मैं असमंजस में था। गुरुजी के दो एक साथियों ने भी उनसे कहा कि प्राक्कथन तो बड़े लोग लिखा करते हैं और फिर यह तो छात्र ही है। गुरुजी ने कहा, 'कोई बात नहीं, यही लिखेगा।' मैंने प्राक्कथन लिखा। बाद के जीवन में मैंने अनेक प्राक्कथन लिखे साठ के लगभग। जब भी कोई नया प्राक्कथन लिखने लगता हूँ तो मुझे उस प्राक्कथन की याद आ जाती है जो मैंने अपनी छात्रावस्था में लिखा था। इसे दिव्यदृष्टि ही कहना चाहिए कि गुरुजी ने पहचान लिया कि मुझ में वह क्षमता है जिसे कालान्तर में इतना अधिक पल्लवित होना है।

दूसरे मेरे अविस्मरणीय गुरु थे पण्डित रघुनाथ शर्मा पाण्डेय।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में मैं पीएच.डी. के लिए शोध कर रहा था। मेरा विषय वाक्यपदीय से सम्बद्ध था— व्याकरण का अत्यन्त जटिल एवं दुरुह ग्रन्थ। उसे समझाने वाले पूरे काशी में भी शायद दो एक ही होंगे। उन दो एक में थे श्री पाण्डेयजी। वे कबीर चौरा मठ में रहते थे और मैं विश्वविद्यालय छात्रावास में। वाक्यपदीय पढ़ने की इच्छा से मैं एक दिन उनके पास पहुंचा। उन्होंने कहा कि वे पढ़ावेंगे और मुझे अगले दिन तीन बजे दोपहर में आने को कहा। अगले दिन तीन बजे मैं पहुंच गया। वे सोये हुए थे। चार बजे, पांच बजे, साढ़े पांच बजे। उनकी नींद खुली। उन्होंने मुझे देखा और बोले, 'आज आँख लग गई, अब तो बहुत देर हो गई है। तुम कल आ जाना तीन बजे।' मैंने साइकिल लिया और विश्वविद्यालय पहुंच गया। कबीर चौरा से विश्वविद्यालय का छात्रावास लगभग पन्द्रह सोलह किलोमीटर दूर है। वाहन मेरे पास केवल साइकिल ही थी। तीसरे दिन ठीक तीन बजे जब मैं कबीर चौरा पहुंचा तो वे मुझे रास्ते में ही मिल गये। मेरी ओर देख कर बोले, 'तुम आ गये। आज तो एक जगह सत्यनारायण की कथा बांचने जाना है। तुम कल आ जाना तीन बजे।' बिना कुछ कहे मैं लौट गया और अगले दिन फिर

उपस्थित हो गया। यह चौथा दिन। इसी प्रकार आते जाते पांचवें दिन जब पहुंचा तो देखा गुरु जी भोजन बना रहे हैं। मुझे देखते ही बोले, 'आज तो पाठ नहीं हो सकेगा। खाना बनाना है। फिर विश्राम भी करना है। तुम कल आ जाना तीन बजे।' अगले दिन तीन बजे जब मैं पहुंचा तो वे प्रतीक्षा करते पाये। पढ़ाने लगे। चार बजे, पांच बजे, छः बजे, सात बजे। वे हैं कि पढ़ाते ही जा रहे हैं। अंधेरा हो गया। लालटैन जला ली। पाठ चल ही रहा था। मैं बुरी तरह थक गया था। वाक्यपदीय जैसा जटिल ग्रन्थ था। मैं अपनी थकावट नहीं प्रकट करना चाहता था। अतः बोला, 'गुरु जी समय बहुत हो गया है, आप थक गये होंगे।' वे बोले 'नहीं, चलते चलो।' फिर कुछ देर रुके। शायद उन्हें लगा कि सुकुमारमति बालक, इतना कुछ एक साथ कैसे ग्रहण कर पायेगा। बोले—'अच्छ। आज इतना ही। बाकी कल करेंगे।' इसके बाद मुझे कभी खाली हाथ वापस जाना नहीं पड़ा। गुरु जी मेरी प्रतीक्षा में ही पाये गये। अनेक दिन मुझे वापस लौटाकर वे मेरी परीक्षा लेना चाहते थे कि क्या वास्तव में मुझे कुछ ग्रहण करने की इच्छा है या नहीं और बार बार लौटाने पर मैं बौखला तो नहीं जाता। जब उन्होंने परख लिया कि मुझमें अध्ययन की लगन है तो फूट पड़ी उनकी ज्ञानसरिता जिसमें मैंने भरपूर अवगाहन किया।

मैं अपने को बहुत भाग्यशाली मानता हूं, इसलिए नहीं कि प्रभु ने मुझे अच्छे अच्छे पदों पर पहुंचाया, देश के और विदेश के अनेकानेक सम्मान मुझे दिये, अपितु इसलिए कि मुझे अच्छे गुरु मिले। आज मैं जो भी हूँ, उन्हीं के कारण हूँ। उनके चरणों में मेरा कोटि कोटि प्रणाम।



लेखक परिचय

संस्कृत के मूर्धन्य विद्वान् श्री चारुदेव शास्त्री जी के सुयोग्य पुत्र प्रो० सत्यव्रत शास्त्री जी का जन्म 29 सितम्बर 1930 को हुआ। उन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा अपने पिताश्री की छत्रछाया में प्राप्त की। पंजाब विश्वविद्यालय से ससम्मान बी.ए. आनर्स (संस्कृत) तथा विश्वविद्यालय में प्रथम श्रेणी तथा प्रथम स्थान एवं पदक प्राप्त कर संस्कृत में एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। बनारस यूनिवर्सिटी से पीएच.डी. करने के उपरान्त आपने दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में प्रवक्ता पद ग्रहण किया तथा दीर्घ चालीस वर्ष का कार्यकाल पूर्ण कर एवं विभागाध्यक्ष तथा कला संकाय के डीन पद का दायित्व सम्भालते हुए सेवा निवृत्त हुए। आप श्री जगन्नाथ संस्कृत यूनिवर्सिटी, पुरी, ओड़िसा के उपकुलपति के पद को भी सुशोभित कर चुके हैं।

डा० शास्त्री छः विभिन्न विश्वविद्यालयों में विजिटिंग प्रोफेसर रह चुके हैं— Chulalongkorn तथा Slipakorn Universities, Bangkok; Northeast Buddhist University, Nongkhai Thailand; The University of Tubingen; Tubingen, The Catholic University, Leuven, Belgium तथा University of Alberta, Edmonton, Canada. आपने यूरोप, नार्थ अमेरिका, साउथ ईस्ट एशिया एवं फार ईस्ट के विश्वविद्यालयों में सौ से अधिक भाषण दिये तथा राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलनों में भाग लिया और अध्यक्षता की।

प्र० सत्यव्रत शास्त्री की संस्कृत की रचनाओं में तीन बृहदाकार महाकाव्य, तीन खण्ड काव्य, एक प्रबन्ध काव्य तथा पांच समीक्षात्मक रचनाएं हैं जिनमें The Ramayana-A Linguistic Study, बहुचर्चित है। आपके 110 शोध पत्र प्रकाशित हैं। The Indological Study और 'श्री जगन्नाथ ज्योतिः' नामक दो जर्नल के संस्थापक सम्पादक होने का श्रेय भी आपको है।

डा० शास्त्री को अनेक सम्मान तथा पुरस्कार उनके कृतित्व की पहचान के रूप में प्राप्त हो चुके हैं। उनमें से कतिपय उल्लेखनीय हैं— साहित्य अकादमी अवार्ड (1968), साहित्य कला परिषद् दिल्ली प्रशासन का पुरस्कार (1974), The Medallion of Honour, Catholic University, Leuven, Belgium (1985), The President of India Certificate of Honour (1985), शिरोमणि संस्कृत साहित्यकार पुरस्कार, पंजाब सरकार (1985), विशिष्ट संस्कृत साहित्य पुरस्कार, उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी (1988), संस्कृत सेवा सम्मान, दिल्ली संस्कृत अकादमी (1992), लिटरेरी अवार्ड, भारतीय भाषा परिषद् कलकत्ता (1992), इन्दिरा बिहारी स्वर्ण पदक, तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ, पूना (1992), अखिल भारतीय पण्डितराज जगन्नाथ पद्यरचना पुरस्कार, दिल्ली संस्कृत अकादमी, 1993 आदि।

द इन्टरनेशनल इन्स्टिट्यूट आफ इण्डियन स्टडीज, ओटावा, कनाडा ने 1993 में आपको अपना फैलो चुना। 1994 में आपको कालिदास सम्मान से सम्मानित किया गया। 19 जुलाई 1993 में Silpakorn University, Bangkok, Thailand ने आपको मानद 'डाक्टरेट' की उपाधि प्रदान की तो 1994 में उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी ने 'अखिल भारतीय कालिदास पुरस्कार' से सम्मानित किया। 1995 में आपको के.के. बिड़ला फाउण्डेशन ने 'वाचस्पति पुरस्कार' एवं मोदी कला भारती ने 'दयावती मोदी विश्व संस्कृत सम्मान' से अलंकृत किया। 1995 में ही Gadjah Madah University Yogyakarta, Indonesia ने सम्मानित किया। 1996 में राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान ने आपको शास्त्र चूडामणि स्कालर चुना। तुलसी मानस प्रतिष्ठान तथा तुलसी अकादमी,

मध्य प्रदेश, भोपाल ने 1997 में 'मानस सम्मान' प्रदान किया। 'थाईलैण्ड के महामहिम महाराज से 1998 में आपने "Most Admirable Order of Direk Gunabhorn" सम्मान प्राप्त किया तो उसी वर्ष महाराष्ट्र सरकार ने भी आपको सम्मानित किया।

बैंकाक के Silpakorn विश्वविद्यालय ने अपनी मानद डाक्टरेट की उपाधि में आपको, 'A Living Legend in the Field of Sanskrit' कहकर आपको अलंकृत किया है।

प्रोफेसर सत्यव्रत शास्त्री के कृतित्व की पहचान उनके ऊपर किए गए पीएच. डी. तथा डी.लिट् के शोध प्रबन्धों द्वारा भी होती है। 1990 में "Dr. Satya Vrat Shastri- Poet and Critic; (पीएच.डी.) कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय से, A Critical Evaluation of Dr. Satya Vrat Shastri's Creative Works (1992) कुमायू विश्वविद्यालय से तथा 'संस्कृत-संस्कृति साधना' (दो खण्डों में) पंजाब वि.वि. चंडीगढ़ से डी.लिट् उपाधि प्राप्त शोधग्रन्थ हैं।



मेरे गुरु

श्री सुनीति कुमार चैटर्जी

सन् 1938 या 1939— छठी या सातवीं कक्षा का विद्यार्थी, एक छोटा सा, अख्यात स्कूल 'दून पब्लिक लिटरेरी स्कूल देहरादून' (जो कुछ साल बाद बन्द हो गया) और गुरु अति साधारण शक्ल—सूरत के, अति सामान्य व्यक्तित्व के मास्टरजी। नहीं, उनका नाम बिल्कुल याद नहीं। दिमाग पर बहुत जोर डालने पर भी बस इतना याद आता है वे पण्डित जी थे। याद है तो उनकी बातें, खास कर उस एक दिन की जब गीता के प्रसिद्ध श्लोक —

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।

पढ़ाते हुए मास्टरजी बता रहे थे, 'बच्चों, भगवान् को किसने देखा है? हर धर्म ने अपने अपने हिसाब से भगवान् की कल्पना की। किसी का भगवान् सातवें आसमान पर रहता है तो किसी का भगवान् ब्रह्मलोक या गोलोक में। किसी का भगवान् किसी आकार—प्रकार का है तो दूसरे धर्म का किसी और तरह का। जितने धर्म उनके उतने भगवान् और हिन्दुओं के तो तैंतीस कोटि भगवान्। बच्चों, जिस भगवान् को मैं, तुम सब देख सकते हैं, छू सकते हैं, प्यार कर सकते हैं, पूजा कर सकते हैं, वे हैं हमारे मां—बाप। मां—बाप से बड़ा भगवान् नहीं है, उनकी सेवा करो, बस और कुछ जरूरत नहीं और पूजा है अपना फर्ज पूरा करो, अपना काम मन लगा कर करो। अपने काम को पूजा समझ कर करोगे तो सब मिलेगा। जो नहीं मिलेगा समझ लो उसको तुम डिजर्व नहीं करते हो।' उस दिन की मेरे मास्टर जी की वे सभी बातें मन में घर कर गईं, नहीं मन में बैठ गईं, फंस गईं, धंस गईं जो ऐसी फंसी कि अनेक विपरीत परिस्थितियों में भी नहीं निकली। उन्हीं के कथन का परिणाम था कि मैं कभी किसी मन्दिर नहीं जाता, ब्राह्मण का बेटा हूँ पर कोई पूजा पाठ नहीं करता। हां, किसी की पूजा में बाधा बनना तो दूर, जितना बन पड़े उसकी भावनाओं का आदर करता, दूसरे की पूजा—पाठ में सहयोग की आवश्यकता हो तो अवश्य सहायता करता पर मन में मां बाप को ही अपना भगवान् मान बैठा। जीवनभर जितना बन पड़ा उनकी सेवा की, उनके प्रति अपने किसी कर्तव्य को पूरा करने में कोताही नहीं की और उनके न रहने पर भी अपने कर्तव्य को ही पूजा मान आज तक करता आ रहा हूँ। परिणाम यह हुआ कि मन में मेरे आज पूर्ण सन्तोष है, पूर्ण शान्ति है। मैं संन्यासी

तो नहीं, पर कुछ न मिलने का गम नहीं, कुछ खोने का दुःख नहीं। मेरी अन्तरात्मा कहती, 'भगवान् अगर तुम हो तो तुमसे मांगने की जरूरत ही नहीं। जो तुम चाहोगे, मेरे बिना मांगे ही दोगे। जो नहीं दोगे, अवश्य मैं उसका पात्र नहीं, उसके योग्य नहीं तभी तुम नहीं देते। जब योग्य बनूंगा, उसका पात्र बनूंगा तभी वह भी तुम जरूर दोगे।' सो उस भगवान् से भी शिकायत नहीं। मेरे जीवन के इस मार्गदर्शक को, दिशा निर्देशक को, मेरे उस अनाम गुरु मास्टर जी को मेरा नमन।

मेरे माता-पिता मेरे जीवन के दो अन्य व्यक्ति हैं जिन्होंने मुझे प्रभावित किया। मां स्व० श्रीमती शैलबाला चैटर्जी का तो स्नेह-संरक्षण ही मुझे बांधे रहा। केवल एक प्रसंग मां के विषय में बताना चाहूंगा। नवीं-दसवीं का विद्यार्थी था। इन्दर-रोड का हमारा घर पेड़ पौधों से लदा-फदा था। आधी रात को बाहर जाने की आवश्यकता हुई लघुशंका के लिए। डरने लगा, सोती हुई माता को आवाज दी। उन्होंने कहा 'आंगन की नाली पर चला जा, मेरी आंखें तुझे देख रही हैं, डर मत।' निश्चित हो चला गया। निवृत्त हो कमरे में प्रवेश करने लगा तो लम्बा सा, काला सा दरवाजे पर पड़ा मिला। रस्सी समझ उठाने लगा तो ज्ञात हुआ भयंकर विषधर सांप है। मां ने उठकर लाठी पकड़ाई तो उसे मारा। बाद में जानने वालों ने कहा, 'बहुत बच गया। रास्ते में ही था, बच्चा उनींदा था। जरा सा पैर छूता कि डस लेता।' बच्चे के मन ने कहा, 'मां ने कहा था न कि मेरी आंखें तुझे देख रही हैं, डर मत' सो मां की आंखों ने बचा लिया। और आज इस वार्द्धक्य बेला में, अपने घर से, अपने देश से हजारों मील दूर भी मुझे हमेशा लगता है मेरी मां की आंखें मेरे पीछे हैं, मुझे देख रही हैं, रक्षा कर रही हैं, गलत काम करने से रोक रही हैं और तभी मैं आज भी इतना निर्भीक इतना निश्चिन्त हूँ।

मैं अपने पिता स्व० श्री सूर्य कुमार चैटर्जी से भी बहुत प्रभावित था। दुनिया की नजरों से देखें तो मेरे पिता एक साधारण व्यक्ति, सन्तानों की हर इच्छा, हर आवश्यकता को पूरा भी नहीं कर पाए, बहुत गुस्से वाले पर फिर भी उनमें कुछ था, जो मैं आज भी उनकी स्मृति को नमन करता हूँ। वे बहुत अच्छे अकाउन्टेन्ट थे, उनकी मांग बहुत थी पर थे अत्यन्त स्वाभिमान। किसी प्रसिद्ध विदेशी कम्पनी में नौकरी कर रहे कि मालिक ने कहा, 'कल से अंग्रेजी वेश-भूषा में आइए। इस धोती-कुरते से काम नहीं चलेगा।' बस उनके स्वाभिमान को चोट लगी। दूसरे दिन से काम पर जाना बन्द। और इसी स्वाभिमान के कारण वे कहीं टिक कर नहीं रहे चाहे कितनी आर्थिक असुविधा का सामना करना पड़ा। और मन के इतने साफ, इतने स्वच्छ कि पांच साल का शिशु। आस्थायान्, भक्तिमान् सच्चे इंसान। कभी कुछ छुपाव नहीं, दुराव नहीं, झूठ का सहारा नहीं, प्रवचना का आसरा नहीं। अच्छा है, बुरा है, सब सामने, सबको स्वीकार करने की अनुपम शक्ति। उनकी इस ईमानदारी ने, उनके स्वाभिमान ने, उनके मन के स्वच्छ, मुग्ध शिशु ने मुझे

सदा आकर्षित किया, प्रभावित किया। आज भी मुझे लगता है उनका आशीर्वाद मेरे साथ है।

मैं डी.ए.वी. स्कूल का विद्यार्थी रहा। उस समय स्कूल, इन्टर सेक्शन और डिग्री की कक्षाएं एक ही संस्था के अन्तर्गत थीं। जिस वर्ष एम.ए. की कक्षाएं प्रारम्भ हुई, तभी से स्कूल सैक्शन अलग हुआ, कालिज अलग। अस्तु, अपने प्रसंग पर वापस आता हूं। नवीं, दसवीं कक्षा में हमें हिन्दी पढ़ाते थे हिन्दी के प्रकाण्ड विद्वान् तथा लेखक रूप में परवर्ती जीवन में प्रसिद्ध होने वाले पण्डित गया प्रसाद शुक्ल 'सनेही'। हिन्दी पढ़ाते, अपने साथ हमें भी काव्य जगत् की सैर कराते। मस्त आदमी। हमेशा हमारे व्यक्तित्व को निखारने के प्रयासी। विद्यार्थियों की भीतरी शक्ति को पहचानने और उसे उभारने में माहिर और तभी उनकी प्रिय पंक्तियां थीं, 'मृग की नाभि महे कस्तूरी। बन बन फिरे उदास।' हम छात्रों के भीतर हम से ही अनजान, अपरिचित बसे कस्तूरी को, हमारी विशेषताओं को जानने, पहचानने और उसे उभारने, उकेरने की सदा प्रेरणा देते। पाठ्य पुस्तक से अधिक महत्त्व जीवन-निर्माण पर देते। हम छात्रों से खुले भी थे। हमेशा रौब ही नहीं चलाते थे। इसी का परिणाम था कि हम उनसे खुल कर प्रश्न कर लेते और कभी कभी तो हंसी मजाक तक पर उतर आते। याद है एक दिन मुहावरों पर बात करते हुए 'जितने काले सब मेरे बाप के साले' को विशद करने लगे। मैंने तपाक से पूछ लिया, 'गुरु जी वे मेरे मामा क्यों नहीं?' तो खुल कर हंसे और मामा न होने के कारण को समझाने भी लगे। जिन अन्य गुरु ने मुझे भीतर तक आलोड़ित किया, मुझे जीवन के सु और कु में अन्तर करना सिखाया, जो आज भी मुझे अनुकरणीय लगते हैं, वे हैं श्री रमानाथ सहाय, हमारे संस्कृत के प्रवक्ता। वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम.ए. थे। सुना था सम्भवतः स्वर्णपदक प्राप्त थे। उनके सम्पर्क में मैं जुलाई 1947 से मार्च 1951 तक इन्टर तथा बी.ए. में डी.ए.वी. कालिज देहरादून का छात्र रहा। मध्यम कद, मध्यम आकार-प्रकार के, बाह्य दृष्टि से सामान्य व्यक्तित्व के उस व्यक्ति के जिन गुणों ने मुझे मोहित किया, प्रभावित किया, आलोड़ित किया वे थे उनकी सिम्पलसिटी तथा ईमानदारी, अध्यापन के प्रति निष्ठा तथा कर्तव्यपरायणता। उस समय उनकी आयु मात्र 24-25 वर्ष की रही होगी। वे अविवाहित भी थे परन्तु उनके व्यक्तित्व की परिपक्वता आयु को आड़े नहीं आने देती थी। अध्यापन उनका पेशा नहीं, उनका मानों पहला प्यार था। वे कभी अनुपस्थित नहीं रहते थे, कक्षा में एक क्षण भी व्यर्थ की बातों में व्यय नहीं करते थे, सदा पढ़ाने में ध्यान रखते थे परन्तु उनकी खासियत यह थी कि उनके इस पढ़ाने की धुन ने कभी संस्कृत विषय को हमारे लिए बोझिल बनने न दिया। मैं ही नहीं, मेरे सभी साथी संस्कृत विषय में रुचि ही नहीं लेते, उससे प्यार भी करने लगे थे। विद्यार्थियों में अपने विषय को पढ़ने में किस भांति रुचि उत्पन्न की जाती है, यह गुरु तो कोई उनसे सीखे। 'मजा आना'

उसी को कहते हैं। हम पूरी कक्षा में छः सात लड़के तथा आठ-दस लड़कियां थी परन्तु गुरुजी का ध्यान प्रत्येक विद्यार्थी में समान रूप से जाता था। हम सभी को अपने चारों ओर गोलाकार में कुर्सियों पर बिठा लेते थे, तब पढ़ाते थे। पढ़ाना ही उनकी पूजा थी, उनका जीवन था।

रमानाथ सहाय जी अपने चरित्र की उज्ज्वलता और ईमानदारी के लिए हम सभी के आदरणीय के साथ प्रिय भी थे। हम लड़कों की पहुंच उनके घर तक थी। कक्षा के पाठ्य-विषय के अतिरिक्त जीवन की सभी समस्याओं के निराकरण के लिए, दिशा-निर्देश देने के लिए भी वे सुलभ थे। हमारे वह गुरु अत्यधिक अनुशासन प्रिय भी थे फिर भी हमसे हंसने-बोलने या हमारी शरारतों का लुत्फ उठाने में भी वे कंजूसी नहीं करते थे। अपनी किशोरावस्था की एक शरारत मुझे याद आ रही है। हमारा एक साथी था विमल गोयल—अत्यधिक शरारती, खुराफाती, मुझे भी जो शरारत करनी हो, उसी के सहयोग से करता था। गुरुजी हमारे इस गुण से भी परिचित थे। हमारी कक्षा में एक छात्रा थी जिसके साथ पारिवारिक परिचय होने के कारण मुझे उसका घर का नाम ज्ञात था बिट्टू। एक दिन गुरुजी हमें जो पढ़ा रहे थे उसमें बटु शब्द आया। मेरे निर्देश पर विमल ने भोला सा मुंह बनाकर पूछा, 'गुरुजी बिट्टू के रूप कैसे चलेंगे।' गुरु जी जितना कहते यह बिट्टू नहीं, वटु शब्द है, विमल उतना ही जोर देता कि वह बिट्टू ही है। उस छात्रा को मेरी शरारत समझ आ गई और उसका मुंह गुस्से तथा शर्म से लाल हो गया और हमारा हंसी के मारे बुरा हाल हो गया। गुरुजी को कुछ समझ तो न आया पर शरारत की गन्ध पाकर उन्होंने प्रसंग को हंस कर टाल दिया और पुनः हमें संस्कृत साहित्य के रस में डुबोने लगे। हमारे गुरुजी हमें पढ़ाते, आनन्द के साथ पढ़ाते, आनन्द लेना सिखाते पर साथ साथ हमारे अनजाने में अपने आचार-आचरण और व्यवहार से ईमानदारी, अनुशासनप्रियता, कर्तव्यपरायणता का पाठ भी पढ़ाते।

जीवन में कक्षा से बाहर भी, जीवन पथ पर चलते हुए भी कभी कभी कुछ ऐसे व्यक्तियों से मिलना होता है, जो आपको बहुत कुछ सिखा जाते हैं, आपके जीवन को आकार प्रदान करते हैं, आपके व्यक्तित्व को निखारते हैं, आपका मार्गदर्शन करते हैं और औपचारिक गुरु न होते हुए भी आपके गुरु बन जाते हैं। मेरे जीवन में भी ऐसे ही व्यक्ति आए मिस्टर नरेन्द्र सिंह। 1955 में जब मैं मैथेमेटिक्स के असिस्टेन्ट मास्टर के रूप में कर्नल ब्राऊन स्कूल देहरादून में आया, उस समय सिंह साहब वहां के प्राचार्य थे। 1955 से 1976 तक का लम्बा समय मैं उनके साथ रहा, और बाद में तो उनका प्रिय आत्मीय बन कर रहा। मिस्टर सिंह की जो बात पहले दिन से मुझे आकर्षित करने लगी वह थी उनकी समय की पाबन्दी, मौके के अनुसार ड्रेस पहनना और किसी भी छोटे से छोटे काम को करने में न सकुचाना। प्राचार्य के पद पर रहते हुए भी हमेशा किसी भी काम को करने

के लिए तैयार रहते थे। हमेशा मुझसे कहते, 'चैटर्जी, हमें हर काम करना चाहिए, हर काम करना आना चाहिए। कौन जाने कब हमें कौन सा काम करना पड़ जाये। इसलिए कभी मत सोचो कि असिस्टेंट मास्टर हो तो उसी निर्धारित काम को करोगे।' उनकी इस बात की महत्ता तथा सच्चाई मुझे उनके साथ रहते हुए समझ आती गई, अनुभव होती रही तभी तो मुझे क्रमशः हाउस मास्टर, हेड मास्टर और बर्सर जैसे दायित्वपूर्ण पद भी सम्भालने पड़े और इससे भी बड़ी बात जब 1976 में सिंह साहब हम सभी को छोड़कर अचानक ही, बिना किसी पूर्व सूचना के परमधाम को चले गए तो उनके एक मात्र सुपुत्र के कैनाडा में होने तथा समय पर पहुंचने में असमर्थ होने के कारण मुझे सिंह साहब की अंत्येष्टि भी अपने हाथों करनी पड़ी। उस समय मेरे कानों में सिंह साहब की वह उपदेश वाणी गूंजती रही, 'तुम नहीं जानते हो, वक्त तुमसे कब क्या करवा ले। इस लिए हमेशा हर काम के लिए तैयार रहो।'



लेखक परिचय

स्व० श्री सूर्यकुमार चैटर्जी तथा स्व० श्रीमती शैलबाला चैटर्जी के पुत्र श्री सुनीति कुमार चैटर्जी का जन्म 18 जून 1931 को देहरादून में हुआ। यू.पी. बोर्ड से 1947 में हाई स्कूल तथा डी. ए.वी. कालिज देहरादून (आगरा विश्वविद्यालय) से 1949 तथा 1951 में आपने क्रमशः इन्टरमीडिएट तथा बी.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की।

आपने अपना जीवन अध्यापन से प्रारम्भ किया। देहरादून के प्रसिद्ध शिक्षा संस्थान कर्नल ब्राऊन स्कूल में 1955 में असिस्टेंट मास्टर के रूप में आपने प्रवेश किया तथा हाउस मास्टर, हेड मास्टर और बर्सर के रूप में कार्य करने के उपरान्त 1981 में व्यक्तिगत कारणों से स्कूल छोड़ दिया और अपनी पत्नी श्रीमती डॉरीन एडा चैटर्जी के साथ ग्लासगो इंग्लैण्ड में चले गए। 1983 से आप दोनों ग्लास्टर, इंग्लैण्ड में निवास कर रहे हैं तथा वहीं अपना स्वतन्त्र व्यापार कर रहे हैं।

सुनीति कुमार चैटर्जी जी को विद्यार्थी जीवन से ही कहानी तथा नाटक लेखन का शौक रहा है। नाटक निर्देशन आपकी रुचि का कार्य था और स्कूल में अनेक बार किया भी है परन्तु आत्मसन्तुष्ट आपने अपने लिखे नाटकों को कभी प्रकाशित नहीं करवाया है।



ANUKARANIYA GURU

Sri B.P. Singhal, IPS (Retd.)

Against the popular belief, specially among the present day teachers that to be popular with the students, you must show understanding towards their urges. In effect this means that "Do nothing that would ruffle their feathers; do nothing that could hurt their feelings; concede all their requests readily even if some happens to be not so reasonable. Such a quest for popularity has produced examples of teachers furnishing a list of most probable questions that could come in the examinations, and worse still permit students to copy and even going to the extent of helping the students to copy. Allowing students to cut classes or deliberately connive at proxy in attendance are among the somewhat softer recipes of so-called popularity.

But, amazingly enough, today as I sit down to think about the teachers that stand out as ideals in their profession, the above variety of 'popular' teachers appear to me to have been the ones that have heaped despise and ignominy to the noble profession of teachers and, in my assessment, they are a blot on the fair name of teachers.

Going down the memory lane, I find teachers after teachers surfacing who were really stern task masters, who caned and slapped errant classmates (and that includes me as much) most liberally; teachers who were the real "No nonsense" types; teachers who maintained a hallowed distance with their students, teachers who were prepared to give of their time free after school hours and even at their houses to resolve the intricacies of lessons given during the day - specially so in the highly intricate subjects of Grammar and Mathematics, teachers who possessed fat - very fat - copies full from end to end containing their own personal notes; teachers who wore austere but ever clean clothes, even if they had not been ironed; teachers who like a coconut had an almost intimidating exterior, but were ever full of sweet water of knowledge and sincere affection within, teachers who not only made sure that every single student in the class absorbed all that they had to give but would not hesitate for a moment to punish a student who chose to become inattentive; teachers who themselves lived a life of

severe discipline and enforced their own severe standard of discipline in their own class no matter how uncomfortable a student here or a student there may have felt.

In short, they were teachers whose knowledge of the subject was as deep as their ability to articulate and transplant that knowledge in the minds of their students in such a way that it remained etched in their memory for all times.

It is these kind of teachers that surfaced in my memory on the day I received Ms. Sipra Banerji's letter of the remarkable ingenuous and laudable project undertaken by the band of teachers of inviting instances of "Anukaraniya Gurus" from persons who became what they are because they had the fortune of having been the pupils of such teachers.

The very first among the Anukaraniya Gurus stands out a teacher by the name of Sri Ram Chandra Shukla. The teacher who taught us English Grammar in my High School. The year was 1945-46. He was lean in built, austere dressed in a dhoti & kurta, wore a long but neat looking long tilak on his forehead and in our hearts appeared so tall that we dared not look into his eyes. Sobriety incarnate, he was punctual to the second and even though he hardly punished anyone at all, yet the moral AURA he exuded was sufficient to keep the Class in a very high degree of disciplined silence and glued to what he taught. Nobody - just nobody could escape acquiring the knowledge of grammar that he imparted. At School, my innocent mischiefs were irrepressible. Just to test my daring, I once took the liberty in doing some sweet mischief to my friend sitting next to me. That sent him into a compelling laughter which he desperately tried to repress yet gushes of it burst forth from the sides of his mouth. I still see the startled eyes of Shuklaji looking at me for my daring. He quietly walked up to me. He placed his somewhat over-grown thumb nail on the cartilage of my ear and gradually started increasing its pressure by using the fore & middle finger in the rear of the cartilage. After reaching a high enough pressure (without cutting through my skin) he kept that pressure for at least a couple of minutes (to me it had seemed an eternity at that time). My heart was wanting to scream as the pain was excruciating but I kept my control. After two minutes of this drill, he very quietly said to me in my ear, "That should teach you to abide by the discipline of the Class". I don't think my friend next to me heard what he said. The whole exercise was done so quietly and with such deliberation that for the remainder of the boys nothing in particular appeared to have

taken place, because not even my ear which he held in his thumb & forefinger had been visibly pulled - but - the sore cartilage of the ear bore that pain in an extremely slow reducing intensity for a good ten days or so.

One day, I dared to go to his house which was a non-descript Little house to clarify some concepts regarding parsing and analysis. It was then that he brought out a fat bound exercise book and when he opened it and leafed the pages to reach the point in issue, I was simply awe-struck at the meticulousness and the impeccable nature of notes that he had made for himself. "Don't get overawed at the sight of this note book", he said with profound affection (an emotion I thought was alien to him). "For your purposes, just a small fraction of this will suffice, but I have to go to such length for my own benefit."

My elder brother, Sri Ashok Singhal (presently the Executive President of VHP), had also been seeking his extra assistance during his days at the CAV High School, Allahabad. Both of us had studied in the CAV High School. In 1993. I learnt from a great favourite teacher of mine Sri Shiv Kumar Chaturvedi that Shukulji (as he was known) was yet alive and fine. Both me and Ashok Bhaisaheb were thrilled at the prospect of having darshan of that great legend of a teacher. When we entered his house, the same non-descript spartan house, he appeared in his Dhoti and ganji, Emaciated and skeletal because of age he was still holding himself erect. His face still had the same "Tej" and his eyes seemed like two power houses. Both of us did a full Shastang Dandavath (prostrating before his feet) to get his blessings.

Here was an Ex-DG of Police and an Ex-special Secretary Home and the world famous Ashokji prostrating before their School teacher and feeling supremely honoured to receive his blessings. However, while conversing with him a slight error in my pronunciation resurrected the teacher in him and he was back on his old job of teaching an erring pupil.

The other great unforgettable teacher was Sri Mannu Lal Misra who taught us Mathematics in the B.Sc. at Maharana Bhopal College, Udaipur. Year 1949-50-51. Austere in his dress, simple and humble looking, lean & thin of built, his eyes bore a perpetual sparkle. Profoundly sober and utterly competent in his job, he was truly an ideal teacher not just because he was so comprehensible and patient while giving his lessons, but because of the profound lessons of life that he kept giving to us from time to time. Keeping well abreast of the schedule of the

syllabus, this great simple teacher would sometimes talk on subjects which had nothing to do with Mathematics. Every week during the two years he taught us Mathematics for 5 days but on any one day of the week he would narrate fascinating parables and stories that kept enlightening us on the values of life in an extremely subtle way. He was a moral giant.

One day as he arrived in Class, he picked up his chalk, turned to the board, then deciding that it was not the day he would teach Mathematics, he put away the chalk, gave an appraising look on every student of the Class and then pointed out to a particularly above average student and asked the whole Class to describe the good qualities of that student. The Class seemed dumb-founded at first, but then he cajoled the boys to come up with whatever good they saw in that boy. Gradually, the ice broke and a boy said, "He is always very neatly dressed". "He has a beautiful physique" came another voice. "He is athletic", "He sings beautifully". "He has a friendly disposition towards all".And then the class fell silent.

After waiting for a couple of minutes and despite further cajoling when no further opinions came, he just said :

"You see, how difficult it is to see the good qualities in others!"

He took his time as these words sank in our minds. And then to the embarrassment of the whole Class, he pointed out that the entire Class had missed out on the greatest quality of that boy. And while all of us unsuccessfully raced our minds to discover the quality that had escaped our notice, he said :

"His face is always smiling at all times". And then he devoted the whole period in telling the internal qualities which end up in a perpetually smiling face and how a smiling face is a piece of sunshine for the dark wintry hearts that approach such persons.

That was not all.

One day, I went to his house after College hours seeking a solution to a problem of Integral Calculus. The affection with which he received me reminded me of Shukulji and while he was busy with me, his 17 year old son came over to tell him that Grand father (who was paralysed and utterly bed-ridden) had soiled his clothes and did he have his permission to clean him up? Even before I could wonder at the oddity of his request (because according to me he should have gone ahead and done the cleaning up operation instead of coming up and seeking his father's permission at a time when he was visibly busy

teaching me), Misraji turned sharply at his son and I heard a surprisingly sharp (He was always a very soft spoken person) order "Certainly not ! Son. That job is my privilege. You do it for your father when your turn comes, but this is my domain". And he promptly got up, cleaned up his ailing father, changed his clothes and the bed clothes and then came over to me again to attend to my problem.

The way he had replied to his young son appeared as though his son was about to rob him of something that was extremely precious to him.

It was one of the greatest lessons of life I had learnt on that day.

The greatest aspect of revered Misraji's teaching was that he never preached anything to us that he himself did not practice.

That indeed was the secret of his enormous moral power. He was a frail man, humble in his ways, pedestrian in his dress and yet he was a mighty human powerhouse. Later I was thrilled to learn that he had also adorned the seat of the Vice Chancellor of Sagar University (M.P.).

I am aware that I have already consumed a lot of space, but there is one more real Anukaraniya Guru I just cannot help telling about. He is Prof. B.K. Bhatnagar of the Law Department of Allahabad University. He taught me Roman Law during 1953-55. His knowledge of the subject he taught was unfathomable. LLB Course in Allahabad University were notorious for cutting Classes. 45 to 50% attendance was deemed to be good attendance. I had not unoften sat with just 8 or 9 other boys in several other Classes while the strength of the Class was supposed to be 40 plus. But in Prof. Bhatnagar class, attendance was invariably 100%. Not because he could spot out even a single absentee and enquire about his health that may have caused his absence, but because the lectures he gave on Roman Law (not a frightfully fascinating subject) became fascinating by the manner in which he taught us.

He was a triple M.A. all in first Class. He had been a great University Union leader-the president of the Union during his student days, but it had taken me all of two years to learn of this aspect of his. He was never heard speaking about his achievements.

First I knew him as a teacher-par-excellence. I still remember that while appearing at the final exams in the Roman Law paper, of the six questions that I had answered, in three

of them my hand was merely writing down the entire lecture of Sri Bhatnagar which was getting as though replayed on a tape inside my mind. Lest some people may attribute this remarkable feat to my own memory, I would hasten to disabuse their minds by confessing that in no other Class and on no other subject was this feat ever performed by me. The entire credit, therefore, goes to the immense voltage that emanated through the words of this very great teacher as a result of which his voice got recorded word for word in my memory. But that was only one third of Prof. Bhatnagar.

The other third lay in the dignified way in which he guided me in taking my stands in the highly volatile world of students Politics. I learnt from him that truth and justice are just not negotiable. He provided me with the strength to stand by what was fair and just all alone in an overfull Union Hall clamouring for taking a stand that was most attractive for the students but was patently unfair and unjust. It was he who inspired me to mobilise the entire lot of University boys and girls in observing what he called "The dignity of manual labour week". The plan was simple. One week was earmarked for this campaign. Every Class of every Department was approached and during that week every student was supposed to bring clean good pieces of rags or dusters. Every 10 boys were to bring one broom and a cake of Sunlight (washing) Soap and one long bamboo was to come from each Class for cleaning the cobwebs. Every student was supposed to wash clean all the doors, windows of his Class, clean the desks and every piece of furniture in his Class and then in his Department. Dust the walls and floors of the Class and verandahs and wipe them clean. Broom the floors and, when the buildings were thus cleaned up, then broom the roads in the University Campus followed by brooming all the playgrounds. As all this was to be done by students, the emphasis had to be to do the task to perfection. And neo-perfection was indeed achieved.

The programme was for a week, but in less than four days we, the students of Allahabad University, had converted a drab and dirty University into a sparkingly clean structure including the campus and the playgrounds.

I can never forget that on the following Monday, a smoker friend of mine took out his pack of cigarettes and took out a cigarette which happened to be the last one in the pack. He was going to throw the empty pack on the road, when he suddenly checked himself halfway and pocketed it instead. Rea-

son : he and his friends had just the day before broomed the entire road and the side walks and they were looking spick & span.

It was Prof. Bhatnagar who inspired me to stage a mock Parliament in the Union Building and a stupendous Mock Session of the United Nations General Assembly in the Senate Hall. It was through his efforts that this mock session was presided over by none other than the then Chief Justice of the Allahabad High Court. It was this great teacher that inspired a host of creative extra-curricular activities in the University. Yet, he himself remained aloof and distant lest somebody may rob the enterprising students of some of the credit for those programmes and credit it to his account. He was remarkably self-effacing.

The last third of Prof. Bhatnagar revealed to me when I began frequenting his home. A Professor of Law Department and yet his home wore a Spartan look. He and his wife would be wearing only khadi. Always neatly dressed, yet the cloth was course. He lived by a budget, and I was to learn later from Smt. Bhatnagar that the budget never exceeded the allotment under any head and yet he had enough to buy books for poor children or help them with their fees.

Here was a man once again who never preached which he himself did not practice. Here was a teacher who fulfilled the highest ideals of a true guru. He avoided publicity like poison. 'All service is for one's own pleasure' was his motto. 'There is no other reward worth aspiring for. There is no other reward possible' was his personal philosophy.

Looking back now, I feel grateful for the grace of the Lord Almighty upon me that I grew up under the guidance of such truly great personages.

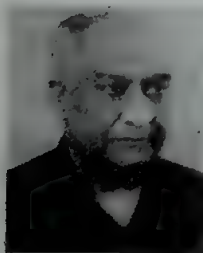
May their tribe increase multi-fold to enable my Mother to sit proudly among the Nations of the world.

Amen.

A Profile

Sri Bharatendu Prakash Singhal, son of Late Rai Bahadur M.S. Singhal, Ex-Member, Board of Revenue, Uttar Pradesh and Ex-Chief Secretary, Rajasthan, was born on 15th September 1931.

He attained a post graduate (previous) degree in Physics and Law degree from Allahabad University.



During College/University days, he won Championships in Athletics, Tennis and Badminton. In the University of Allahabad, he participated in Debates, Dramatics and had led a movement for the dignity of labour by mobilising all the students and cleaning up the entire University buildings in 3 days time. He was declared the Best All Round Student of Allahabad University in the 1954-55 session and was awarded the Chancellor's Medal in 1955. He also captained the U.P. State Kabaddi team in 1953-54.

Mr. Singhal joined the Indian Police Service in 1955 and was allotted to the Uttar Pradesh Cadre. He held charge of seven Districts as Superintendent, four Ranges as Deputy Inspector General of Police and one Zone as Inspector General of Police, Agra Zone. He had spearheaded the now famous Anti-dacoity campaign in 1981 against major gangs and achieved success which excelled the highest expectations of the then Chief Minister. He also served as Deputy Inspector General of Police, Anti-Corruption organization and Principal, Police Training College, Moradabad. In 1965, as many as 43 dacoits surrendered to him without any preconditions of any kind. This surrender stands out as unique in the criminal history of this country.

Bhartendu Prakash Jee distinguished himself as a fearless leader of men early in his career and was awarded decorations as follows-

First Gallantry award of Police Medal for Gallantry in 1965; Second Gallantry award as Bar to Police Medal for Gallantry in 1966, Police Medal for Meritorious Service in 1977, President's Police Medal for Distinguished Service in 1983.

As Principal, Police Training College, Moradabad, he was responsible for the introduction of a new indoor subject, 'Ethical Values and Personality Development' in the syllabus of I.P.S. probationers in 1986 and all courses of Police Training in Uttar Pradesh.

Mr. Singhal has been a visiting faculty for inputs in the formation of proper values and attitudes in the Officer Trainees of these Institutions-Sardar Vallabhbhai Patel National Police Academy, Hyderabad; Lal Bahadur Shastri Academy of Administration, Mussoorie; Police Training College Moradabad and Jaipur; Administrative Academy of Rajasthan, Jaipur, Indian Institute of Public Administration, New Delhi and Institute of Training and Management, New Delhi.

He is looked upon as a model by the younger I.P.S.

Officers of the country and the entire Police force of Uttar Pradesh.

Mr. Singhal was given out-of-turn promotion as Director General and posted in the Ministry of Home Affairs as Director General Civil Defence in February, 1986 and was appointed as Additional Secretary in March 1986, which appointment he held for about one year. After retirement, he was appointed as Chairman, Film Censor Board from which post he resigned after one year at the advice of his friend and classmate Dr. Murli Manohar Joshi to join the BJP to inspire good and honest persons to join politics.

He is now a member of the Rajya Sabha from U.P. since July 1998.

He is a Thinker and has succeeded in evolving tangible and concrete action plan for the development of a human being in his true and real role, endowed with power of character and will to achieve the ordained goal of human life. He has written a book 'Maa Ki Pukar' which is practical action plan supported by philosophy based on scientific principles. The only objective of that book is to guide all citizens to become a powerful asset for Maa Bharat.

He is a connoisseur of arts and a lover of music, even though he possesses no formal education in fine arts, dramatics or music.

His wife, Smt. Shukuntala Singhal hails from a distinguished family of Jewellers of M/s Brij Lal Kishan Lal of Mandi Chowk, Moradabad.

Dreams come true to a person who believes in them long enough and Mr. B.P. Singhal always believed in his dreams. Not for a moment he forgot the debt that he owed to his Motherland and what better manner than to pay it with service to humanity with humility.



मेरे अनुकरणीय गुरु

पद्मश्री सरदार मित्खा सिंह

असंख्य तारों, अनगिनत पृथ्वियों और बहुत से सूर्यों की अनन्तकाल से खेले जा रहे खेल में मानव एक छोटा सा खिलाड़ी है। जीवन के इस विशाल क्रीडांगन में शताब्दी के कुछ एक अंशों तक के समय के लिए अपने तन को लेकर मैं भी एक खिलाड़ी के रूप में उतरा हूँ। तेजी से भाग रहे समय में बहुत धीरे-धीरे चल रहे एक गांव गोविन्दपुर, मुजफ्फरगढ़ (पाकिस्तान) में मेरा जन्म हुआ। उसी गांव से चौथी कक्षा पास करके गांव से छः मील दूर शहर के स्कूल कोट अटू में पांचवी कक्षा में मैंने प्रवेश लिया। मेरे गांव से मात्र एक अन्य बालक स्कूल के लिये मेरा साथी था। स्कूल जाते हुए गर्मियों में रेत के तपते हुए टिब्बों में हमारे पांव भुन जाते थे। गर्म गर्म रेत पर निश्शब्द तेजी से भागना और जहां कहीं थोड़ी से छांह मिली वहां निढाल गिर कर अपने पावों को ठण्डा करने की चेष्टा करना—शायद ये ही मेरे जीवन की पहली पहली दौड़ें थीं जो आगे जाकर मेरे खिलाड़ी जीवन का आधार बनीं। खैर, मैं उस स्कूल में पढ़ता रहा। पढ़ाई में हम दोनों ग्रामीण बालक शहरी विद्यार्थियों की तुलना में कहीं अधिक कमजोर थे। मुझे वहां के एक मास्टर जी याद हैं गुलाम मुहम्मद साहब। वे हमें गणित पढ़ाते थे। पहाड़ याद करवाते हुए बहुत बार उन्होंने मुरगा बनाया, पीटा भी पर मैं पहाड़ों में पक्का हो गया। उनको मैं अपना पहला गुरु कह सकता हूँ, जिनसे मुझे कठिन परिश्रम करने की प्रेरणा मिली।

अभी मैं पढ़ ही रहा था कि सन् 1947 का कहर घरती पर छा गया। गुरु शब्द से भली भांति परिचित होने से पहले ही मेरा घर, परिवार, मेरे आत्मीय स्वजन के साथ मेरा बचपन भी मुझसे बिछुड़ गया। परिस्थितियों के थपेड़ों के साथ मैं अपनी भाभी के साथ शाहदरा (दिल्ली) पहुँचा और उनके पिता के घर पर आश्रय लिया। उस समय मेरा मन स्कूल जाने के लिए तड़पता पर वह सम्भव न था। पहले मैंने जो कुछ पढ़ा लिखा था, वह भी मुझे भूल गया था और फिर मुझे कभी सामान्य बच्चों की तरह स्कूल जाने, पढ़ने का मौका नहीं मिला। यह ठीक है कि बाद में मैंने शिक्षा ग्रहण की पर सच्चे मायने में जीवन में मैं शिक्षा गुरुओं की छत्र-छाया से वंचित ही रहा। फिर भी मैं यह नहीं कह सकता कि मुझे गुरु नहीं मिले। गुरु मिले मेरे खिलाड़ी जीवन में—मेरे प्रशिक्षक के रूप में, कोच के रूप में और उन्हीं में से कुछ ने मेरे जीवन पर अपना अमिट प्रभाव डाला और उसी कारण मैं उन्हें अपना अनुकरणीय मानता हूँ। उन्हीं को क्रम से याद करना उचित होगा।

सेना में रहते जनवरी 1953 के किसी एक दिन हमें बताया गया कि अगले दिन छः मील की हमारी दौड़ होगी और हम पांच सौ नौजवानों में से पहले दस दौड़ाकों की ड्यूटी मुआफ कर दी जायेगी तथा उन दसों को ठीक ढंग से दौड़ने का अभ्यास करवाया जाएगा, उनके पीने के लिए दूध का प्रबन्ध भी किया जाएगा। उस दौड़ में मैं पहले दस धावकों में छटा ठहरा।

इस तरह मुझे अपने धावक जीवन के पहले गुरु मिले सरदार गुरदेव सिंह। वे एक पुराने धावक थे। उनका काम था हमें रोज छः मील दौड़ाना और फिर दूध पिलाना। गुरुदेव सिंह जी खुद हमारे साथ छः मील दौड़ा करते थे। रास्ते में वे लड़कों को गालियां निकालते और डण्डे मारते ताकि वे पूरे जोर से दौड़े। जैसे जैसे मेरा अभ्यास उनके साथ होता गया, मैं दिन-प्रतिदिन आगे ही बढ़ता गया। मास्टर गुरदेव सिंह की मेरे जीवन को महत्त्वपूर्ण देन है। आज भी जब मैं उनकी की हुई पिटाई और दी हुई गालियों को स्मरण करता हूँ तो मेरा सिर उनके सत्कार में झुक जाता है। उनके साथ भागने का अभ्यास करने का परिणाम हुआ कि डेढ़ महीने बाद हमारे सैन्टर में जो क्रासकन्ट्री प्रतियोगिता हुई उसमें गुरदेव सिंह जी प्रथम आए और मैं द्वितीय। इस तरह पहली बार धावक के रूप में मैं मिलखा सिंह लोगों की आखों में आया। इसके बाद भी गुरदेव सिंह जी के मार्गदर्शन में मेरा दौड़ने का अभ्यास और प्रशिक्षण चलता रहा। उनका मुझे पहला उपदेश था कि चार सौ मीटर दौड़ के एक चक्कर में ही बीस चक्करों का जोर लगा देना है।

राष्ट्रीय दौड़ में भाग लेने से पूर्व बंगलौर के कंटरीवा स्टेडियम में तीन सप्ताह का कैम्प लगा जिसमें बहुत बढ़िया सिखाने वाले प्रशिक्षक आए। यद्यपि उनका नाम मुझे आज याद नहीं पर उनके उपदेश मुझे याद हैं। पहली बार मुझे पता चला कि खेलों में खिलाड़ी के मनोबल का अपना विशेष स्थान है। चैम्पियन होना जितनी शारीरिक समस्या है उतना ही मनोवैज्ञानिक भी। मेरे प्रशिक्षकों ने मेरे मन में यह बात पूरी तरह बिठा दी कि मैं चार सौ मीटर बहुत अच्छा दौड़ता हूँ। मात्र तीन सप्ताह की इस ट्रेनिंग में मेरे साथियों को भी मेरे विकास के लक्षण दिखाई देने लगे और तभी इस सिलसिले में जब अन्तिम कैम्प पटियाला में लगा तो मैं ओलम्पिक के लिए चुन लिया गया।

ब्रिटिश अम्पायर और कॉमन वेल्थ के खेलों में भाग लेने के लिए जब मैं लन्दन गया था तो वहां हमें जो कोच मिले उन्हें मैं अपने जीवन का एक स्मरणीय गुरु मानता हूँ। वे थे अमेरिकी डाक्टर हावर्ड। वे बहुत सूझबूझ वाले व्यक्ति थे। उनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण और व्यक्तित्व प्रेरणाप्रद था। वे विश्व के सभी प्रसिद्ध खिलाड़ियों के रंग-ढंग से व्यक्तिगत रूप से परिचित थे। उन्होंने ही मुझे दौड़ने के कई ऐसे रहस्य, ढंग और तरीके बताए जिनका भारतीय खिलाड़ियों को पता ही न था। वे सारी रात, सारा दिन बैठे बैठे मुझे कुछ ना कुछ बताते-समझाते रहते। सबसे पहले उन्होंने मेरे मन से हीन भावनाओं को

निकालने में सफलता पाई। मैं तब सोचा करता था कि मैं स्वर्ण पदक क्या जीतूंगा, मैं तो पहले छः में भी न आ पाऊंगा। दक्षिणी अफ्रीका का मैलपैस, जमायिका का जार्जकर, आस्ट्रेलिया का गौसपर, कनाडा का तबैको और इंग्लैण्ड का सालसवरी— इनमें मेरा कैसा स्थान। ये सब अत्यन्त प्रसिद्ध और श्रेष्ठ धावक थे। इनका समय मुझ से कहीं अच्छा था। इनकी तुलना में मैं नगण्य था। ऐसा ही सब मैं सोचा करता था पर डाक्टर हावर्ड के कारण मैं प्रत्येक राउण्ड में विजयी रहा। मैं ग्रुप के बाद ग्रुप जीतता गया और फाइनल में पहुंच गया।

फाइनल में दुनिया के चुने हुए छः धावक थे। इनमें मैलपैस सर्वोत्तम था। डाक्टर हावर्ड ने उसके दौड़ने के ढंग का पूरी तरह से अध्ययन किया। वे एक एक खिलाड़ी की शक्ति और योग्यता का प्रत्यवेक्षण सा करते रहते थे। फाइनल दौड़ से पूर्व उन्होंने मुझे कुछ शिक्षाएं दी और सूत्र बताए। उन्होंने मुझे बताया कि 'मैलपैस का सांस बहुत है पर गति कम है इसलिए ठीक यही रहेगा कि तुम चार सौ मीटर अपने ढंग से दौड़ना। यदि तुम पहले तीन सौ मीटर तेज दौड़े तो वह यह चेष्टा करेगा कि तुम्हारे साथ— साथ दौड़े। फलस्वरूप जिस ढंग से वह स्वयं दौड़ता है, उसे छोड़ बैठेगा और तुम्हारे साथ दौड़ेगा। वह इस प्रकार पहले 300 मीटर में अधिक शक्ति लगा देगा जिससे उसमें इतनी शक्ति नहीं रहेगी कि तुम्हें अन्तिम 100 मीटर में पकड़ पाए। अतः तुम यह गलती न करना कि पहले 300 मीटर धीरे धीरे दौड़ो जिसमें वह तुम्हारे साथ रहे और अन्तिम 100 मीटर में वह शूट मारता हुआ तुमसे आगे निकल जाए।' सारी रात वे यही बातें मुझे समझाते रहे।

दौड़ के लिये स्टेडियम जाते हुए मैं सहमा हुआ चुपचाप अपनी सीट पर बैठा हुआ था कि तभी मेरे आदरणीय प्रशिक्षक डाक्टर हावर्ड पीछे से उठकर मेरी सीट पर आ गए। उन्होंने मेरे साथ बातें करनी शुरु की ताकि मेरे मन को बदल सकें। उन्होंने कहना शुरु किया, 'आज की दौड़ पर ही तुम्हारा भाग्य टिका हुआ है। इसी दौड़ ने तुम्हें ऊपर या नीचे ले जाना है। ऐसा अवसर फिर चार वर्ष बाद ही आएगा। आज यदि पदक जीत लिया तो तुम्हारा सौभाग्य, नहीं जीता तो भी तुम्हारा ब्रिटिश अम्पायर कॉमन वेल्थ खेलों के फाइनल में आना ही बहुत बड़ी विशेषता है। तुम्हारे समकक्ष दक्षिण अफ्रीका का मैलपैस ही है और उसके साथ तुम मेरे बताए ढंग से ही दौड़ना। तुम तभी जीत पाओगे। यह कदाचित् असम्भव कार्य नहीं है।' उनके ऐसे प्रेरक उपदेशों ने मुझे सामान्य स्थिति में ही नहीं अपितु उत्साहजनक स्थिति में ला खड़ा किया। जब मैं दौड़ने के पूर्व अपने शरीर को गरमा रहा था तब भी डाक्टर हावर्ड पूरे समय मेरे साथ खड़े होकर बातें करते रहे। आखिर दौड़ शुरु हुई। जिस ढंग से डाक्टर हावर्ड ने मुझे दौड़ने के लिए शिक्षा दी थी, उसी के अनुरूप मैंने न आगा देखा और न पीछा— अपने गुरु के बताये तरीके से दौड़ता

रहा और विजय मेरी हुई।

1960 के रोम ओलम्पिक में जब मैंने 400 मीटर दौड़ में 45.6 सेकिंड निकालकर दुनिया का रिकार्ड तोड़ा वह लमहा मेरी जिन्दगी का सबसे बेहतरीन लमहा था। मैंने 80 अन्तरराष्ट्रीय दौड़ों में हिस्सा लिया। उनमें से मैंने 77 दौड़ों में विजय प्राप्त की जिससे मुझे दुनिया का 'Best Athlete' माना गया। भारत के महामहिम राष्ट्रपति ने 1958 में मुझे 'पद्मश्री' के खिताब से सम्मानित किया। 1959 में मैं दुनिया का बेहतरीन धावक माना गया जिसकी वजह से अमेरिका (USA) ने मुझे 'हेलमन वर्ल्ड ट्रॉफी' (Helman World Trophy) से सम्मानित किया जो आज तक दौड़ों में से किसी भारतीय को नहीं दी गई। यह ट्रॉफी उसी को दी जाती है जो दुनिया के किसी भी खेल में बेहतरीन हो।

कोई भी व्यक्ति, जो दुनिया में नाम कमाना चाहता है, तब तक नाम नहीं कमा सकता, जब तक उसमें दृढ़ निश्चय, कठिन परिश्रम, अच्छा चरित्र, सच्चा निशाना न हो। इन चीजों को प्रमुखता देकर कोई भी व्यक्ति किसी भी क्षेत्र में अपना मार्ग पा सकता है।

मेरे विचार से जितना एक भारतीय सख्त मेहनत कर सकता है उतना दुनिया का कोई आदमी नहीं कर सकता है मगर हमारे देश में लोगों ने खेल को तमाशा बना लिया है। कोई भी आदमी Sincere तरीके से काम नहीं करता है चाहे वह खिलाड़ी हो या प्रशिक्षक या खेलों से जुड़ा कोई व्यक्ति। मेरे विचार से हमारे खेलों का मयार आगे ले जाने के लिए डण्डा और अनुशासन की जरूरत है। मैंने चीन में देखा है कि एक व्यक्ति को एक जिम्मेदारी दी जाती है ताकि वह अपना काम अच्छे ढंग से कर सके, अच्छा रिजल्ट दे सके। यह बात हमारे देश में नहीं है। यहां सब लोग सिर्फ लम्बी चौड़ी स्टेटमेन्ट देते हैं लेकिन सही ढंग से काम करने के लिए कोई भी आगे नहीं आता है।

मेरा आने वाले खिलाड़ियों से यह कहना है कि अपने देश को प्रमुख रखते हुए आगे बढ़ें और अपने देश का नाम अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर ऊँचा करें ताकि आने वाले बच्चे आपसे प्रेरणा लें।



लेखक परिचय

फ्लाईंग सिख मिल्खा सिंह एक व्यक्ति का नहीं, एक राष्ट्रीय पहचान का, राष्ट्रीय गौरव का नाम है। धावक के रूप में उन्हें जो प्रसिद्धि मिली, विश्वव्यापी ख्याति मिली, उसने उनके साथ भारत को भी अभूतपूर्व गौरव प्रदान किया। सरदार सम्पूर्ण सिंह जी और श्रीमती वधाई बाई के सुपुत्र मिल्खा सिंह जी का जन्म 20 अक्टूबर 1931 को मुजफ्फरगढ़ जिले के एक छोटे से गांव

गोविन्दपुरा में हुआ था। यह स्थान आज पाकिस्तान में है। देश विभाजन में अपनों को खोकर मिल्खा सिंह जी शाहदरा, दिल्ली आए। खेल में कुछ कर गुजरने की चाहत उनके मन में दिन प्रतिदिन तीव्र होती गई ज्यों-ज्यों वे बड़े होते गए।

1956 के पटियाला में होने वाले राष्ट्रीय खेलकूद में मिल्खा सिंह जी पहली बार आकर्षण के केन्द्र बने और उसके बाद तो धावक के रूप में उनकी प्रसिद्धि दिन प्रतिदिन बढ़ती ही रही। 1958 में कटक में आयोजित राष्ट्रीय खेलकूद में उन्होंने 400 और 200 मीटर रेस में नये रिकार्ड बनाए। इसके बाद टोक्यो एशियन गेम्स में 200 मीटर रेस को 21.6 सेकेण्ड और 400 मीटर रेस को 46.6 सेकेण्ड में जीत कर उन्होंने स्वयं को श्रेष्ठ ऐथलिट के रूप में प्रतिष्ठित कर लिया। इसके बाद कार्डिफ कामनवेल्थ गेम्स में 440 गज को 46.6 सेकेण्ड में पूरा कर उन्होंने स्वर्णपदक तो जीता ही साथ ही खेल जगत में हलचल भी पैदा कर दी। भारत-पाकिस्तान खेल, लाहौर में दोहरी विजय प्राप्त करके जहाँ उन्होंने अपनी कीर्ति पताका को ओर ऊँचा फहराया वही 'फ्लाइंग सिख' की उपाधि से उन्हें अलंकृत भी किया गया। उन्होंने 200 मीटर मात्र 20.7 सेकेण्ड में पार करके विश्व के श्रेष्ठ धावकों में अपना नाम लिखा लिया और इसके बाद 1960 में रोम ओलम्पिक में 45.6 सेकेण्ड में 400 मीटर दौड़ कर उन्होंने दुनिया का रिकार्ड तोड़ दिया।

इसके बाद तो मिल्खा सिंह जी का विश्व भर में रेसों में भागीदारी होती रही। उनका यह बहुत बड़ा कीर्तिमान रहा कि उन्होंने कुल अस्सी अन्तरराष्ट्रीय धावक प्रतियोगिताओं में भाग लिया जिनमें से सतत्तर रेस उन्होंने जीते। उन्होंने 1959 में यू.एस. ए. वर्ल्ड हेल्मन ट्राफी मिली। विश्वस्तर पर मिल्खा सिंह जी के असाधारण योगदान तथा उपलब्धियों के आधार पर महामहिम राष्ट्रपति ने उन्हें 'पद्मश्री' से अलंकृत किया।

मिल्खा सिंह जी उन छः सर्वोच्च एथलेटिक्स में से एक हैं जिन्हें प्रथम एशियन अमेच्यूर ऐथलैटिक चैम्पीयनशिप के आयोजकों ने आमन्त्रित किया था जिससे कि उनको उस स्मरणीय क्षण में सम्मानित किया जा सके।

मिल्खा सिंह जी को एक मात्र एशियावासी होने का गौरव प्राप्त है जिन्हें 1986 में शान्ति का सन्देश विश्व में फैलाने के उद्देश्य से यूनिसेफ (UNICEF) द्वारा प्रथम अर्थ रन (1st Earth Run) में योगदान करने के लिये आमन्त्रित किया गया था। इस मिशन के अन्तर्गत उन्होंने 40 देशों की यात्रा की।

मिल्खा सिंह जी ने अन्तरराष्ट्रीय रेसों में दौड़ना छोड़ने पर भी निष्क्रियता का जीवन कभी नहीं अपनाया। वर्तमान समय में वे पंजाब शिक्षा विभाग के अन्तर्गत 'यूथ प्रोग्राम एण्ड स्पोर्ट्स' (Youth Programme & Sports) में डायरेक्टर के पद पर कार्यरत हैं। उन्होंने अपने सभी मेडल, ट्राफी यहां तक कि रोम ओलम्पिक में विश्व रिकार्ड तोड़ने के समय पहने गए जूतों को भी नैशनल स्पोर्ट्स म्यूजियम को इस उद्देश्य से प्रदान

कर दिया है कि उनसे भावी खिलाड़ी प्रेरणा प्राप्त कर सकें। वस्तुतः निरभिमानी एवं सरल स्वभाव के मिल्खा सिंह जी को खिलाड़ियों के मध्य में आनन्द की प्राप्ति होती है। उन्हें भावी खिलाड़ियों की प्रतिभा को जागृत करने और प्रेरित करने में अत्यधिक सन्तोष प्राप्त होता है। खिलाड़ियों के प्रति उनकी भावना का परिचय उनकी आत्मकथा 'फ्लाईंग सिख-मिल्खा सिंह' के समर्पण की पंक्तियों से ही चलता है, "देश के उन खिलाड़ियों को जो भर-पेट रोटी के अभाव में भी अपने देश का नाम ऊँचा उठाने के लिए खेल के मैदान में अथक यत्न करते हैं।" केवल शब्दों में ही भावना की अभिव्यक्ति नहीं, वे उन खिलाड़ियों के लिए कुछ ठोस करने में विश्वास रखते हैं तभी वे अपनी आत्मकथा में लिखते हैं, "अपनी मृत्यु के पश्चात् इस पुस्तक से प्राप्त सारी आमदनी मैं आल इण्डिया एथलीट्स वेलफेयर एसोसिएशन के नाम समर्पित करता हूँ।"



मेरे गुरु

श्री भाल भागवत

सन् 1931 में पूना में मेरा जन्म हुआ तथा प्रारम्भिक जीवन भी वहीं व्यतीत हुआ। जिस स्कूल में मेरी शिक्षा प्रारम्भ हुई वह था महाराष्ट्र एजुकेशन सोसाइटी जिसे संक्षेप में एम.इ.एस. बोलते थे। उस स्कूल में प्राइमरी शिक्षा के समय सबसे पहले जिस गुरु ने प्रभावित किया, वे थीं मिसिज पानसे। उनसे गुरु शिष्य का सम्बन्ध नहीं, अपनेपन का सम्बन्ध अधिक था। हम बच्चों के लिए उनका इतना ज्यादा प्यार था कि हम क्लास में उन्हें ऐसे देखते थे जैसे बच्चा घर में प्यार से मां को देखता है। हम उन्हें पानसे बाई कहते थे। उस बचपन में ही मुझे यह विश्वास हो गया था कि 'यह मैडम मुझे अच्छी तरह समझ सकती हैं। मैं जो चाहता हूँ, जो सोचता हूँ वह सब कुछ पानसे बाई समझ सकती हैं। अगर पढ़ाई में मुझे कुछ समझ नहीं आता था तो वे झट समझ जाती थीं कि वह मुझे क्यों नहीं समझ आया। वे थीं मेरी पहली अनुकरणीय गुरु।

घर में खेल का—कुश्ती का—वातावरण था। मेरे पिताजी की शिक्षा थी, 'आप जो भी बनो या जो भी करो, उसमें आपको एक ही होना चाहिए। आपके बराबर का कोई नहीं होना चाहिए। अगर डाकू ही बनना है तो डाकू मानसिंह ही बनो, कोई छोटा—मोटा साधारण डाकू नहीं।' पिताजी श्री भास्कर विष्णु भागवत महात्मा गान्धी के आह्वान पर दसवीं में ही पढ़ाई छोड़ चुके थे। असहयोग आन्दोलन में भाग लिया, जेल गए। देशभक्ति उनका पहला धर्म था। हम आठ भाई और दो बहनें—बहुत बड़ा परिवार था। उस परिवार को सम्भालना कोई आसान काम नहीं था। उस सारे दायित्व के साथ वे कुश्ती करते थे। वे हमेशा कहा करते थे, 'जो सीखना है, जल्दी जल्दी सीख लो।' उनका कहना था 'शरीर को मजबूत रखने से उसकी कोई चोरी नहीं कर सकता है।' इस सन्दर्भ में वे एक मराठी श्लोक बोला करते थे।

वस्त्रे शृंगारे शरीरे ज्ञाने शृंगारे अन्तरः।

दो हो भरे, श्रेष्ठ कौन भरे?

उनका भाव था, 'आप अपने बदन पर जो डालोगे, उसकी कीमत कुछ नहीं है। आपके शरीर में, भीतर जो है उसे हमेशा चमकाओ।' स्वास्थ्य को बनाना ही सारे सुख का मूल है।' मेरे पिता केवल पिता ही नहीं, हमारे गुरु भी थे। इसी का परिणाम था कि हम तीन भाई राष्ट्रीय सम्मान के पात्र बने। मेरे बड़े भाई को श्रेष्ठ अध्यापक का पुरस्कार मिला, मुझे द्रोणाचार्य पुरस्कार तथा मेरे छोटे भाई को बंगला देश के युद्ध में वीरचक्र

मिला। यह सब कुछ माता-पिता की ही देन है। पिता के निरीक्षण में, घर में बने अखाड़े में हमें बर्जिश करना पड़ता था। उसके बिना नाश्ता नहीं मिलता था। सुबह चार बजे उठना, अनुशासन में रहना बचपन से ही सीखने से भावी जीवन में हम कुछ कर सके। स्वास्थ्य ठीक रहा। दसवीं तक यही क्रम रहा। उसी का परिणाम हुआ कि स्कूल में सबको लगने लगा कि मैं खेलकूद में कुछ कर सकता हूँ। पिताजी देहातों में कुश्ती करने भेजा करते थे। साइकिल पर जाकर जगह जगह कुश्ती करके आया करता था। उसमें मेरी जीत या हार का विश्लेषण घर पर पिताजी किया करते थे। घर के भीतर ही गद्दों के ऊपर माताजी तथा बहनों के सामने कुश्ती करके दिखलाना पड़ता था। तब पिताजी मेरी गलतियों को बताया करते थे इस उपदेश के साथ कि भविष्य में उस गलती को दुबारा नहीं करना। इस प्रकार पिताजी हमें एक व्यवस्थित तरीके से प्रशिक्षण दिया करते थे। उसी का परिणाम था कि मैं भविष्य में ओलम्पिक तक में गया।

घर पर अखाड़े का प्रशिक्षण तो मुझे पूरी तरह से पिताजी से मिला ही साथ ही भारती शिलिंग नामक एक अन्य पहलवान ने भी अपने बदन पर खिलाकर मुझे कुश्ती का प्रशिक्षण दिया। उन गुरु की बात बताने से पहले अपने स्कूल की एक घटना बताना चाहूँगा। श्री के.डी. यादव, जो देश के लिए ओलम्पिक से कुश्ती में कांस्य मेडल लाए थे— जो पहला मैडल था— एक बार हमारे स्कूल में आए। उनका खूब सत्कार हुआ। हम विद्यार्थियों से कहा गया कि कोई उनके साथ कुश्ती करके दिखलाए। पहले तो कोई तैयार नहीं हुआ पर बाद में मेरे बड़े भाई ने कुश्ती किया जिसमें भाई ही उनपर भारी रहे। यादव जी जब ओलम्पिक में गए थे तो छठे रहे थे। उस समय मुझे लगा कि मैं भी ओलम्पिक में जा सकता हूँ और 1955 में मैं ओलम्पिक में गया। वहां जाने का प्रशिक्षण देने वाला कोई नहीं मिला पर हां कुश्ती खिलाने वाले मिले— पहले पिताजी और फिर श्री भारती शिलिंग। भारती जी रेस्लर थे। मेरे से आयु में अधिक नहीं, मात्र पांच-छः साल बड़े थे परन्तु सिखाते पूरी लगन और निष्ठा से थे। यदि स्कूल से आने में किसी दिन देर हो गई तो मैं उन्हें अपनी प्रतीक्षा में बैठे पाता था। उन्होंने मुझे पूरा प्रशिक्षण दिया। पिता की तरह वे भी कठोर अनुशासन में रखते थे, सख्ती करते थे। मेरे शरीर पर न जाने कितनी पट्टियां लगी रहती थीं। चोट आती तो भी आराम नहीं मिलता, चूल्हे की राख या मिट्टी से घाव को दबा दिया जाता और फिरसे कुश्ती करने का आदेश मिलता। परन्तु फिर भी इसमें दो राय नहीं कि वे मुझे प्यार भी बहुत करते थे। बीस बीस मील जंगल, पहाड़ों में से होकर साइकिल पर बिठाकर वे देहातों में ले जाते थे और किसी किसी कुश्तीगिर से कुश्ती करने का आदेश देते थे। इस तरह धीरे-धीरे मैं पूरे महाराष्ट्र में कुश्ती के लिये जाना जाने लगा था। उस समय तक मैंने मन में ठान लिया था कि जीवन में मुझे कुश्ती ही करनी है, यही मेरा जीवन ध्येय बन चुका था परन्तु उसमें भी मेरे प्रथम गुरु पिताश्री की प्रेरणा से मुझे स्नातक की पढ़ाई करनी पड़ रही थी। उसी समय शौकिया कुश्तीगिरी

से पेशेवर कुश्ती करने का विचार बना। बी.ए. के प्रथम वर्ष में ही मेरा ओलम्पिक के लिए चयन हुआ था। तीसरे वर्ष ही जाना हुआ।

गुरु के सन्दर्भ में यह सच है कि मुझ पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा मेरे गुरु, कोच हमीदी साहब का। वे 1961 में पटियाला आए। वे ओलम्पियन थे। एक गुरु अगर अच्छा मिला तो उसकी छाप बहुत गहरी होती है। मेरी किस्मत अच्छी थी तभी मैं ग्वालियर कालिज छोड़कर एन.एस.आई. पटियाला आ गया जहां मुझे हमीदी साहब जैसे गुरु मिले। उनका मेरी कुश्ती पर ही नहीं, पूरे जीवन पर भी प्रभाव पड़ा। हमीदी साहब ने ही मेरा चुनाव किया। वे एक बार देखकर जान जाते कि आदमी में क्या गुण है। खेलने का तरीका देखा। मेरे मन में केवल कुश्ती थी। मेरे छः महीने का कोर्स था पर एक दिन की भी छुट्टी नहीं मिली। इतवार हो या दशहरे की छुट्टी हो या चोट लगी हो, कुश्ती अवश्य करता। यह उन्हें पसन्द था। एकबार डांट खानी पड़ी। उसका प्रभाव आज तक है। एक कुश्तीगिर प्रशिक्षण के लिये आए। उमर छोटी थी। एक बार कुश्ती करते समय उन्हें चोट लगी, वे बेहोश हो गए। उन्हें तुरन्त हस्पताल ले जाने को कहा गया। मैं नया था पटियाला में। मैं लेकर नहीं गया। मैं कुछ नहीं जानता था। दूसरा व्यक्ति ले गया। हमीदी साहब ने जब देखा तो पूछा 'तू उसे ले नहीं गया। यह गलत है। हो सकता है यह लड़का बड़ा होकर गोल्ड मेडल लाता देश के लिये और अब यह हो सकता है कि उसका पूरा ध्यान न रखा जाने पर उसके मां बाप उसे अब खेलने न भेजें।' डांट तो मैंने खाई पर मुझे समझ आ गया कि हमीदी साहब कितनी दूर तक की सोचते हैं। सदा देश के भले की सोचते हैं। फिर कभी मैंने ऐसी गलती आज तक नहीं की। हमीदी साहब को अंग्रेजी नहीं आती थी। उनसे उर्दू, फारसी सब मिलाकर बोलना पड़ता था।

एक बार हमीदी साहब ईरान चले गए। उनकी अनुपस्थिति में मैं आर्मी में भर्ती हो गया क्योंकि मुझे जो वेतन देने का वादा कर पटियाला बुलाया गया था वह मुझे नहीं दिया गया था। मैं नाराज था तभी आर्मी में चला गया और चुना गया तथा देहरादून ट्रेनिंग करने गया। 1963 की बात है। हमीदी साहब जब छुट्टी समाप्त होने पर ईरान से वापस आए और मेरे जाने का समाचार सुना तो वे बहुत दुःखी हुए। उनकी आंखों में आंसू तक आ गए। उन्होंने मुझसे कहा, 'भाल, मैंने तुझे इस लिये तैयार नहीं किया था।' मैंने उन्हें सारी बात बता दी। उन्होंने कहा, 'मैं तुझे पैसे दूंगा। तू आ जा। मेरे अनेक प्लैन थे तुझे ईरान ले जाना था, ओलम्पिक ले जाना था।' अन्त में मैं देहरादून से त्यागपत्र देकर फिर आ गया। खैर उन्होंने अपनी सभी आशाएं पूरी की। मैं सभी जगह गया, ट्रेनिंग ली। हमीदी साहब ने जो ट्रेनिंग दी थी वह बातें किताबों में नहीं मिलती थी। 1964 में वालीबाल की टीम ईरान से आई थी। उनकी महिलाओं की टीम की कप्तान से उनकी शादी हुई—वहीं मुलाकात हुई और शादी हुई। बाद में मैं उनके परिवार का एक सदस्य बन कर वहां रहा। शायद 24 घण्टों में से 18 घण्टे मैं उनके घर पर रहता। जब उनका बेटा पैदा

हुआ तो बहुत बार उसे मेरे पास ही छोड़कर वे दोनों दिल्ली वगैरह चले जाते थे। जो कहते हैं न कि शागिर्द को उस्ताद के कपड़े भी धोने चाहिए सो उसी तरह मैं उनके साथ रहता और वे भी मुझे सिखाते रहते। सिर्फ कुरती के दावपेंच नहीं गुरु के घर रहकर मुझे इतना मिला कि उन्होंने बताया जीवन में अच्छे कौन से आदमी हैं, बुरे कौन हैं। देश के लिये क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए यह सब वे ही बताते रहे। हमीदी साहब का प्रभाव मुझ पर इतना पड़ा कि लोग कहते आपकी चाल, आपका बोलना भी हमीदी साहब जैसा हो गया। उन्होंने जो मेरे सिर पर हाथ रखा उसका पूरा असर मुझ पर पड़ा। वे जब यहां से चले भी गये तो भी मैं उन्हें भूल नहीं पाया। द्रोणाचार्य पुरस्कार मिलते ही सबसे पहले मुझे उन्हीं की याद आई। वे अभी भी रेस्लिंग के साथ जुड़े हुए हैं। दूर रहते हुए भी उनके साथ मेरा सम्पर्क बना रहा। जो उनसे सीखा, आगे मैं दूसरों को सिखाता रहा— उसी का परिणाम था 1961 से 1985 तक सारे अर्जुन अवार्ड आदि पाने वाले मेरे ही शागिर्द रहे। मेरे से प्रशिक्षण लिया। कोचिंग में जो करता हूं उस में हमीदी साहब को सारा श्रेय है। हमीदी साहब ने मुझे ईरान बुलाया। मैं वहां जाकर उनके परिवार में रहा। बहुत प्यार दिया पूरे परिवार ने। इस बारे में मैं एक बात बताना चाहता हूं। एक बार अमेरिका में मुझे एक महिला मिली—वह बड़ा अजीब इत्फाक था। मैं एक चिड़्डी पोस्ट करने जा रहा था। लाल लाइट जल गई तो मैं रास्ता पार करने के लिए खड़ा हो गया। इतने में एक महिला मेरे पास आकर खड़ी हो गई। मैंने वैसे ही उनकी तरफ देखा। मुझे उनकी आंखें हमीदी साहब जैसी लगी। मैंने हिम्मत करके पूछ लिया 'एक्सक्यूज मी डू यू नो इंग्लिश।' उन्होंने कहा 'नो' मैंने उनका नाम लेकर ही पूछ लिया कि वे वही हैं या नहीं। उन्हें बड़ा अचम्भा हुआ। मेरा परिचय जानकर वे बहुत खुश हुईं, अपने बच्चों की तरह मुझे प्यार किया, पर्स में से हमीदी साहब का खत निकाल कर दिखाया कि उन्होंने मेरे बारे में लिखा है। यह आत्मीयता इसी कारण सम्भव थी क्योंकि मेरे उस्ताद ने मुझे अपने घर का सदस्य ही बनाया हुआ था।

दस साल हो गए आज मुझे रिटायर हुए पर आज भी मैं अपने गुरुजनों को याद करता हूं, अपने जीवन में उनकी देन को आज भी मानता हूं।



लेखक—परिचय

महाभारत के गुरु द्रोणाचार्य अपने अद्वितीय धनुर्धर शिष्य अर्जुन के कारण जहां समादृत तथा सम्मानित हुए वहीं अज्ञात कुलशील एकलव्य के प्रति अपने व्यवहार के कारण समालोचित तथा विवादित रहे। आज के द्रोणाचार्य तो नहीं, प्रथम द्रोणाचार्य पुरस्कार से सम्मानित श्री भाल भागवत ने अनेकानेक अर्जुनों

को तो प्रशिक्षित किया, सम्मानित, समादृत भी हुए किन्तु अपने जीवन में किसी एकलव्य की छाया नहीं पड़ने दी। उन्हें यह 'द्रोणाचार्य' पुरस्कार सन् 1985 को प्रदान किया गया।

जिनका पूरा नाम भाल भास्कर चन्द्र भागवत है और जो भाल भागवत के नाम से ही प्रसिद्ध हैं, का जन्म 1931 में महाराष्ट्र के सुप्रसिद्ध नगर पूना में एक जाने माने कुश्तीगिर एवं देशभक्त पिता श्री भास्कर विष्णु भागवत और माता श्रीमती सुशीला भागवत के घर पर हुआ। पूना में ही उनकी प्रारम्भिक शिक्षा हुई तथा वहीं से उन्होंने कला संकाय से स्नातक की उपाधि प्राप्त की। शिक्षा के सन्दर्भ में उल्लेखनीय है कि उन्होंने बम्बई विश्वविद्यालय से फिजिकल एजुकेशन में स्नातकोत्तर डिप्लोमा प्राप्त किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने राष्ट्रीय तथा अन्तरराष्ट्रीय संस्थानों से प्रशिक्षण के अनेक डिप्लोमा प्राप्त किए। उनका विवरण इस भाँति है— नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ स्पोर्ट्स, पटियाला से कोचिंग डिप्लोमा (रेसलिंग) 1961, इन्टरनेशनल रेफरी— जज (रेसलिंग) टोकियो ओलम्पिक्स, 1964, कोचिंग डिप्लोमा (रेसलिंग) तेहरान, ईरान, 1967, विशेष सम्मान सहित डिप्लोमा कोचिंग (रेसलिंग) जर्मन कालिज फार फिजिकल एजुकेशन, लीपजिग जर्मनी, 1972, फिला डिप्लोमा (इन्टरनेशनल कोर्स फॉर रेसलिंग कोचिंग्स) पेरिस, फ्रान्स, 1985 तथा ओलम्पिक सोलिडरिटी कोर्स फिला।

कुश्तीगिर पिता के पुत्र भाल भागवत को शैशव से ही पिता से कुश्ती का प्रशिक्षण, उत्साह तथा प्रेरणा—सब कुछ मिलता रहा। अन्य प्रशिक्षक भी मिले और साथ में रहा भागवत जी का दृढ़ संकल्प, अटूट आत्मविश्वास, अदम्य उत्साह, सतत अभ्यास और निष्ठा जिन्होंने कस्बों में कुश्ती करने से जीवन को प्रारम्भ कर उन्हें ओलम्पिक तक पहुँचा दिया। वस्तुतः भागवत जी का जीवन मुख्यतया दो धाराओं में विभक्त है— कुश्ती करने वाला तथा प्रशिक्षक रूप।

कुश्ती लड़ने में उनकी उल्लेखनीय व्यक्तिगत उपलब्धियाँ हैं— चार बार पूना यूनिवर्सिटी रेसलिंग चैम्पियन, अखिल भारतीय अन्तर्विश्वविद्यालय चैम्पियनशिप में चार बार भागीदारी (रजत मेडल) नेशनल रेसलिंग चैम्पियनशिप में तीन बार भागीदारी (रजत); हेलसिंकी ओलम्पिक्स 1952 तथा वर्ल्ड स्पोर्ट्स फेस्टिवल, वारसा, पोलैण्ड में भागीदारी।

प्रशिक्षक रूप में उल्लेखनीय है कि आपने पूना विश्वविद्यालय में 1958 से 1961 तक पंजाब (1969), पंजाबी विश्वविद्यालय (1970) और एसोसिएशन आफ इण्डियन यूनिवर्सिटीज (1973, 1977 एवं 1981) तथा महाराष्ट्र राज्य में रेसलिंग टीमों को प्रशिक्षण प्रदान किया।

भाल भागवत के प्रशिक्षण देने के महत्वपूर्ण परिणाम सामने आए। उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय टीम को तीस से अधिक बार प्रशिक्षण दिया जिनमें उल्लेखनीय हैं— ओलम्पिक गेम्स मास्को (1980) (4, 5, 6 स्थान) लास एंजल्स (4, 5, 6 स्थान), वर्ल्ड

सिनीयर्स चैम्पियनशिप (1978, 1981, 1983), वर्ल्ड जूनियर चैम्पियनशिप— दो बार (कांस्य पदक), वर्ल्ड चैम्पियनशिप फॉर स्कूल बायज—पांच बार (15 स्वर्ण, 18 रजत, 7 कांस्य), वर्ल्ड चैम्पियनशिप—स्पोर्ट्स (एक रजत), वर्ल्ड यूनिवर्सिटीज समर गेम्स 1973 (एक कांस्य, चौथा और छठा स्थान) (1977 तथा 1981), एशियन गेम्स—1966, 1974, 1978, 1982 तथा 1986 (चार स्वर्ण, तीन रजत तथा तेरह कांस्य), एशियन चैम्पियनशिप फार सीनियर्स एण्ड जूनियर्स—1979, 1981, 1983 तथा 1985 (तीन स्वर्ण, उन्नीस रजत तथा बीस कांस्य), कॉमनवेल्थ गेम्स—1962, 1974, 1978, 1982, 1986 (ग्यारह स्वर्ण, तेरह रजत तथा पाँच कांस्य), कॉमनवेल्थ चैम्पियनशिप 1985 (दो स्वर्ण, दो रजत, चार कांस्य)। इनके अतिरिक्त भारत—यू.एस.एस.आर., भारत—श्रीलंका, मंगोलिया, अफगानिस्तान, अलेक्जेंडर मेडवेल टूर्नामेन्ट, मिंस्क, भारत—पाकिस्तान आदि के अन्तरराष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में भी आप प्रशिक्षक रहे।

आप नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑफ स्पोर्ट्स जो 'द स्पोर्ट्स आथोरिटी आफ इण्डिया', मिनिस्ट्री ऑफ स्पोर्ट्स, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया के अन्तर्गत है, में चीफ कोच के रूप में कार्य कर चुके हैं। यह संस्था अण्डर ग्रेजुएट तथा ग्रेजुएट लेबल की डिप्लोमा प्रदान करती है।

भाल भागवत को ओलम्पिक्स गेम्स—टोकियो में मेक्सिको तथा म्यूनिरव; नई दिल्ली में वर्ल्ड चैम्पियनशिप, भारत तथा विदेशों में अन्तरराष्ट्रीय प्रतियोगिताओं में 8 बार, नेशनल चैम्पियनशिप में 16 बार तथा अनेक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय चैम्पियनशिप में आफिसियेट करने का भी अनुभव प्राप्त है। इनके अतिरिक्त रेसलिंग फेडरेशन आफ इण्डिया के 1977—1988 में चीफ नेशनल कोच रहे तो एशियन गेम्स नई दिल्ली, 1982 के टेक्निकल कमिटी के चेयरमैन, एशियन जूनियर्स रेसलिंग चैम्पियनशिप 1981 के रेकार्ड कमेटी के चेयरमैन, सीनियर रेसलिंग चैम्पियनशिप 1979 के चेयरमैन, नेशनल रेसलिंग फेस्टीवल, 1976 के टेक्निकल डायरेक्टर तथा वर्ल्ड रेसलिंग चैम्पियनशिप, नई दिल्ली 1967 के टेक्निकल एड कमेटी के सदस्य भी रह चुके हैं।

उनकी प्रकाशित सामग्री में रेसलिंग फेडरेशन आफ इण्डिया, 1978, द्वारा प्रकाशित "Connotations on International Wrestling Rules" तथा Wrestling-Indian and International, एक स्पेशल पेपर 1977 के अतिरिक्त National Institute of Sports, India के N.I.S. Journal में उनके बहुत से लेख प्रकाशित हैं। वे यूनाइटेड स्टेट्स के स्थायीवासी हैं।



पण्डित चुन्नीलाल 'सूदन' -मेरे गुरु

डा० कृष्ण लाल शर्मा 'सूदन'

पण्डित चुन्नीलाल 'सूदन' शास्त्री विद्याभूषण मेरे पूज्य पिताश्री और श्रद्धेय गुरु थे। उनके निर्देशों, आदेशों, सन्देशों से मेरे जीवन का पथ प्रशस्त हुआ। उनके प्रेरक आदर्शों से जीवन प्रसंगों को उत्साह वर्धक सम्बल मिला, उनके शुभ आशीर्वाद से देश-काल के सन्दर्भों से जुड़कर मुझे सार्थकता एवं सफलता के सोपान मिले, सृष्टि को समझने के लिए एक आन्तरिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि मिली। वस्तुतः वेदोक्त मन्त्र 'पितृ देवो भव' मेरे जीवन में चरितार्थ हुआ है। कहा गया है कि माता-पिता के गुणसूत्र, आनुवंशिकी जीवाणु-सोपान के ताने-बाने निर्मापक सूत्र-तन्तुओं को अपने भीतर आत्मसात् किये रहते हैं जो सन्तति के जीवन-क्रम में यथासमय संसाधनों के आलोक में विकसित होकर खुलते चले जाते हैं। इस दृष्टि से यदि पुत्र को पिता की भावी परछाई या प्रतिबिम्ब कहा जाए तो उपयुक्त ही होगा। पिता यदि आत्म-साक्षात्कार की चेतना से सम्बद्ध होगा तो गुरु रूप में अपने जीवन-मूल्यों, आदर्शों, उद्देश्यों की धरोहर को भावी सन्तति में सम्प्रेषित करने में भी सक्षम होगा। अतः यह मेरा सौभाग्य है कि पिता और गुरु मुझे एक साथ, एक शरीर, एक रूप में मिले।

मेरी शैशव-अवस्था में ही पिताश्री मेरी बाल सुलभ कल्पनाओं में नायकत्व पद पर प्रतिष्ठित हो गये थे। वे शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण कर लाहौर में तत्कालीन शिक्षा मन्त्री सर मनोहर लाल के भारतीय विद्याओं के निजी सलाहकार थे। द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ में ही पण्डित जी ने लाहौर से सरगोधा सनातन धर्म सभा के मन्दिर में स्थानान्तरण कर लिया। उनके ओजस्वी व्यक्तित्व में ऐसा आकर्षण था कि सत्संगी सज्जनों में वे अत्यन्त लोकप्रिय हो गए तथा संस्कृत पाठशाला में संस्कृत पढ़ने के इच्छुक विद्यार्थी भी एकत्रित होने लगे।

पिताश्री की प्रेरणा से इन दिनों मैं ब्राह्म मुहूर्त में नियमित रूप से जागने लगा था। इस का शुभ प्रभाव मेरे पाठ्यक्रम में पड़ा। एक तो मेरे में निशाचरी प्रवृत्ति का समापन हुआ, दूसरे प्रभातकालीन नभचारियों में मेरी गिनती होने लगी। एक संस्कृत श्लोक की पंक्तियों ने भी मुझे उद्बुद्ध किया जिसे पिताजी गुणगुनाया करते थे 'सुखार्थिनः कुतो विद्या विद्यार्थिनः कुतो सुखम्।' अतः घर में एक ऐसा वातावरण बन गया था जिसमें अध्ययनशीलता के साथ साथ प्रातःकालीन जागरण स्वतः गुरु कृपा से उपलब्ध हो गया। अब मुझे समयाभाव नहीं खलता था। मेरे पास पठन-पाठन, आमोद-प्रमोद, खेलने कूदने

का पर्याप्त समय रहता था। कक्षाओं में अच्छे अंक पाकर मनोबल तथा उत्साह-संचार एवं स्फूर्ति सदा बने रहते थे। आनन्द, विशेषकर विद्यानन्द प्राप्ति का चाव मन में कुलांचे मारने लगा था। यहीं से काव्यानन्द का सूत्रपात हुआ। कविताएं लिखने की रुचि जागृत हुई। रस-विभोर होने पर ग्राह्यता, साहित्यिक सहृदयता और भाव साहचर्य के प्रति संवेदनशीलता भी बढ़ने लगी थी।

प्राइमरी शिक्षा में गांव के मौलवी अध्यापकों के संकीर्ण और विषमतापूर्ण व्यवहार से पढ़ाई में वितृष्णा ही हाथ लगी। वे दीनी शिक्षा तक ही सीमित थे फिर भी पिताश्री के संस्कृत-विद्वान् के रूप में फैली ख्याति तथा पंजाब के शिक्षा मन्त्री से सम्पर्क के कारण क्षेत्र के निवासी उन पर गर्व भी करते थे और ईर्ष्या भी। वस्तुतः मेरा अध्ययन तभी आगे बढ़ता था जब पिताजी अवकाश में गांव आते थे। गांव के हिन्दू परिवार के बच्चे देवनागरी लिपि सीखने पिताजी के पास आते थे। गांव के शिया समुदाय के लोग भी उनका बहुत सम्मान करते थे।

चौथी कक्षा उत्तीर्ण करते ही मैं लाहोर के सनातन धर्म हाई स्कूल में प्रविष्ट हुआ। मैंने पाया कि पिताश्री में अध्ययनशीलता, विजिज्ञासा, स्वावलम्बन और प्रगति करने का अदम्य उत्साह कूट कूट कर भरा हुआ था। पिताश्री प्रातःकाल सन्ध्या-वन्दन के बाद से स्वाध्याय में जुट जाते। ग्रीष्मावकाश में जब सर मनोहर लाल के परिजन शिमला पहुंचते तो वहां भी पिताश्री को अपने अध्ययन में दत्तचित्त देखा। स्वाध्याय की इतनी पिपासा कि खाने पीने की सुध भी न रहती। पिताजी ने मुझे भी 'स्वाध्यायात् मा प्रमद' का उपदेश दिया। वे मुझे बालसखा, सरस्वती आदि पत्रिकाओं को पढ़ने के लिए प्रेरित करते। नियमित अध्ययन द्वारा स्वतः ही मेरी परीक्षाएं अच्छे अंकों में उत्तीर्ण होती गईं। सारस्वत ब्राह्मणों के लिए विद्यादेवी सरस्वती की आराधना सम्भवतः कुल परम्परा की चेतना के अनुकूल थी।

बाल्यकाल की धुंधली स्मृतियों में मुझे वह दिन याद है जब उपनयन संस्कार कराते समय मेरे पिताश्री ने मेरे कर्ण-कुहर में फूंक मारी और प्रणवोपासना पर जोर देकर कहा, 'आज से मैं तुम्हारा गुरु हूं।' तब से पिता के दायित्व के साथ गुरु का दायित्व भी उन्होंने सम्भाला और मेरी शिक्षा-दीक्षा पर स्कूली शिक्षा से हटकर विशेष ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया।

प्राचीन काल में विद्याध्ययन के लिए विद्यार्थी को गुरु के आश्रम में जाना पड़ता था। कुलपति ही कुलगुरु होता था परन्तु मेरे लिए तो कुलगुरु ही विद्यागुरु पद पर आसीन रहे हैं। पूज्य पिताश्री को गुरुरूप में पाकर गुरुकुल परम्परा और आनुवंशिकी परम्परा मुझे सुलभ थी। मुझे न तो गुरु की खोज करनी पड़ी और न ही कड़े अनुशासन का पालन करना पड़ा। जो कुछ हुआ इतना सहज और स्वाभाविक हुआ कि कठिनाइयों

का पता ही नहीं चला।

जिन दिनों मैं हाई स्कूल का छात्र था, प्रतियोगिताओं में भाग लेते हुए सोचने समझने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई थी। मेरे पिताश्री के गौरवर्ण, तेजस्वी रूप, पौरुष सम्पन्न आकार-प्रकार, अत्यन्त प्रभावशाली व्यक्तित्व के साथ उनका भाषा पर अधिकार था, ओजस्वी वाणी थी और प्रांजल एवं परिष्कृत उच्चारण था। अतः उनका प्रवचन सुनते हुए श्रोताओं के साथ मैं भी रसाप्लावित हो जाता था और आनन्दानुभूति की सरसरी शरीर में व्याप्त हो जाती थी।

देश विभाजन के परिणाम स्वरूप हम सदा के लिए सहारनपुर आ गए। यह समय परिवार के लिए अत्यन्त कष्टकर था। उखड़े हुए लोगों को पुनः संघर्ष करके सब कुछ नए सिरे से बनाना- करना था। पिताश्री शीघ्र ही यहां भी प्रतिष्ठित तथा प्रख्यात हो गए। मेरी शिक्षा चलती रही। एस.डी. इण्टर कालिज सहारनपुर से इण्टर परीक्षा उत्तीर्ण कर मैंने डी.ए.वी. कालिज जालन्धर में स्नातक कक्षा में प्रवेश लिया। पिताश्री ने कठिन परिस्थितियों में भी व्यय भार उठाया। सहारनपुर में कालिज न होने के कारण स्नातकोत्तर पढ़ाई के लिए मेरठ कालिज मेरठ में मैंने प्रवेश लिया। पिताजी अपनी आय से संस्कृत अध्ययन के लिए सहायता प्रदान करने को प्रस्तुत थे, मेरे इच्छित अंग्रेजी अध्ययन के लिए नहीं। उनकी संस्कृत-प्रीति के कारण मैं संस्कृत अध्ययन के लिए प्रवृत्त हुआ।

उन दिनों मेरठ कालिज में डा० धर्मन्द्रनाथ शास्त्री संस्कृत के विभागाध्यक्ष थे। वे संस्कृत के लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् थे। उनके सान्निध्य में दर्शनशास्त्र के वर्षों से अछूते विषय को विकल्प के रूप में लेकर स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण की। डा० शास्त्री जी ने ही पीएच.डी. के लिए एक अन्य अछूते विषय को चुनौती के रूप में रखा जिससे छात्र बचते आ रहे थे। विषय था 'वैदिक साहित्य में शकुन।' गुरुश्री पिताजी से परामर्श किया गया। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक अनुमति दे दी। विषय डा० शिवराज शास्त्री जी के निर्देशन में पंजीकृत हुआ। पिताश्री के आशीर्वाद से पंजाब सरकार द्वारा स्थापित कालेजों में नियुक्ति मिली। स्थानान्तरण भी एक सुरम्य एकान्त पर्वतीय स्थान धर्मशाला में हो गया। शोधकार्य सम्पन्न हो जाने पर पिताश्री भी धर्मशाला आ गए। उनके साथ सघन चर्चा में गुरुश्री के अगाध वैदिक ज्ञान और प्रकाण्ड विद्वत्ता का परिचय मिला। उनकी सूक्ष्म सूझबूझ और नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से परिचित होने का अवसर मिला। मुझे अपने दृष्टिदोष, आग्रह, अवधारणाएं भी उनके अकाट्य तर्कों के सामने छोड़नी पड़ी। कई अध्यायों का पुनर्लेखन तथा अन्तरण हुआ और अन्त में गुरुश्री की स्वीकृति मिलने पर ही मैंने शोध-प्रबन्ध विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया।

मेरे गुरुश्री की इच्छाशक्ति अत्यन्त प्रबल, सशक्त एवं सुदृढ़ थी। उनकी इच्छाशक्ति मन्त्र संशोधित एवं तपःपूत थी। उन्होंने जीवन में जो कुछ मन में धर लिया

उसे परिपूर्णता के आयाम दिए। संकल्प को पूरा करना वे व्रत की पूर्णता के समान समझते थे। उनके मुखारविन्द से निकला एक भी शब्द हमने कभी निरर्थक होते न सुना ना ही वह सत्यापित हुए बिना कभी रहा। वस्तुतः उनका वाक्य मेरे लिए वेद वाक्य से कम नहीं था। वे निरन्तर अपनी दिनचर्या की प्राप्ति को संक्षेप में रात्रि में शयन से पूर्व दैनन्दिनी में उतार लेते थे। उनका विशाल रचना भण्डार है यथा 'हिन्दू नित्य कृत्य', 'श्रद्धा सुमन', 'श्रीराम सन्देश', 'भारतीय सन्ध्योपासना', 'शाकम्भरी स्तोत्र', 'शाकम्भरी चमत्कार', 'हिन्दू धर्म के दस अंग', 'षोडश संस्कार',। उनकी संस्कृत रचनाओं में 'हुतात्मा भक्तसिंह चरितम्' तथा 'कश्मीरविहरणम्' आदि हैं।

जीवन भर मेरे गुरुप्रवर चुन्नीलाल 'सूदन' जी लोक कल्याण के कार्यों में लगे रहे। भले ही वे नगर में हों या गांव में, वे धर्म को जीवन-धारण के अर्थों में ग्रहण कर मानवीय जीवन-गति को प्राकृतिक नियमों के अनुरूप सन्तुलित करने के लिए प्रयासरत रहे क्योंकि जीवनगति या प्रगति जब तक नियन्त्रित एवं सन्तुलित नहीं होती तब तक जीवन की गाड़ी के उलटने की सम्भावना बनी रहती है। वस्तुतः मेरे गुरु पूज्य पिताश्री धार्मिक व्यक्ति थे। वे धर्म को ही जीवन को द्वैत भाव एवं ममत्व से मुक्त कर अभेद अवस्था तक पहुंचाने का एकमात्र साधन मानते थे। उनका विश्वास था कि धर्म ही भारतीय संस्कृति का मूल उत्स है जिससे आध्यात्मिक भाव में भारतीय संस्कृति परिनिष्ठित हो सकी।

ऐसे पिताश्री को गुरुवर के रूप में प्राप्त कर मैं धन्य हो गया।



लेखक परिचय

संस्कृत के प्रख्यात विद्वान् पण्डितप्रवर चुन्नीलाल 'सूदन' जी के सुयोग्य पुत्र डा० कृष्णलाल शर्मा 'सूदन' जी का जन्म सरगोधा (पाकिस्तान) के एक मुस्लिम बहुल गांव में 24 मार्च 1932 को हुआ। देश विभाजन के उपरान्त अन्य अनेक सरगोधावासियों के साथ वे भी अपने परिवार के साथ विस्थापित होकर सहारनपुर आ गए। माध्यमिक शिक्षा पाकिस्तान में सम्पन्न

होने पर उन्होंने सहारनपुर से इन्टर, जालन्धर से संस्कृत आनर्स सहित बी.ए. तथा मेरठ कालिज, मेरठ से संस्कृत में एम.ए. की परीक्षाएं उत्तीर्ण की। पंजाबी, उर्दू तथा पर्सियन में बी.ए.स्तर की परीक्षाएं भी पास की। कालान्तर में पंजाब विश्वविद्यालय से हिन्दी एम.ए. की परीक्षा भी आपने उत्तीर्ण की। 'वेदों में शकुन' जैसे अनछुए विषय पर आपने पीएच. डी. की उपाधि भी प्राप्त की। अध्ययनशील आपने जर्मन और रशियन में क्रमशः सर्टिफिकेट कोर्स किया तथा डिप्लोमा प्राप्त किया। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा

व्यवस्थित 'Lexicography Courses' भी केरल विश्वविद्यालय त्रिवेन्द्रम से किया।

सहारनपुर के बी.डी. बाजोरिया इन्टर कालिज से सन् 1955 में अध्यापन प्रारम्भ करने वाले सूदन जी सिरसा तथा चण्डीगढ़ के कालिजों में कुछ समय अध्यापन करने के उपरान्त सरकारी सेवा में चले गए तथा 1960 से 1981 तक नारनौल, धर्मशाला, लुधियाना, हमीरपुर, कपूरथला आदि अनेक स्थानों में सरकारी कालिजों में अध्यापन करते रहे। 1982 से 1992 तक आप गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर में संस्कृत विभाग के संस्थापक अध्यक्ष के रूप में कार्यरत रहे। उसी विश्वविद्यालय में आप लगभग दस वर्ष तक Guru Nanak Studies विभाग में रीडर के पद तथा संस्कृत विभाग में प्रोफेसर पद पर रह चुके हैं। आप ने अन्य अनेक दायित्वपूर्ण तथा सम्मानित पदों को भी शोभित किया है जिनमें उल्लेखनीय है संस्कृत विभाग और गुरु नानक स्टडीज विभाग का चेयरमैन का पद; रिसर्च डिग्री बोर्ड एवं रिसर्च डिग्री कमिटी का सदस्य, सिन्डीकेट तथा सीनेट का सदस्य तथा 'जर्नल आफ सिख स्टडीज' के सम्पादक-मण्डल का सदस्य। इनके विपरीत आप संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू के सिन्डीकेट के सदस्य भी रह चुके हैं। आप संस्कृत विश्वविद्यालयों को अनुदान प्रदान करने वाले विश्वविद्यालय आयोग के टीम की सदस्यता का भार भी वहन कर चुके हैं।

कवि लेखक 'सूदन' जी का सम्पादन के क्षेत्र में भी पर्याप्त योगदान रहा है। सहारनपुर से प्रकाशित 'स्पन्दन' नामक जर्नल (हिन्दी) के आप संरक्षक तथा प्रधान सम्पादक हैं। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय की पत्रिका 'प्राच्य भारती' (संस्कृत) तथा दून स्कूल देहरादून की पत्रिका 'मोनल' के परामर्शदाता सम्पादक का दायित्व भी आप पर है।

विद्वान् शोधकर्ता, गवेषक सूदन जी की लेखनी हिन्दी, पंजाबी, संस्कृत तथा अंग्रेजी में समान रूप से गतिशील है। आपकी रचित हिन्दी पुस्तकों में कतिपय के नाम हैं—संस्कृतिसोपान, काव्यकला की रूपरेखा, स्पन्दन (काव्यसंकलन), स्फुरण (काव्यसंकलन), इन्द्रधनुष (काव्य-नाटक), मानसमन्थन (काव्य-नाटक), लेखमाला (लेख-संकलन) हिमालय में अभियान। संसर्ग, दीपशिखा, संवादीस्वर, संवत्सर और मन्वन्तर-शृंखला आदि अप्रकाशित रचनाएं हैं। उनकी संस्कृत रचनाओं में उल्लेखनीय हैं—नीहारिका, कश्मीरविहरणम् (सम्पादित), भगतसिंह-चरितामृतम् (सहलेखन), चिन्तन एवं मन्थनम्, संस्कृतिः, स्पन्दनम्, संस्तरणी, 'वैदिक साहित्य में शकुन एवं अद्भुत घटनाएं, आदि। फुरणे, वाणी-विलास, गुरमहिमा-रत्नावली, गुरु अमरदास जीवन अते रचना आदि उनकी पंजाबी भाषा में निबद्ध रचनाएं हैं। Saplings; Linguistic Heritage of Punjab और Cultural Heritage of Panjab उनकी अंग्रेजी में लिखित पुस्तकें हैं।

डाक्टर 'सूदन' ने लगभग दस वर्षों तक गुरु नानक स्टडीज में शोधकार्य किया तथा वहाँ शोध-प्रकाशन और जर्नल आदि का सम्पादन किया। इसके अतिरिक्त उनके

निर्देशन में 10 पीएच.डी., 30 एम.फिल्. तथा 5 एम.ए. के शोधार्थियों ने शोधकार्य पर उपाधि प्राप्त की है। उन्होंने गुरु नानक स्टडीज के डिप्लोमा कोर्स में 'गुरुबानी व्याकरण' तथा लुधियाना में एम.ए. हिन्दी का भी अध्यापन किया है।

डा० कृष्णलाल सूदन को उनके 'स्पन्दन' पुस्तक पर भाषा-विभाग, पंजाब ने 1973 में पुरस्कृत किया तो विद्यारण्य विद्वद्गोष्ठी, वारंगल (आन्ध्रप्रदेश) ने भी उन्हें सम्मानित किया। All India Lexicographical Society, Kerala University, Trivandrum द्वारा आप सम्मानित किये गए तथा उनके सेमिनार तथा कार्यशाला में भागीदारी की। गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर में संस्कृत विभाग स्थापित करने तथा संस्कृत की सेवा के कारण डी.ए.वी. कमिटी, अमृतसर ने भी आपका सम्मान किया। जालन्धर के डी.ए.वी. कालिज ने भी आपको सम्मानित किया। 'गुरुबानी-विच धर्म दा संकल्प' विषयक शोध-पत्र प्रस्तुत करने पर गुरुसिंह सभा सम्मेलन ने आपको सम्मानित किया।

1992 को सेवा निवृत्ति के उपरान्त आप अपने घर सहारनपुर में आकर रह रहे हैं तथा अध्ययन, लेखन एवं प्रकाशन में रत हैं।



मेरे आध्यात्मिक गुरु

डा० देवेन्द्र मोहन

जीवन में गुरु की परम आवश्यकता है, आवश्यकता ही नहीं अनिवार्यता है। गुरु के मार्गदर्शन से ही हम अपने लक्ष्य तक पहुँचते हैं। गुरु-रूप में सर्वप्रथम शिक्षा-गुरु मिलते हैं। मुझे भी मिले। आर्य हाई स्कूल, अम्बाला शहर में मेरी प्रारम्भिक शिक्षा हुई। उस समय शिक्षक बहुत सख्ती किया करते थे शिष्यों को शिक्षित करने के लिए, उन्हें अनुशासित करने के लिए। मेरे शिक्षकों ने भी की परन्तु उसे मैंने तथा मेरे माता-पिता ने अच्छे भाव से ही ग्रहण किया। आजकल के समान वातावरण अथवा व्यवहार नहीं था कि शिक्षक ने एक थप्पड़ भी मारा तो पिता लड़ने आ गए। उन शिक्षकों के प्रति कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने सख्ती करके इन्सान बना दिया, अनुशासित कर दिया परन्तु उनमें से कोई मेरे लिए संस्मरणीय या अनुकरणीय नहीं रहे। कलकत्ता से डाक्टरी पढ़ी। सब अच्छे शिक्षक थे, सम्माननीय हैं, आदरणीय हैं परन्तु मैं उनमें भी किसी को अपना अनुकरणीय गुरु के उच्चासन पर प्रतिष्ठित नहीं कर सकता हूँ। मेरे गुरु तो आध्यात्मिक गुरु ही हैं।

आध्यात्मिक गुरु प्राप्त करने से पूर्व उसकी पृष्ठभूमि अनायास ही बन गई। सम्भवतः कुछ मेरे पूर्वजन्म के संस्कार रहे होंगे और कुछ मेरे प्रयास तभी तो आर्यसमाज परिवार का तरुण मैं जब कलकत्ता डाक्टरी पढ़ने गया तो अन्य विद्यार्थियों के समान मैं भी विवेकानन्द साहित्य पढ़ने लगा, थियोसोफिकल सोसाइटी में जाने लगा। उन सबने मेरे चिन्तन को प्रभावित किया, जीवन को दिशा प्रदान कर दी। मैंने रामकृष्ण मिशन जाना प्रारम्भ कर दिया। स्वामी विवेकानन्द के साथ साथ रामकृष्ण परमहंस तथा सारदा मां की वाणी मन-मस्तिष्क में गूँजने लगी और इस भाँति मुझे जीवन के प्रथम गुरु मिले स्वामी विवेकानन्द। उनका कथन, 'Fear is death' मेरे लिए गुरु मन्त्र बन गया। उसी का प्रभाव था कि चण्डीगढ़ आकर मैं यहां के रामकृष्ण मिशन के साथ जुड़ गया और 1970 से उसकी प्रबन्ध समिति में मैं कोषाध्यक्ष का दायित्व सम्भाल रहा हूँ। यहीं पर मिले मुझे मेरे श्रद्धेय दीक्षा गुरु तथा आध्यात्मिक गुरु। पहले दीक्षा गुरु का प्रसंग लेता हूँ।

स्वामी वीरेश्वानन्द जी उस समय मिशन के अध्यक्ष थे। सन् 1974 में वे चण्डीगढ़ आए। कुछ व्यक्ति उनसे दीक्षा ले रहे थे। दीक्षा मुझे भी लेनी थी, सो मैंने भी ले ली। उन्होंने मुझे गुरु मन्त्र दिया और मैंने उसे पूरे अन्तःकरण से ग्रहण किया जिसने मेरा बहुत उपकार किया, इसमें सन्देह नहीं। गुरुमन्त्र के साथ स्वामी जी ने एक बात और कही और वह भी मेरे लिए गुरुमन्त्र ही बन गई। उनका कहना था, 'See Thakur in

every Patient' छोटी सी बात थी 'हर मरीज में ठाकुर को ही देखो।' यूं तो मैं प्रारम्भ से ही अपने मरीजों के प्रति निष्ठावान् रहा हूँ परन्तु इस उपदेश ने तो कायाकल्प ही कर दिया। तब से रोगी मेरा औपचारिक रोगी नहीं रहा, उसके लिये मेरा डाक्टर मरीज के सम्बन्ध से बाहर उससे बढ़कर एक दायित्वबोध, एक नैतिक दायित्व भी अनुभव होने लगा। इस कारण अपने सीमित दायित्व से बाहर जाकर भी मैं उनके लिये बहुत कुछ करता हूँ और वह करना मुझे बोझ नहीं लगता, बल्कि अच्छा लगता है। अभी कुछ दिन पहले मेरे पास एक मरीज स्कूटर पर अकेला आया। उसने बताया कि वह दिल का मरीज है और पन्द्रह दिन से अंग्रेजी चिकित्सा करा रहा है। अब मेरी दवाई लेना चाहता है। मैंने उसकी परीक्षा की और उसकी स्थिति अत्यन्त गम्भीर पाई। उसे मैंने तुरन्त अपने यहां लिटाया। एक नामी हार्ट स्पेशलिस्ट को काल देकर उसका परीक्षण करवाया, ई.सी. जी. करवाई और उनके परामर्शानुसार तुरन्त उसे ले जाकर अस्पताल में दाखिल करवाया। तब उसके कर्मस्थल और घर पर खबर करवाई। वह बच गया। बचाने वाले तो ठाकुर हैं परन्तु उन्होंने मुझे निमित्त बनाकर मेरे से जो कुछ करवाया वह मैंने सहजता से कर दिया। मैं प्रायः अपने गम्भीर मरीजों के लिए अपने एलोपैथिक डाक्टरों से चर्चा करता हूँ, आवश्यकता हो तो उनकी चिकित्सा के साथ साथ ही अपनी चिकित्सा चलाता हूँ। सार यह कि मरीज मात्र मेरे पेशे का साधन मरीज ही नहीं रहता, मेरा ठाकुर भी बन जाता है तभी जो कुछ भी बन पड़ता है, करता हूँ और इसके पीछे मेरे गुरु वीरेश्वानन्द जी का गुरुमन्त्र ही प्रेरक रहता है। आज मेरा निष्कर्ष बन गया है, 'More you involve the more you evolve.'

आध्यात्मिक जीवन में गुरुमन्त्र की महिमा तो असीम है ही। हां इतना अवश्य है कि गुरु मार्गदर्शक होते हैं, प्रयास हमें करना होता है। उनका कहना था, 'गुरु मात्र आपको कलकत्ता, बम्बई आदि का टिकट काटकर दे देते हैं। अब आपको स्वयं जाना है, गाड़ी में बैठना है, यात्रा करनी है और लक्ष्य तक पहुंचना है।' गुरु द्वारा दिये गए मन्त्र का निरन्तर जप करना अति आवश्यक है। मेरा मानना है कि पूरे मन से गुरु को स्वीकार करके, उनके दिए मन्त्र का निरन्तर अभ्यास करने से हमारे अन्तःकरण में बसने वाले गुरु को हम जान जाते हैं, उसे अनुभव करने लगते हैं। वास्तव में गुरु तो वही होता है। वही अन्तर्यामी हमें चलाते हैं, दिशा निर्देश करते हैं। उस मौनवाणी को सुनने, समझने की योग्यता अपने में जगानी पड़ती है और उसे जगाने के माध्यम बनते हैं हमारे बहिर्जगत् के दीक्षा गुरु जिनके द्वारा प्रदत्त मन्त्र ही सिद्धि का साधन है। मैं स्वामी शिवानन्द जी के कथन पर पूरी तरह विश्वास करता हूँ कि 'God is enclosed in a capsule' और यह कैप्सूल है गुरु मन्त्र। इस गुरु को प्राप्त करने के लिये प्रयास नहीं करना पड़ता, आप में विश्वास हो, इच्छा हो तो गुरु स्वयं मिल जाते हैं।

मेरे आध्यात्मिक गुरु तो मिशन के स्वामी शास्त्रानन्द जी ही हैं। वे ही मुझे दीक्षा—गुरु तक पहुँचाने वाले भी हैं। शास्त्रानन्द जी चण्डीगढ़ मिशन में पर्याप्त लम्बे समय तक रहे। उन्होंने यहाँ एक बच्चों का क्लब बनाया था जिसमें प्रत्येक पृष्ठभूमि से बच्चा आता था परन्तु स्वामी जी उन सभी के साथ समान व्यवहार तो करते ही थे, सभी से समान कार्य भी करवाते थे। बड़े से बड़े आदमी का बेटा जब अन्य साधारण बच्चों के साथ मिलकर अपने हाथों से काम करेगा तो सहज रूप से उसका अहं समाप्त हो जाएगा। मेरा बेटा भी वहाँ नियमित रूपेण जाता था। मैंने स्वयं अनुभव किया उस पर कितने अच्छे संस्कार पड़े, वह उनसे कितना प्रभावित और अनुप्रेरित हुआ। शास्त्रानन्द जी कहते थे, 'मैं शास्त्रानन्द नहीं, सख्तानन्द हूँ' और उनका लक्ष्य था प्रत्येक शिशु को एक सच्चा और अच्छा मानव बनाना। भजन आदि की धार्मिक पृष्ठभूमि के साथ अनुशासन, नियमों का पालन, समय की पाबन्दी उनकी शिक्षा होती थी। शास्त्रानन्द जी के उपदेश बच्चों के साथ बड़ों के लिये भी हैं। उनका समय का पाबन्द होना उपदेश ही नहीं, आचरण में भी होता था। मिशन का कोई भी समारोह हो, निर्धारित समय पर ही प्रारम्भ होता था। राज्यपाल अथवा उपराष्ट्रपति भी क्यों न मुख्य अतिथि हों, परन्तु यदि वे समय पर उपस्थित न हुए तो उनकी प्रतीक्षा किये बिना कार्यक्रम निश्चित समय पर ही प्रारम्भ हो जाया करता था। सारा कार्यक्रम पहले से सुनिश्चित होता था। वास्तव में स्वामी जी का प्रत्येक कार्य अनुशासित और मैथोडिकल होता है। उनके एक और कथन से मैं अत्यधिक प्रभावित हुआ, 'तुम स्पष्ट हों या ना कहो। कभी मत कहो कि मैं कोशिश करूँगा। यह कहना स्पष्ट करता है कि तुम अनिश्चय की स्थिति में हो।'

शास्त्रानन्द जी तो पहले दर्शन से ही मेरे प्रेरक गुरु बन गए थे परन्तु विपत्ति के समय गुरु की वास्वविक पहचान होने वाली बात मेरे साथ पूरी तरह लागू हुई। जब मेरी पत्नी का देहावसान हुआ तब उस मानसिक सन्ताप के समय मैंने शास्त्रानन्दजी को यह दुखद सूचना देते हुए बंगलौर पत्र लिखा। पत्रोत्तर मैं उन्होंने जो कुछ लिखा, उसका एक एक शब्द आज भी गुरुमन्त्र बन मेरे हृदय में अंकित है। उन्होंने लिखा, 'It is God's grace on you that he has selected you to be with him. Now he is your constant companion, guide and protector.' वास्तव में गुरुकृपा से मैं गुरु की इस वाणी पर 200% अमल कर रहा हूँ। यह अनुभव करके कि भगवान् मेरे साथी हैं, सदा मेरे साथ हैं, मैं स्वयं को कभी अकेला महसूस नहीं करता हूँ। गीता में कही कृष्ण की वाणी 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' को रोम रोम से सत्य मानने लगा हूँ। मुझे लगने लगा 'Give Power of attorney to God and become fearless.' विवेकानन्द के निर्भीक बनने के जिस कथन का प्रभाव मेरी तरुणावस्था में मुझ पर पड़ा था, गुरु के पत्र से उसने मुझे पूरी तरह ही आलोड़ित कर डाला। स्वामी जी ने कहा था, 'भगवान् से डरो नहीं, उससे प्यार करो।' मैंने भी भगवान् से प्यार करना शुरु कर दिया

और सर्वान्तःकरण से अनुभव करता हूँ कि भगवान् भी मुझे प्यार करते हैं। किसी को यह न समझना चाहिए कि मैं यह केवल कहने के लिए कह रहा हूँ। मैं एक चिकित्सक हूँ तथा चिकित्सा शास्त्र के प्रमाण के साथ अपने भय रहित होने की बात को स्पष्ट करना चाहूंगा। यह वैज्ञानिक सत्य है कि भय शून्य होने से मानव के शरीर में स्वतः ही एक जैव तत्त्व (Chemical) उत्पन्न होता है जो वास्तव में एक दर्द निवारक (pain killer) औषधि है। शरीर में उत्पन्न यह तत्त्व एण्डोर्फिन (Endorphin) कहलाता है तथा बाजार में उपलब्ध दर्दनिवारक औषधियों से 200% अधिक शक्तिशाली है। अभी पिछले वर्षों में मेरी चार शल्यक्रियाएं (Operation) हो चुकी हैं। प्रथम दो में पी.जी.आई. चण्डीगढ़ में दोनों घुटनों को काटकर अलग करके, उसमें कुछ सुधार करके फिर से जोड़ा गया था। अन्य दो मेरे ब्रेन के आपरेशन थे जो अपोलो दिल्ली में हुए थे। इन चारों काफी खतरनाक और बड़े आपरेशनों में कहना न होगा मुझे किसी भी दर्द निवारक औषधि की आवश्यकता नहीं पड़ी। पहले आपरेशन के समय मित्र चिकित्सकों ने पूछा, 'आपको डर लग रहा है?' तो मैंने उत्तर दिया, 'ठाकुर रामकृष्ण ने कहा है 'स्वयं को बिल्ली का बच्चा मानकर भगवान् के हाथों सौंप दो और निश्चिन्त हो जाओ।' सो मैंने भी स्वयं को भगवान् और इस समय उनके प्रतिनिधि आपके हाथों सौंप दिया। मुझे भय क्यों और कैसा? कहना न होगा मेरे इस दर्शन ने जहाँ उन्हें विस्मित किया वहीं आपरेशन के पश्चात् मेरे दर्दरहित रहने ने उन्हें अचम्बित भी बनाया। मेरी परवर्ती अन्य तीन शल्यक्रियाओं में भी ऐसा ही हुआ। मेरे ब्रेन सर्जरी में भी मेरी निर्भीकता तथा आपरेशन के उपरान्त तीव्र गति से स्वास्थ्य में हुए सुधार ने चिकित्सकों को अत्यधिक अचम्भे में डाल दिया। मैं स्वयं अनुभव करता हूँ कि बढ़ती आयु में भी मैं दिन प्रतिदिन अधिक निश्चिन्त तथा निर्भय होता जा रहा हूँ।

जीवन में मैंने यह अनुभव किया है कि आप अच्छा सोचें, थोड़ा सा अच्छा बनने का प्रयास करें तो आपको और भी अच्छे व्यक्तियों का, मार्गदर्शक गुरु का सम्पर्क और सान्निध्य मिलता जाएगा। यही कारण है कि 1977 से 1999 के मध्य समय समय पर मुझे अमेरिका से आए कुछ डाक्टरों के समूह के सम्पर्क में आने का अवसर और सौभाग्य मिला। वस्तुतः अमेरिका की एक संस्था Emissaries International की ही एक शाखा है Whole Health Institute, U.S.A. उक्त डाक्टर इसी आध्यात्मिक संस्था के सदस्यगण हैं। इनको भी मैं अपना गुरु स्वीकार करता हूँ कारण यह है कि इनकी विचारधारा, इनके चिन्तन को मैं न केवल प्रशंसात्मक दृष्टि से देखता हूँ वरन् उसे अनुकरणीय मानकर जीवन में अपनाता भी हूँ। वे हमें यह बताने का प्रयास करते हैं कि मानव क्या है? उनके शब्दों में ही कह रहा हूँ, 'By being (by doing) what a human being should do, he becomes a human being otherwise he is just human like any other creature in this universe.' उनकी

दृष्टि में जीवन को क्षमा, हास्य, करुणा, कृतज्ञता, सज्जनता, प्रशान्ति, स्वीकृति, अकारण स्नेह, आशा, विश्वास तथा आशावादिता के माध्यम से अभिव्यंजित करना चाहिए। साथ ही वे जीवन से ए.बी.सी. अर्थात् Accusing, Blaming तथा Criticising का परित्याग करने का निर्देश देते हैं—

The mental thought patterns that cause the most disease in the body are criticism, anger, resentment and guilt. For instance, criticism indulged in long enough will often lead to diseases such as arthritis, rheumatism. ANGER—turns into things that boil and burn and infect the body. Resentment (बदला लेने की भावना) long held— festers and eats away at the self and can lead to tumours & cancers.

उक्त डाक्टरों के समूह से भी मैंने बहुत कुछ सीखा, बहुत प्रेरणा प्राप्त की अतः वे भी मेरे गुरु हैं। ऊपर वर्णित गुरुजनों के उपदेशों, उनकी प्रेरणाप्रद विचारधारा, उनके द्वारा प्राप्त जीवन के निष्कर्ष ने मुझे बहुत प्रभावित किया, मेरे भीतर बहुत बदलाव आया। पहले मैं अपनी चिकित्सक—टेबल पर पूर्ण विश्वास के साथ अंकित करके रखता था, 'I treat He Cures.' परन्तु अब मैंने समझ लिया है कि He treats He Cures. मैं पूर्ण आत्मविश्वास से मानने लगा हूँ कि हमारे विचार, हमारे चिन्तन ही हमारा भविष्य है। हमारे विचारों से ही बहुत पहले ही हमारा भविष्य निर्धारित और निर्मित हो जाता है। ये विचार ही यदि दूषित होते हैं तो वर्तमान में रोग उत्पन्न करते हैं। क्रोध में रहने से भी इसी तरह शरीर में हानिकारक केमिकल्स पैदा होते हैं जो रोगों के कारण हैं। यदि व्यक्ति सर्वदा इस सत्य को याद रखकर अपनी भावनाओं को संयमित और संचालित करेगा तो वह कभी अस्वस्थ नहीं होगा। वस्तुतः शरीर और आत्मा का सामंजस्य स्वास्थ्य है और उनका असामंजस्य रूग्णता है। मेरे इस जीवन—दर्शन के मूल में मेरे जो गुरु हैं उनको मेरे कृतज्ञ चिन्त से नमन।

Man is the Only creature on Earth who can change his Biology by what he Thinks & Feels.

लेखक परिचय

चैतन्यमहाप्रभु के परम भक्त वैद्य मुरागुप्त के लिये प्रसिद्धि थी कि वे काय—रोग के साथ भवरोग की भी चिकित्सा करते थे। चण्डीगढ़ में प्रतिष्ठित परन्तु दूर दूर तक प्रसिद्ध होमियोपैथिक चिकित्सक डा० देवेन्द्र मोहन भी कुछ उसी भाँति शारीरिक रोगों के उपशमन के साथ अपनी आध्यात्मिकता के माध्यम से मनोरोगों



का भी उपशमन करते हैं। डा० देवेन्द्र मोहन का जन्म प्रथम अप्रैल 1932 को अम्बाला में हुआ। उनके पिता आज नब्बे वर्ष की आयु में भी होमियोपैथिक चिकित्सक रूप में सुप्रसिद्ध तथा सुप्रतिष्ठित हैं। देवेन्द्र जी के दोनों भाई भी होमियोपैथिक चिकित्सक हैं। परिवार की इसी परम्परा का पालन करते हुए देवेन्द्र जी ने कलकत्ता से 1953 में ससम्मान आनर्स के साथ स्नातक की उपाधि प्राप्त की और तदुपरान्त चण्डीगढ़ में चिकित्सा कार्य प्रारम्भ किया। 1953 में देवेन्द्र जी चण्डीगढ़ के प्रथम संस्थागत प्रशिक्षण प्राप्त होमियोपैथिक चिकित्सक बने। तब से आज तक वे अपने क्षेत्र में सुप्रतिष्ठित हैं।

डा० मोहन चिकित्सक मात्र नहीं हैं, उनकी रुचि इस क्षेत्र के शोध में भी है। इसी का परिणाम है कि उन्होंने अनेक अन्तरराष्ट्रीय होमियोपैथिक कान्फ्रेंस में योगदान किया यथा इन्टरनेशनल होमियोपैथिक कांग्रेस, लण्डन 1965, वियेना 1973, रोटटरडम 1975, मास्को 1990 में प्रतिनिधि रूप में भागीदारी की। इस चिकित्सा पद्धति के विकास के सन्दर्भ में अनेक शोध पत्र भी समय समय पर प्रस्तुत किये हैं। चिकित्सक के साथ समाज-सेवा के दायित्व का निर्वाह करते हुए आप ज़रूरतमन्द मरीजों की यथासाध्य सहायता भी करते हैं। इसी कारण उन्होंने 1964 में रोटरी क्लब की सदस्यता ग्रहण की तथा आज भी उसके सक्रिय वरिष्ठ सदस्य हैं।

आध्यात्मिकता के प्रति रुचि तथा आकर्षण के कारण डा० देवेन्द्र मोहन रामकृष्ण मिशन से लम्बे समय से घनिष्ठ रूप से जुड़े हैं तथा पिछले तीस वर्षों से उसके कोषाध्यक्ष हैं। मिशन के निःशुल्क डिस्पेन्सरी के आप पिछले 25 वर्षों से इन्चार्ज हैं।

डा० मोहन के चिकित्सा क्षेत्र की सुदीर्घ सफल सेवा के फलस्वरूप पंजाब के भूतपूर्व महामहिम राज्यपाल डा० डी. सी. तपासे ने उन्हें अपने परिवार का आधिकारिक चिकित्सक नियुक्त किया हुआ था। चिकित्सा के साथ अपने अनुसन्धान के परिणामस्वरूप आप इस चिकित्सा पद्धति की उपयोगिता को रेखांकित करते हुए अनेक लेख प्रकाशित करते रहते हैं।

फोटोग्राफी, बागवानी उनके खाली समय का शौक होने पर भी सर्वाधिक उल्लेखनीय रुचि है विविध विषयों पर व्यापक अध्ययन करना और उनकी धारणा ही नहीं विश्वास भी है कि विचारों का, चिन्तन का मानव पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। उनका चिकित्सक रूप में मूलमन्त्र है Healthy Mind in Healthy Body.

आप L.M.H.I. स्विटजरलैण्ड तथा Whole Health Institute U.S.A. के सदस्य हैं।



अनुकरणीय गुरु के प्रति श्रद्धा—प्रसून

श्री विद्यासागर चतुर्वेदी

ऐसा प्रतीत होता है कि आज का भौतिकवाद प्रत्यक्षवाद की पृष्ठभूमि पर जन्मा है जिसने अतीत के नैतिक मूल्यों की उपयोगिता की आवश्यकता को नकारना अंगीकार कर लिया है। पश्चिमी संस्कृति की ओर बढ़ती हुई दौड़ में ऐसा ही आभास मिलता है कि उसी कार्य को प्राथमिकता दी जाने लगी है जिसमें हाथों हाथ भौतिक लाभ की आशा हो, अधिक से अधिक सम्पन्नता कम से कम समय में उपलब्ध हो जाए और इसीलिए संयम, उदारता, सदाचार जैसे उच्च आदर्शों के लिए कोई स्थान ही नहीं दिखाई देता।

कुछ ऐसा समझने के लिए विवश होना पड़ता है कि कदाचित् समुचित परामर्श, दिशा—निर्देश और पर्याप्त संरक्षण न मिल पाने के कारण युवा—वर्ग में इस प्रकार की छटपटाहट व भगदड़ व्याप्त हो गई है कि अब किसी की समझ में नहीं आ रहा कि 'न जाने जाके कहां ठहरेगा यह कारवाँ अपना'। धीरे धीरे प्राचीन मूलभूत मान्यताओं एवं भारतीय सभ्यता से आज की पीढ़ी दूर से दूर होती जा रही है। यह तो ठीक है कि परिवर्तनीय परिस्थितियों में व्यक्ति में, समाज में, देश में परिवर्तन भी होना स्वाभाविक है परन्तु खलने वाली बात नैतिक मूल्यों के ह्रास की है। पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी की तुलना करते हुए एक शायर की उक्ति सटीक प्रतीत होती है :

‘पुरानी रोशनी और नई में फर्क सिर्फ इतना है।

उन्हें साहिल नहीं मिलता, इन्हें मंजिल नहीं मिलती।।’

ठहराव अंत की निकटता या अंत होता है परन्तु सभी कुछ रौंदते हुए आगे बढ़ते रहना भी तो प्रलयकारी आँधी—तूफान माना जाता है।

आज की शिक्षा—पद्धति की भी इसी प्रकार दुर्दशा हो रही है और वास्तविकता यह है कि इस पद्धति में अनेक त्रुटियाँ उत्पन्न हो जाने से युवा—वर्ग को उचित मार्ग—निर्देशन, चारित्रिक एवं नैतिक शक्ति प्राप्ति के अवसर कम मिल पाते हैं। इसमें सारा दोष अध्यापक समूह का ही नहीं है, आज का विद्यार्थी—वर्ग भी इस पतन के लिए अधिक उत्तरदायी है। देश की भ्रष्ट राजनीति और उसके कर्णधार नेताओं ने इस विद्यार्थी—समूह को ओछे प्रलोभनों द्वारा इस सीमा तक पथभ्रष्ट कर दिया है कि भागीरथी प्रयत्नों के पश्चात् भी अभी दशकों तक स्थिति सुधरते नहीं दिखाई देती। विद्यार्थियों की यूनियन और इसमें राजनीति की घुसपैठ, पढ़ने के लिए समय न मिलने देने की नेताओं की जुलूस, धिराव, धरना इत्यादि जैसी ओछी योजनाएँ, परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिए नकल

करने की प्रेरणा देना और उनके पकड़े जाने पर अध्यापकों को धमकी देना, उनका अपमान कराना और प्रशासनिक स्तर पर अपराधी विद्यार्थियों को संरक्षण प्रदान करना इत्यादि निम्न-स्तर के हथकंडों से त्रस्त होकर अध्यापक वर्ग ने भी अपने उत्तरदायित्व से मुंह मोड़ लेना ही श्रेयस्कर समझ लिया है।

शिक्षा-पद्धति जब साधना और तपस्या न होकर राजकीय सेवा बन जाती है तब शिक्षक को विद्यार्थी के हित से अधिक उसकी रुचि का ध्यान रखना होता है क्योंकि विद्यार्थी का संरक्षक कोई उच्चस्तरीय नेता, प्रशासनिक अधिकारी अथवा किसी माफिया से सम्बन्धित भी हो सकता है और आज के अधिकांश अध्यापक इस स्थिति और भविष्यत् परिणामों के प्रति सचेत हैं।

एक छोटा सा हास्यपूर्ण उदाहरण इस स्थिति को स्पष्ट करने के लिए यथेष्ट होगा 'एक बार शिक्षा-विभाग के एक उच्चाधिकारी को सरकार की ओर से आदेश हुआ कि 'इस प्रकार का प्रमाण-पत्र दें कि दो+दो चार होते हैं'। दुविधाग्रस्त, भयभीत, भ्रमित अधिकारी ने अपनी आजीविका की रक्षा हेतु प्रमाण-पत्र में लिखा 'अब तक की जानकारी के अनुसार प्रमाणित किया जाता है कि दो+दो चार होते हैं परन्तु यदि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ऐसा नहीं हुआ तो उसके लिए यह कार्यालय उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता'। कितना हास्यास्पद प्रतीत होता है कि एक शिक्षा- अधिकारी को अपने उपार्जित ज्ञान पर अविश्वास है अथवा नैतिक साहस की कमी कि कहीं सेवा से मुक्त न हो जाना पड़े।

गोस्वामी जी ने कहा है कि :

'सचिव, वैद्य, गुरु तीन जो प्रिय बोलहिं भय आस ।

राज, धर्म, तन तीन का होइ वेगहिं नास ॥'

गुरु-परम्परा का कुछ-कुछ हास महाभारत काल से ही झलकने लगता है। गुरु द्रोणाचार्य की पक्षपातपूर्ण शिक्षा पद्धति, गुरुदक्षिणा में एकलव्य जैसे धनुर्धर का अंगूठा कटवा लेना और राजा द्रुपद को परास्त करने की याचना, युद्ध में धर्म और न्याय का पक्ष न लेकर राजकीय वृत्ति का मूल्य चुकाने के लिए कौरवों का पक्ष लेना और वीर अभिमन्यु जैसे अमित पराक्रमी जिसने कौरव-पक्ष के सभी श्रेष्ठ योद्धाओं को निस्तेज कर दिया था और भयभीत कर पलायन करने के लिए विवश कर दिया था, उसका वध करने का उपाय बताते हुए कर्ण को परामर्श देना कि 'अभिमन्यु का कवच अभेद्य है और यह तरुण प्रतापी एवं शीघ्रतापूर्वक पराक्रम करने में सिद्धहस्त है। मैंने ही इसके पिता को यह कवच धारण करने की विधि बताई थी और निश्चय ही यह परम प्रतापी बालक इस विधि को जानता है। यह कवच अभेद्य है परन्तु यदि अत्यन्त कौशलपूर्वक कोई बाण चलाकर इसके धनुष और प्रत्यंचा को नष्ट कर दे तो इसका वेग रोक जा सकता है' आदि कतिपय

उदाहरण हैं।

दुर्योधन ने अत्यन्त विह्वल होकर गुरु द्रोणाचार्य से प्रार्थना की कि 'ऐसा प्रयत्न तो हमारे महारथी कर चुके हैं परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। सर्वाधिक भय यह है कि यदि कुछ ही समय में अर्जुन आ पहुँचा तो यह युद्ध आज ही समाप्त हो जावेगा और हम सभी का संहार हो जायेगा।'

कदाचित् राज्य का प्रलोभन, वृत्ति का आसरा या परोक्ष रूप में अपने अन्तर में घुमड़ती हुई अन्य भावनाओं से प्रेरित होकर गुरु ने महान् अधार्मिक, अनैतिक बनकर युद्ध-नियमों की सर्वथा अवहेलना करते हुए अपने तथाकथित परमप्रिय पुत्र से भी अधिक प्रिय शिष्य अर्जुन के प्राणों से प्रिय पुत्र अभिमन्यु का वध करने का परामर्श देते हुए कहा- 'इसके घोड़ों की बागडोर को, घोड़ों को तथा पार्श्व रक्षकों को नष्ट किया जा सकता है। कर्ण! यदि तुम समर्थ हो तो यही उपाय करो। अभिमन्यु को व्याकुल करके, सभी मिलकर सन्मुख और पीछे से इसके ऊपर प्रहार करो क्योंकि जब तक इसके हाथ में धनुष बाण रहेगा सन्मुख से युद्ध करके उसे समस्त देवता और असुर भी मिलकर आज जीत नहीं सकेंगे।'

कदाचित् गुरु के पूर्व में किये हुए क्रूर व्यवहार और इस अवसर पर किए हुए इस निकृष्ट, गुरु परम्परा के सर्वथा विपरीत व्यवहार के कारण क्रुद्ध महारथी सूर्य-पुत्र कर्ण का मौन श्राप रहा होगा कि 'यदि गुरुओं की विद्या प्रदान करने की नीव राजकीय संपत्ति पर ही टिकी रही तो प्रत्येक भावी शिष्य अपने गुरु से, एकलव्य का अंगूठा वापस मांगेगा और अपने पथभ्रष्ट होने का परिणाम न केवल गुरु अपितु राष्ट्र भी भोगेगा,' का ही परिणाम कलिकाल के प्रारम्भ से आज तक प्रकट हो रहा है।

अपने विद्यार्थी जीवन का समय स्मरण करने पर लगता है कि कुछ शिक्षक अपने कर्तव्यों के प्रति सजग थे, उनमें नैतिक साहस था और वास्तव में विद्यार्थियों का हित-चिन्तन और भविष्य सुधारने की भावना विद्यमान थी। ऐसे ही गुरुओं के संस्मरण संजोने का प्रयत्न है श्रद्धांजलि स्वरूप आख्यान।

हाई-स्कूल एवं इन्टरमीडियेट तक काशीराम हाई स्कूल और एस.डी. इन्टर कालिज, सहारनपुर से शिक्षा ग्रहण की। यों तो अनेक शिक्षक थे परन्तु सबसे अधिक प्रभावित करने वाला व्यक्तित्व था स्व० बाबू खुशीराम जी का। वे मुख्य रूप से इतिहास पढ़ाते थे। 1946-47 में भी-वंह स्वच्छ खद्दर का कुर्ता, खद्दर की धोती पहनते थे। सिर पर काली गोल टोपी, हाथ में अखबार और बाँह में झूलता हुआ छाता उनकी विशिष्टता थी। कालिज अथवा सार्वजनिक स्थान पर भी उनकी वेश-भूषा यही रहती थी। कक्षा में प्रवेश कर अपनी टोपी, रजिस्टर, अखबार टेबिल पर रख, छाता कुर्सी के हस्थे पर उलझाकर एक सरसरी निगाह से विद्यार्थियों को देखते। उनका स्थाई आदेश

था कि विद्यार्थी उनके आने से पूर्व ही कक्षा में प्रवेश कर ले और जो होम-वर्क उसे दिया जाता है यदि विद्यार्थी पूरा करके नहीं ला सका है तो अटेन्डेन्स के पश्चात् स्वयं ही उन्हें सूचित करे और सत्य कारण बता दे और अगले दिन दुगुना कार्य पूरा करके लाए। पढ़ाने का ढंग उनका इतना प्रभावी और हृदयग्राही था कि विद्यार्थियों की रुचि बनी रहे। ऐतिहासिक घटनाओं के साथ ही उस समय की सामाजिक, राजनैतिक और वंशपरम्परा का तथ्यात्मक वर्णन करते हुए विषय को रोचकता प्रदान करते थे। राजपूत राजा अपनी आन-बान और शान के लिए मरने मारने के लिए कटिबद्ध रहते थे। चाहे और किसी जाति के सरदार से कितना ही दबना स्वीकार हो परन्तु अपने देश, जाति के प्रमुख से लड़ने मरने को प्रतिक्षण प्रस्तुत थे। पृथ्वीराज का संयोगिता-हरण केवल अपनी वीरता की डींग मारना और अपमान का प्रतिशोध भर था परन्तु इसका परिणाम देश को किस रूप में देखना पड़ा, शिवाजी को राजपूत राजा सहायता नहीं दे सके इसका क्या परिणाम हुआ इत्यादि इत्यादि सभी ऐतिहासिक घटनाओं के विषय अत्यन्त रोचक ढंग से पढ़ाते थे और प्रायः हम विद्यार्थी भी आपस में अपने अपने ढंग से इन सामाजिक जातीय बुराइयों के विषय में विचार-विमर्श भी कर लिया करते थे।

मुगलों का भारत पर आक्रमण करने का कारण भी इतना तर्कपूर्वक बताते थे कि एक प्रकार से स्मरण पटल पर अंकित हो जाता था, उदाहरणार्थ मुगल सरदार अपने देश की मुखमरी और गरीबी से पीड़ित व्यक्तियों की सेना बनाते थे और उन्हें यह प्रलोभन दिया जाता था कि 'यहाँ भूखो मरोगे, घिसट घिसट कर जिओगे। हिन्दुस्तान में चलकर युद्ध करो, युद्ध में मरोगे तो शहीद कहलाओगे और जीतोगे तो जन्नत के सुख भोगोगे।' हिन्दुस्तान में आकर छोटे-छोटे राज्यों को प्रलोभन देते थे कि 'हमारे साथ मिलकर बड़े राज्य के साथ युद्ध करोगे, हम तो अपने मुल्क लौट जावेंगे, तुम अपने राज्य का विस्तार कर सकोगे।' साथ ही साथ ऐतिहासिक घटनाओं का भी समावेश करते थे जिससे विद्यार्थियों की रुचि-वृद्धि होती थी। अंग्रेजी इतिहास बहुत ही रोचक ढंग से पढ़ाते थे, लोमड़ी-सियार कैसे धोखे से चुपके से शेर-चीते इत्यादि द्वारा किए हुए शिकार का भाग हड़प करते थे, जातिवादी दैनस्य बढ़ाकर, फूट डालो और राज करो आदि ओछे सिद्धान्तों से देश को गुलाम बनाया गया, दृष्ट्यांत सहित पढ़ाते थे।

शिक्षक वर्ग भी उनके व्यक्तित्व से पर्याप्त प्रभावित था और उन्हीं के द्वारा ज्ञात हुआ कि बाबूजी ने अपने परिवार वालों को अपने विवाह की अस्वीकृति यह कहकर दी थी कि जब तक भारत स्वतन्त्र नहीं हो जाता वह विवाह नहीं करेंगे क्योंकि वह देश में गुलामों की संख्या में वृद्धि करना नहीं चाहते। 1947 में स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय उनकी अवस्था लगभग 55-56 के आस पास ही होगी।

अपने विद्यार्थियों को वह बहुत ही सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा

देते थे। कहते थे, 'पोशाक से शरीर को मत सजाओ, अपने शरीर को इतना स्वस्थ बनाओ कि हर पोशाक इस पर सजे'। सभी विद्यार्थियों को वह न केवल सूरत अपितु नाम से भी जानते थे। किसी भी विद्यार्थी के सिर के बाल अधिक लम्बे देखकर वह उसे कक्षा में आने की अनुमति तभी देते थे जब वह बाल कटवा कर आता। यदि किसी विद्यार्थी को सिगरेट पीते, पान खाते अथवा गाली देते सुन लेते तो अगले दिन उसे कक्षा में दण्ड अवश्य मिलता था और दण्ड भी देखने में साधारण परन्तु कुष्टप्रद। अपनी टेबिल के पास बुलाकर उकड़ूँ बैठा देते थे, 10-12 मिनट में ही विद्यार्थी क्षमा-याचना स्वरूप रो पड़ता था और वह द्रवित हो उसे अपनी सीट पर जाने की अनुमति यह कहकर दे देते थे कि 'देख....(विद्यार्थी का नाम) के घोड़े, आज का तुम्हारा अपराध आँसुओं में धुल गया, अब थूक कर उसे चाटना मत'।

मेरे ऊपर उनका कुछ अधिक वात्सल्य-स्नेह था। घर से कालिज साढ़े तीन मील के लगभग था, आना-जाना, फिर खेलने आना-जाना, करीब 14-15 मील नित्यप्रति साइकिल का ही साधन था। चाहे और किसी कक्षा का होम-वर्क रह जावे परन्तु उनकी कक्षा में दिया हुआ कार्य कभी अपूर्ण नहीं रहता था। इतिहास की रोचक घटनाएं सुनने से रुचि भी पर्याप्त जाग्रत हो गई थी। मुझे याद आ रहा है कि एक बार मुगलों और शिवाजी के युद्ध का उत्तर मैंने उनकी ही शैली में लिखा था। पढ़कर मुस्कराये और बोले 'ओए..... सागर के घोड़े, जरा पढ़कर सुनाओ क्या लिखा है?' मैं घबड़ाया कि आज टेबिल के पास उकड़ूँ बैठना पड़ेगा। कापी उठाई और डरते डरते पढ़ना शुरू किया। साथ ही साथ गुरुजी की ओर भी देखता जाता था कि प्रतिक्रिया कैसी हो रही है। देखा कि बाबूजी एक हाथ से 'टेबिल पर चॉक लुढ़का रहे हैं, दूसरे हाथ से अपने सिर की मालिश कर रहे और मुस्करा रहे हैं। उत्तर सुनकर बोले 'आने के वक्त घबड़ा क्यों रहे थे? अच्छा या बुरा जैसा भी कर चुके हो, वह हो चुका, परिणाम भुगतने के लिए हमेशा साहस रखो। तुमने अच्छा लिखा। ऐतिहासिक घटनाओं का रोचक शब्दों में समावेश अधिक रुचिकर होता है। तुम्हारे बच्चे जब यह पढ़ेंगे तो बहुत खुश होंगे कि गुलाम देश में भी इतने साहस पूर्वक लिखने की चेष्टा की।'।

उनकी एक अन्य शिक्षा से मैं सबसे अधिक लाभान्वित हुआ, अनुभव करता हूँ। यद्यपि सेवा-काल में इस स्वभाव ने अनेक बार कष्ट भी पर्याप्त दिए परन्तु फिर भी आत्मिक सुख सदैव प्राप्त हुआ। वह कहते थे कि 'यदि कोई अपराध हो भी गया है तो दण्ड के भयवश असत्य मत बताओ, ऐसा करने से असत्य भाषण का स्वभाव बढ़ेगा और अपराध द्वारा क्या अपना अथवा दूसरे का अहित संभावित था यह नहीं जान सकोगे और जब कभी न कभी उसके लिए आत्मा उलाहना देगी तो कष्ट अनुभव करोगे। त्रुटियाँ उसी से होंगी जो कार्य करेगा, कार्य कराने वाला निरीक्षक की भांति उस कार्य की जांच करेगा।

यदि त्रुटि होगी तो बताएगा—समझायेगा, जिसको अन्यथा न मानकर अपनी कार्यविधि में और अधिक निखार लाने का अवसर मिलेगा।' यह सत्य वास्तव में अभी तक जीवन—क्रम में प्रकाश बिन्दु की भाँति प्रकाशित रहा है और स्वयं में आत्म—विश्वास भी उत्पन्न करता रहा है।

वर्ष 1950—51 में प्रयाग विश्वविद्यालय में प्रवेश प्राप्त किया। सहारनपुर के इन्टर कालिज से यहां का वातावरण सर्वथा भिन्न था। इन्टर तक केवल कमीज—निकर ही पहना था— यहां आकर पेन्ट पहननी प्रारम्भ हुई। छात्रावास का जीवन व्यतीत करना था जो कि प्रारम्भ में कुछ कठिनाईपूर्ण प्रतीत हुआ। हॉकी—फुटबॉल सहारनपुर में भी खेलने की रुचि थी। यहाँ आने पर छात्रावास की टीम में खेलने से एक लाभ यह हुआ कि सीनियर खिलाड़ियों के साथ शीघ्र ही घुल—मिल जाने का अवसर मिल गया। हाई—स्कूल, इन्टर के साथी श्री कृष्ण कुमार शर्मा, श्री राज कुमार शर्मा ने भी प्रयाग विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया था अतएव पुनः इनका साथ प्राप्त कर भी बहुत सान्त्वना थी और सहयोग भी मिलता रहा।

यद्यपि शिक्षा का स्तर यहाँ बहुत परिष्कृत था, प्रोफेसरगण भी बहुत योग्य थे परन्तु व्यक्तिगत रूप से विशेष रुचि दिखाने वाला कोई शिक्षक बी०ए० तक प्रभावित नहीं कर सका। कर्नल एस०जी० तिवारी, जो विश्वविद्यालय के मुख्य प्रोक्टर थे और हमारे छात्रावास के वार्डन भी थे, उनका व्यक्तित्व अवश्य आकर्षित करता था। फौजी जीवन था, मुख्य प्रोक्टर थे अतएव अनुशासन के प्रति अधिक सचेष्ट रहते थे। जो भी कहना होता था घड़ल्ले से कह देते थे। यूनीवर्सिटी में लगभग सभी विद्यार्थी उनसे घबड़ाए से रहा करते थे और कर्नल होने के नाते उनका सम्मान भी करते थे। कभी कभी देर शाम अपनी पुरानी फोर्ड टूरर कार को स्वयं चलाकर होस्टल आ जाते थे और चौकीदार को साथ लेकर छात्रावास का निरीक्षण कर लिया करते थे। किसी भी विद्यार्थी के कमरे में अकस्मात् प्रवेश करके कुर्सी पर अथवा तख्त पर बैठकर उसकी पढ़ाई, स्वास्थ्य, असुविधा के विषय में जानकारी प्राप्त किया करते थे। एक बार हॉकी खेलने में मेरे माथे में चोट लग गई थी, ड्रेसिंग करारकर कमरे में बैठा था, कुछ साथी खिलाड़ी भी साथ ही बैठे थे कि कर्नल साहब आ गए और बोले 'चौकीदार ने बताया कि तुम्हारे चोट लग गई है, कहाँ क्या उपचार कराया?' फिर बोले 'यदि कष्ट अधिक है तो मैं डिस्पेंसरी के लिए लिख दूंगा और किसी भी परेशानी में मुझे सूचना दिलवाना। अपने पेरेन्ट्स को मत लिखना क्योंकि दर्द या कष्ट तुम्हें स्वयं ही झेलना है, उपचार सही ढंग से होगा, व्यर्थ मैं घर सूचना देकर घरवालों को चिन्तित करने से कोई लाभ नहीं' और फिर चौकीदार से बोले 'तुम ध्यान रखना कि किसी बात की इसे दिक्कत न हो और मुझे हाल बताते रहना'। कर्नल साहब की इस सहानुभूति का सभी साथियों पर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा और

सभी उनकी प्रशंसा करते रहे।

इसी संदर्भ में कर्नल साहब की आत्मीयता और स्नेह का एक और दृष्टान्त स्मरण आ रहा है। एक बार कटरा बाजार में छात्रावास के छः सात मित्रों के साथ दीवाली देखने के लिए गया। चौराहे पर दाहिनी ओर से एक ताँगा आ रहा था। मुख्य मार्ग पर भीड़ बहुत थी। चौराहे पर सिपाही ने घोड़े की लगाम पकड़ कर, ताँगे वाले को वापस ले जाने के लिए कहकर घोड़े का मुँह फेर दिया। संयोगवश मैं अपने मित्रों में सबसे आगे था। घोड़े के मुँह से निकलने वाला झाग मेरे ब्लेजर (कोट) की आस्तीन में पूरी तरह लग गया और बाँह में उसका मुँह टकराने से कुछ चोट भी लगी। मित्रों ने हँसी उड़ाते हुए कहा 'लो भई तुम्हारी नक्शेबाजी पर तो लग गया धब्बा'। मुझे चोट से अधिक कोट पर लगा हुआ यह सफेद झाग देखकर क्रोध आ गया था तभी सिपाही ने आग में आहुति देते हुए कहा 'देखकर चला करो, यह सड़क है, कम्पनी बाग नहीं।' उसका इतना कहना था कि मैंने कसकर उसके मुँह पर तमाचा मार दिया, दूसरे तमाचे से उसकी टोपी नीचे गिरी। सिपाही के सीटी बजाते ही 2-3 सिपाही जो सड़क के दाँए-बाँए घूम रहे थे, उसकी मदद करने आ गए। उन्हें आता देखकर मेरे मित्रों ने उनकी भी अच्छी-खासी पिटाई कर दी। भीड़ इकट्ठी हो गई और अपनी स्थिति का ध्यान आते ही हम लोग उसी भीड़ में इधर-उधर होकर छात्रावास की ओर चल पड़े। छात्रावास के मुख्य-द्वार से कुछ ही पहले पीछे से आती हुई कर्नल साहब की कार रुकी। कार से उतर कर वे हम लोगों के पास आए और फौजी लहजे में पूछा 'कहाँ से आ रहे हो तुम लोग?' उन्हें बताया कि 'दीवाली देखने कटरा तक गए थे' तो बोले 'हूँ, देख आए और वहाँ भीड़ को विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की सभ्यता की झलक भी दिखा आए। क्या बात थी, क्यों झगड़ा किया?' और फिर मेरी ओर देखकर बोले 'तुम ही वी०एस० चतुर्वेदी हो? बताओ क्या बात हुई।' मैंने आगे आकर समस्त घटना सत्य रूप में उन्हें बता दी, अपना ब्लेजर जिस पर अभी तक सफेद झाग पूरी तरह झलक रहे थे दिखाया और कहा 'सर! मैं तो फिर भी सहन करके लौट आना चाहता था परन्तु जब सिपाही ने कोई खेद प्रकट करने के बजाय 'दिखाई नहीं देता, कम्पनी बाग में सैर तो नहीं कर रहे थे' इत्यादि कहा तो सहन शक्ति चुक गई और मैंने उसे पीट दिया और मेरा साथ देते हुए अन्य मित्रों ने उसकी मदद के लिए आ हुए 3-4 सिपाहियों की भी तुकाई कर दी।' कदाचित् मेरे कोट पर लगा हुआ झाग देखकर ही उन्हें हँसी आ गई और सत्य वर्णन से वह संतुष्ट भी प्रतीत हुए। अपने कोट की जेब से एक आईडेंटिटी कार्ड निकालकर मेरी ओर बढ़ाते हुए बोले 'तुम्हारा यह कार्ड उसी मारपीट में सड़क पर गिर गया था, मैं भी हक्का सुनकर वहाँ पहुँच गया था। इस कार्ड पर नजर पड़ते ही इसे उठाकर जेब में डाल लिया। ड्यूटी पर तैनात बावर्दी पुलिस वालों पर हाथ उठाना जुर्म होता है। यदि यह कार्ड किसी पुलिस वाले के हाथ लग जाता तो

परेशानी पैदा हो जाने की सम्भावना थी। एक बात तुम सभी को जीवन भर याद रखने के लिए बताता हूँ अपने आत्म-सम्मान पर कोई ज़र्फ़ मत आने देना, भरसक इसकी रक्षा करो, उपाय बाहु-बल के अतिरिक्त अन्य भी हो सकते हैं। तैश में भी होश कायम रखने का प्रयत्न अवश्य करते रहना चाहिए' और फिर 'विश यू ऑल ए हैप्पी दीवाली' कहते हुए कार में बैठ चल दिए। हम लोग अक्सर ही कर्नल साहब की इस सीख और आत्मीयता की प्रशंसा किया करते थे और मुझे तो उनकी यह सीख आज भी एक प्रकाश-स्तम्भ की भाँति प्रतीत होती है।

मैंने एम०ए० में अर्थशास्त्र विषय का चयन किया था। अत्यन्त विद्वान् प्रोफेसर पढ़ाया करते थे परन्तु सबसे अधिक प्रभावित किया प्रोफेसर जे०के० मेहता साहब के व्यक्तित्व ने। बहुत ही सौम्य व्यक्तित्व के धनी थे वे। गोरा, स्वस्थ शरीर और सदा मुस्कराता हुआ चेहरा। अपने विषय में पूर्ण पांडित्य उपलब्ध था। उन्होंने अर्थशास्त्र विषय में कई पुस्तकें भी लिखी थी। अर्थशास्त्र-सम्बन्धित विविध जटिल समस्याओं में भारत-सरकार तक भी यदा-कदा उनसे विचार-विमर्श किया करती थी, ऐसा उनके विश्वस्त विद्यार्थियों और कुछ प्रोफेसरों ने भी स्वीकार किया था। कक्षा के सभी विद्यार्थियों के नाम उन्हें याद थे और अटेन्डेन्स वे नाम न लेकर नम्बर पुकार कर लिया करते थे। अनुपस्थित विद्यार्थी का नम्बर वे नोट कर लिया करते थे। एक बार जैन (एक विद्यार्थी) की प्रॉक्सी करते समय एक अन्य विद्यार्थी ने उसकी उपस्थिति बोल दी। प्रोफेसर मेहता ने तुरन्त ही उसका नाम लेते हुए कहा 'मि० श्रीवास्तव, मुझे मालूम है कि तुम मि० जैन नहीं हो, अब वह कारण बताओ जिसकी वजह से मि० जैन क्लास में नहीं आ सके?' श्रीवास्तव ने घुमा-फिराकर कारण बताया जिससे प्रोफेसर साहब कुछ अप्रसन्न हो गए और दोनों का ही नम्बर डायरी में नोट कर लिया। पढ़ाने से पूर्व उन्होंने विद्यार्थियों को सम्बोधन करते हुए कहा 'कभी भी अपने सच्चे मित्र की निन्दा अथवा उसके विरुद्ध किसी अन्य से मत कहो चाहे उससे कितनी भी मत-भिन्नता या मनोमालिन्य हो जावे।' जानते हो इसका क्या प्रभाव सुनने वाले पर पड़ता है या पड़ सकता है कि 'जो व्यक्ति अपने इतने नजदीकी मित्र के विरुद्ध कह रहा है वह कितना अविश्वसनीय है। मित्रता सही अर्थ में हृदय की अनुभूति है जो भावना से प्रेरित होती है, विवेक से नहीं'।

पढ़ाते समय वे कभी कभी यह जाँचने के लिए कि विद्यार्थी उन्हें ध्यानपूर्वक सुन रहा है अथवा नहीं, कोई अप्रासंगिक प्रश्न पूछ लिया करते थे। विशेष रूप से उस विद्यार्थी को उस प्रश्न का उत्तर देने के लिए नाम लेकर कहते थे जिस पर उन्हें शक हो जाता था कि वह ध्यान नहीं दे रहा। एक बार मि० जैन उनकी कक्षा में बैठकर अपनी नोट बुक में होस्टल खर्च का हिसाब लिख रहे थे। प्रोफेसर मेहता ने ताड़ लिया और लैक्चर रोक कर प्रश्न किया 'वैल, यंग फ्रेंड्स, हैल्प मी। वाट इज रिवर्स ऑफ रिवर्स' और जैन

का नाम लेकर कहा 'मि० जैन प्लीज टैल मी।' जैन ने घबड़ा कर मुझसे पूछा कि 'क्या पूछा जा रहा है' तो मैंने धीरे से कहा 'रिवर्स ऑफ रिवर्स क्या होता है' पूछ रहे हैं।' जैन को सही उत्तर तो घबड़ाहट में सूझना ही क्या था खड़ा होकर बोला 'सर! रिवर्स ऑफ रिवर्स इज रिवर्स ऑफ रिवर्स' प्रोफेसर साहब के साथ सारी क्लास हँस पड़ी। उन्होंने कहा 'तुम अपनी नोट बुक लेकर यहाँ तशरीफ ले आओ ताकि मैं भी देख सकूँ कि मेरे लैक्चर के नोट्स भी तो तुम इसी प्रकार नहीं लिख रहे।' जैन की नोट-बुक देखकर उस पन्ने को उसी में मोड़ दिया और बोले कि क्लास समाप्त होने पर अपनी नोट-बुक सहित उनके चैम्बर में मिले। होस्टल में आकर जैन ने बताया कि 'प्रोफेसर साहब ने अपने लड़के अथवा छोटे भाई की भाँति मुझे समझाया कि माँ-बाप के द्वारा व्यय किए जाने वाले धन को सार्थक बनाओ व विश्वविद्यालय की प्रतिष्ठा को बढ़ाने में योगदान दो और मैं पूरी तरह सहमत हूँ कि इसी में हम सभी का हित भी है। कोई और अध्यापक होता तो क्लास में ही मुझे सबके सामने जलील किया जाता।'।

फिर ऐसे ही एक दिन प्रोफेसर साहब ने एक चिर-स्मरणीय सिद्धान्त सभी विद्यार्थियों को समझाने का प्रयत्न किया। उन्होंने एक विद्यार्थी को अपने पास बुलाया और उसे चॉक देते हुए ब्लैक बोर्ड पर 20-25 अंकों की कोई संख्या जैसे 2, 8, 5, 6, 4, 7, 3 आदि आदि लिखने को कहा। तत्पश्चात् अन्य विद्यार्थियों को भी अपनी नोट-बुक में इसी क्रमानुसार यह संख्या नोट कर लेने के लिए कहा। स्वयं भी इस बीच ब्लैक-बोर्ड पर लिखी हुई संख्या पढ़ते रहे। जब सब विद्यार्थियों ने नोट कर लिया तो ब्लैक-बोर्ड पर लिखे हुए अंक साफ करा दिए। क्लास की अटेन्डेन्स ली और पिछली बार दिए हुए लैक्चर का रेफरेन्स देते हुए कुछ पुस्तकें देखने का भी परामर्श दिया। इसके बाद स्वयं उठकर ब्लैक बोर्ड तक गये और उस विद्यार्थी ने जो अंक लिखे थे उसी क्रमानुसार ब्लैक बोर्ड पर लिख दिए और सबको अपनी नोट-बुक में लिखे अनुसार मिलाने के लिए कहा। सभी ने स्वीकृति दी कि ठीक यही क्रम पूर्व में लिखा गया था। प्रोफेसर साहब बोले 'यह कोई जादू नहीं है जिससे तुम सभी अचम्भित हो रहे हो। इस प्रकार की स्मरण-शक्ति तुम सब भी प्राप्त कर सकते हो। बस केवल ध्यानपूर्वक पढ़ने, सुनने और समझने का अभ्यास डालना होगा। मनुष्य का स्मृति-पटल प्रकृति की एक विलक्षण-सौगात है। इसमें जो भी कुछ तन्मय होकर देखोगे, सुनोगे, पढ़ोगे और भरोगे, वह अक्षुण्ण रहेगा। प्राचीन युग में जब भाषा की आकृति नहीं विकसित हो पाई थी, श्रुति काव्य ही प्रचलित थे। गुरु शिष्य को मौखिक रूप में ही वेद की ऋचायें, मन्त्र इत्यादि बताते थे और आगे भी यही क्रम चलता रहता था। आज भी जब बाल्यावस्था की किसी सुप्त घटना का वर्णन कोई तुमसे पूछता है तो तुम्हें क्यों वह स्मरण हो आता है? अनेक घटनाएँ जीवन में होती रहती हैं, अनेकों प्रसंग आते जाते हैं, अनेक गीत सुना करते हो परन्तु उनमें से कुछ ही तुम्हें क्यों

याद रह पाते हैं?, कभी इसका कारण जानने का प्रयत्न किया है? उसका एक ही स्पष्ट कारण है, जिस भी घटना, प्रसंग, गीत, पाठ को तुम ध्यानपूर्वक ग्रहण करते हो, वह सर्वदा के लिए स्मृति-पटल पर अंकित हो जाता है। केवल अभ्यास की ही इसके लिए आवश्यकता होती है।'

लारेन्स स्टर्न के एक वाक्य को वह किसी न किसी रूप में क्लास में सभी को प्रायः स्मरण करा देते थे कि 'उद्देश्य अच्छा होने पर वृद्धता के रूप में और बुरा होने पर हठधर्मिता के रूप में जाना जाता है।' एक बार विद्यार्थी यूनियन यूनीवर्सिटी में हड़ताल करा रही थी। श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित के साथ अमेरिका के राष्ट्रपति की पत्नी का स्वागत समारोह विश्वविद्यालय में होना था। हड़ताल कराने में यूनियन की कम्युनिस्ट शाखा अधिक सक्रिय थी। प्रोफेसर मेहता क्लास ले रहे थे। लड़के नारे लगाते हुए लैक्चर थियेटर के बाहर खड़े हो गये। कुछ क्षणों तक प्रोफेसर साहब शान्त होकर यह हुल्लड़बाजी सुनते रहे फिर टहलते हुए से द्वार तक पहुंचे। एक शब्द भी नारे लगाते हुए लड़कों को नहीं कहा केवल कमर पर हाथ रखे हुए उनकी ओर देखकर मुस्कराते रहे। कदाचित् सभी विद्यार्थी उनका इतना सम्मान करते थे कि पूर्णतया नहीं तो 75 प्रतिशत लड़कों ने लैक्चर रूम के बाहर नारे लगाने बन्द कर दिए थे। फिर वे बाहर बरामदे में आए और केवल उनके नेता को अपने पास बुलाया और बहुत ही शान्त शब्दों में पूछा 'आर यू कन्विन्स्ड दैट दिस सौर्ट ऑफ हुलीगन्जिज्म इज मोर इम्पोर्टेंट दैन स्टडी फॉर विच दीज् स्टूडेंट्स हैव ज्वाइन्ड दिस यूनीवर्सिटी ऑफ रैपूटेशन?'

उनके इसी एक वाक्य से सभी विद्यार्थी बिलकुल चुपचाप वहाँ से तितर-बितर होकर चले गये। प्रोफेसर साहब क्लास में आए और बोले 'मैं इसीलिए लारेन्स स्टर्न को प्रायः कोट करता हूँ कि अपने ध्येय से मत भटको फिर भी जो भी विद्यार्थी चाहे क्लास छोड़कर उन्हें जॉइन करने के लिए स्वतन्त्र है' उनके इतना कहने का ऐसा प्रभाव पड़ा कि एक भी विद्यार्थी कक्षा छोड़कर नहीं गया। प्रोफेसर साहब कुर्सी पर आकर बिल्कुल खामोश होकर बैठ गए। कुछ ही क्षणों बाद वे उठे, अपनी डायरी उठाई और यह कहते हुए क्लास से बाहर चले गये कि 'यदि तुम सब इस बात से सहमत हो कि इन सब झमेलों में पड़ने के लिए तुम लोगों ने यूनीवर्सिटी में प्रवेश नहीं लिया तो अपने मित्रों को भी जाग्रत करो।''

क्लास से बाहर आकर हम सभी ने यूनियन के इस कार्य को अपने अपने ढंग से अनुचित ठहराया। सीनेट हॉल के पीछे एक बड़े वृक्ष के नीचे जुलूस अब भी नारेबाजी कर रहा था। होस्टल आकर अपनी अपनी साइकिल लेकर 3-4 मित्रों के साथ मैं भी देखने चला गया कि कहीं झगड़ा न हो जावे क्योंकि अधिकांश विद्यार्थी इस हड़ताल के विरुद्ध थे। उर्दू-विभाग के पीछे से हम लोग यही बातें करते हुए चले जा रहे थे कि क्यों

व्यर्थ में यह सब हो रहा है। अचानक मेरी दृष्टि उसी पेड़ पर लगे हुए एक बहुत बड़े मधुमक्खी के छत्ते पर पड़ गई जिसके नीचे नारेबाजी और भाषणबाजी चल रही थी। वहीं विभाग की खिड़की के पीछे मैंने कहा कि यह सारी हुल्लडबाजी एक मिनट में बन्द कराई जा सकती है। मित्रों ने कहा 'तुम बड़े भारी सिकन्दर हो जो करा दोगे।' तावबाजी की भी बातें हुई और शर्त लग गई कि यदि ऐसा कर लो तो शाम की चाय और चाट श्रीवास्तव खिलायेगा। उर्दू विभाग में कुछ मरम्मत का कार्य चल रहा था। ईंटों के रोड़े इत्यादि पड़े हुए थे। साइकिल एक मित्र को थमाकर निशाना लगाकर रोड़ा फेंककर उस मधुमक्खी के छत्ते पर मारा। दूसरी बार में रोड़ा उस छत्ते में जाकर लगा और कुछ ही क्षणों में मक्खियों ने उड़कर पेड़ के नीचे इकट्ठे विद्यार्थियों पर हमला कर दिया और 4-5 मिनट में ही सब विद्यार्थी वहाँ से भाग गये।

अगले दिन प्रोफेसर मेहता मुस्कराते हुए क्लास में आये और नित्य की भाँति सभी विद्यार्थियों की ओर देखा, मुझे लगा कि मेरी ओर कुछ अधिक ही देर तक देखा परन्तु चूंकि चेहरे पर मुस्कराहट बनी रही सो भय नहीं अनुभव हुआ। अटेन्डेन्स के पश्चात् उन्होंने कहा 'कल मैंने तुम लोगों को क्लास छोड़ते हुए कहा था कि अपने साथियों को भी समझाने का प्रयत्न करो कि यूनीवर्सिटी में केवल विद्या अध्ययन और अनुशासनशील जीवन जीना ही ध्येय होना चाहिये परन्तु एक बहुत ही विचित्र ढंग यह सब कुछ समझाने का एक विद्यार्थी ने खोज निकाला।' फिर उन्होंने कहानी के रूप में कुछ हँसते हँसते सुनाया कि 'कुछ दोस्त इकट्ठे होते हैं, हुल्लडबाजी का विरोध जताते हैं और फिर एक मिनट में यह सब खत्म करा देने के लिए चाट-चाय की शर्त लग जाती है। एक साथी जो शायद बहुत अच्छा निशानेबाज है, वह ईंट का रोड़ा ताककर उस पेड़ पर लगे हुए मधुमक्खी के छत्ते में मारता है जिसके नीचे विद्यार्थी इकट्ठे होकर नारे लगा रहे हैं। मधुमक्खियों के आक्रमण के कारण सभी भाग खड़े होते हैं और जुलूस तितर-बितर हो जाता है। जो काम प्रोक्टर-स-पुलिस कराने में असमर्थ सिद्ध हो रहे थे, वह इस प्रकार के अनोखे ढंग से पूरा हो जाता है' और फिर मेरी ओर देखकर बोले 'तुम्हें यह आइडिया कैसा लगा।' मैं भी उनके साथ और क्लास के साथ उनके किस्सा कहने के ढंग पर हँस रहा था, बोला 'सर यह ढंग जरूर किसी तावबाजी पर शायद शर्तों के निर्वाह के लिए बिना परिणाम सोचे बन गया होगा।' "यस! यंग फ्रैन्ड, एक्जैक्टली इट वाज सो" कहकर उन्होंने पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। इस घटना के दो साथी क्लास में मेरे साथ ही बैठे थे और नोट-बुक पर सिर-झुकाए हुए हम लोग कनखियों से एक दूसरे को देख देखकर अपना सिर थपथपाकर मविष्यत्भय का अनुमान लगा रहे थे। नित्य की भाँति पीरियड समाप्त होने पर प्रोफेसर साहब सीधे अपने चैम्बर में न जाकर बरामदे में खड़े मिले और मुझे देखकर बोले 'मेरे चैम्बर में जाकर मेरी प्रतीक्षा करो।' घबराहट के मारे गला सूख

रहा था कि अब क्या होगा। वे जब चैम्बर में आए तो मुझे बैठने को कहा और बोले 'इतिफाक से मैं उसी कमरे में बैठा था जिसकी खिड़की के नीचे तुम लोग योजना बना रहे थे। मुझे भय था कि मधुमक्खी के काटने से किसी विद्यार्थी को अधिक कष्ट न हो जावे परन्तु प्रोफेसर खान ने मुझे तुम लोगों को मना करने से यह कहकर रोक दिया था कि 'डोन्ट ट्राइ टु ऑबस्ट्रक्ट दि फर्टीलिटी ऑफ ब्रेन ऑफ दीज् यंग फ्रैन्ड्स, एटलीस्ट आइ ऐम श्योर नन वुड डाई (इन नवजवान मित्रों की दिमागी उपजाऊ शक्ति को मत रोको, मुझे विश्वास है इनमें से मरेगा कोई नहीं) फिर भी मैं इतना परामर्श दूंगा कि कुछ भी करने से पहले परिणामों के ऊपर विचार कर लिया जाना चाहिये। मित्रों के साथ तो परिणामों पर विचार कर लेने का और भी अच्छा अवसर प्राप्त होता है।' मैंने कहा, "सर! मुझे इसका खेद है, यह कोई पहले से बनाई योजना नहीं थी, सभी कुछ अकस्मात् हुआ, मधुमक्खी का छत्ता दिखाई देना, ईंटों के रोड़े पड़े दिखाई देना, शर्त लग जाना और सबसे बड़ी बात सही निशाना लग जाना, सब कुछ एक संयोग ही था"। प्रोफेसर हँसते हुए बोले, "और अकस्मात् हुए कार्य के लिए परिणाम पर विचार करने का समय भी कब मिल सकता है? वैसे भविष्य में ध्यान रखना।" छात्रावास में मित्रगण मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे कि जाने कैसी बीते पर जब मैंने सब बताया तो बोले 'प्रोफेसर हो तो ऐसा ही जो दिलों को मुड़ी में भर ले।' प्रोफेसर मेहता के अन्य भी कई संस्मरण स्मृति में समाए हुए हैं परन्तु उनको लेखनी द्वारा समेट लेना संभव नहीं है। बस उनके लिए यह ही श्रद्धाजंलि है कि 'ही वाज् सच ए पर्सनैलिटी हू नैवर डिमान्डेड बट ऑलवेज् कमान्डेड रैसपैक्ट'।

मैं समझता हूँ कि 'अनुकरणीय गुरु' की सही परिभाषा यह ही सम्भव हो सकती है कि 'स्वयं भी वैसा ही आचरण करो जैसा तुम चाहते हो कि अन्य भी करें।' यों तो अनेक अध्यापक विद्यार्थी जीवन में आये परन्तु प्रभावित कुछ ही अध्यापक कर सके क्योंकि उनका स्वयं का आचरण, पुत्रवत्-मित्रवत् व्यवहार और नैतिक चरित्र सभी को प्रभावित करता था। सभी कुछ संसार में बिखरा हुआ है, हर व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार वस्तुएँ चुन लेता है। अन्तर्मुखी व्यक्ति उत्तम वस्तु को सहेज कर भी स्वयं में ही सीमित रह जाता है, उसका अहं अथवा हीनताबोध उसके गुणों को प्रकाश में आने से रोकता है परन्तु बहिर्मुखी व्यक्ति उपार्जित ज्ञान और सद्गुणों को योग्य गुरुओं की कार्यशालाओं में और अधिक परिमार्जित करके चहुं ओर प्रकाशित करता है। विचार-विमर्श वाद-विवाद केवल विचारों को ही उन्नति नहीं देता अपितु वार्त्तालाप की शैली व भाषा की सरसता की भी वृद्धि करता है और यही सद्गुण उसकी पहचान सिद्ध हो जाते हैं। सद् व्यवहार बिना संतुलित-सुसंस्कृत-सरस भाषा और मधुर वार्त्तालाप के ऐसा ही प्रतीत होता है 'विष से भरा कनक-घट जैसे।' माँ-बाप अपने बच्चों को, योग्यगुरु अपने शिष्यों को और सच्चे-मित्र आपस में, अनेक अवसरों पर कटु-शब्द एवं ताड़ना का भी प्रयोग

करते हैं परन्तु इसमें मुख्य रूप से यही सद्भावना निहित रहती है कि इससे बालक के आचार-विचार-व्यवहार की शुद्धि हो।

निरंतर परिवर्तनशील आज के जीवन में यद्यपि यह तो यथार्थ रूप में नहीं कहा जा सकता कि :-

“गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णु, गुरुर्देवो महेश्वरः गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः” परन्तु यह नितान्त सत्य है कि यदि हम सच्चरित्र, विद्वान् गुरुओं के आचरण, शिक्षा तथा चरित्र से शाश्वत सद्गुणों को चुनकर उन्हें अपनाएँ तो निश्चित रूप से भौतिक नहीं तो आत्मिक सुख अवश्य मिलेगा और यही सुख उन अनुकरणीय गुरुओं के प्रति स्मरणांजलि होगी, यह भी उतना ही सत्य है कि ‘परिवार में पोषित सुसंस्कृति ही गुरुओं के सद्गुणों को चुनने में सहायक सिद्ध हो सकती है अन्यथा तो तुलसीदास जी ने कहा ही है कि :-

“फूलहिं-फलइ न बेंत, जदपि सुधा बरसइ जलद।

मूरख हृदय न चेत, जो गुरु मिलहि बिरंच सम॥



लेखक परिचय

“जीवन एक अनिवार्य समझौता ही सिद्ध हुआ है। हम क्या चाहते हैं, हमें क्या करना है, कैसे करना है, यह सब परिस्थितियों द्वारा ही नियन्त्रित होता रहा है” मानने वाले श्री विद्यासागर चतुर्वेदी ने क्या चाहा और उन्होंने क्या पाया तथा क्या करा, यह तो उनके जीवन-चरित पर दृष्टिपात करने से ही पता चलेगा।

स्व० पं० श्रीकृष्ण जी चतुर्वेदी तथा स्व० श्रीमती

मोहिनी देवी चतुर्वेदी के सुपुत्र श्री विद्यासागर चतुर्वेदी का जन्म 18.6.1932 को सहारनपुर में हुआ। स्थानीय एस०डी० इन्टर कालिज से हाई स्कूल तथा इन्टरमीडिएट करके वे इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए तथा वहीं से उन्होंने स्नातक तथा अर्थशास्त्र में स्नातकोत्तर परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके पश्चात् काशी विश्वविद्यालय से ‘जन सम्पर्क’ का डिप्लोमा प्राप्त किया। प्रारम्भ से ही आपकी उत्कट अभिलाषा थी कि फौजी जीवन अपनाया जाए। इन्टर की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् मेरठ से एन०डी०ए० (राष्ट्रीय सुरक्षा एकेडमी) में चयन भी हो गया परन्तु पिताजी की अस्वीकृति तथा भावुकता ने उनके बढ़ते कदम रोक दिए। एम०ए० प्रथम वर्ष में प्रान्तीय पुलिस सेवा में चयन हुआ। उसी वर्ष फुटबाल मैच खेलने में दाहिने हाथ की हड्डी टूट गई। छः सप्ताह पश्चात् एकसरे कराने पर ज्ञात हुआ कि हड्डी गलत जुड़ गई अतएव पुनः तोड़कर सैट की गई और इस भांति पुलिस सेवा में जाना भी सम्भव नहीं हुआ।

स्टार पेपर्स मिल्स सहारनपुर के स्वामी बाजोरिया जी के परामर्श पर वहीं कार्य प्रारम्भ किया। मिल्स में चीड़ की लकड़ी से कागज बनाने की योजना प्रारम्भ होने पर आपने बटोट में भारत सरकार की ओर से प्रारम्भ किये गए शैक्षणिक तथा एफ.आर.आई देहरादून में ट्रेनिंग ली। उसके पश्चात् सहायक मैनेजर के पद पर प्रोन्नत होकर रानीखेत चले गए तथा 1956 से 1988 तक वहीं रहे। वहीं से आपने अवकाश प्राप्त किया।

दिसम्बर 1990 में सहधर्मिणी करुणा जी के देहावसान के पश्चात् से चतुर्वेदी जी पुत्र के पास देहरादून रह रहे हैं। प्रारम्भ से ही अध्ययन की रुचि रही तथा बहुत पढ़ा। महाभारत ने बहुत आकर्षित किया और एक नया प्रयोग करने की अभिलाषा हुई कि उसके किसी महानायक के जीवन की घटनाओं को जोड़ते हुए आत्मकथा के रूप में यदि लेखनी बद्ध किया जा सके तो यह प्रयास रोचकता पूर्वक ज्ञान वर्द्धन करने में सहायक सिद्ध हो सकता है। इसी विचार की परिणति है कि महाबली भीष्म पर आपका ग्रन्थ आज प्रकाशनाधीन है।



MY WELL-REMEMBERED GURU

Dr. Brij R.K.Kashyap

I have had several very good and able teachers, professors, whom I remember gratefully and respectfully. Among them, if I have to choose one, I would like to write about Professor S.D. Puri, who taught me Mathematics for two years only-the first two years at the college at Shimla. As a student I have always been interested in languages and mostly, used to top in the four languages I studied viz. English Urdu, Hindi and Sanskrit. At school, I was not so much interested in Mathematics. Reluctantly, being so advised by my elder brother, I decided to continue with mathematics at the college level. It was only because of the excellent teaching of Prof. S.D. Puri that I decided to continue with mathematics after Intermediate level. Prof. Puri's method of teaching made learning Mathematics very easy. In the class he would use a number of interesting anecdotes connected with mathematics, usually one each day, and after spending very little time on it, return immediately to the subject matter. And he used to cover the subject at a fantastic speed. It was only because of Prof. Puri's marvellous teaching that I did my B.A. with Honours in Mathematics and then went in for M.A. (Mathematics). But for Prof. Puri's teaching, I would have perhaps finished with M.A. Sanskrit or something.

I have always held Prof. Puri in high esteem. And I know he was also appreciative of me as a good student of his class. The newly erected interest in Mathematics made studies so interesting for me that every year during Intermediate and B.A. I topped in my class excelling over Science students which is considered difficult. At the first available opportunity I visited Prof. Puri at his residence at Mandi (Himachal Pradesh) to pay my respect and voice my appreciation for his excellent coaching. That was 20 years ago.



A Profile

Son of (Late) Pandit Dharni Dhar and Shrimati Shanti, Brij Raj Kishore Kashyap was born at Ambala in the province of Panjab (now Haryana state) on June 30, 1932. He has B.A. (Hons. in Math) and M.A. (Math) degrees from Panjab University and Ph.D. (Operations Research) from Jodhpur University. With a long teaching and research experience in India, mainly at Faculty of Engineering, University of Jodhpur and Indian Institute of Management Calcutta, he visited Canada and U.S.A. several times between 1974 and 1987 on research/teaching assignments before immigration to Canada in 1988. At present he teaches part-time at Ryerson Polytech University Toronto. He is author/co-author of 6 books on Mathematics and Operations Research and about 60 research papers.

Among his various hobbies are languages, poetry, astronomy and astrology. He is a well-known Hindi Poet in the city of Toronto and a Distinguished Member of the International Society of Poets U.S.A. Besides Hindi and English, he also writes poetry in French, Sanskrit and Urdu.

He teaches Sanskrit and Hindi on behalf of Hindu Institute of Learning, Toronto. He is a member of Operations Research Societies of India, Canada and U.S.A.

Professor Kashyap is married and has three children, now living in U.S.A., Canada and Hong Kong.



MY GURUS AT SANTINIKETAN

DR. Sovon Som

My Teachers at Santiniketan were Acharya Nandalal Bose, Surendranath Kar, Ramkinkar, V.S. Masoji in Fine Arts and Santidev Ghosh in Music from 1949 to 1953 when I studied at Kala Bhavan, College of Fine Arts, Visva Bharati. When I joined, Visva Bharati was a private institution and though a student joining Visva Bharati, had to join a college, he/she was free to attend classes in other constituent colleges. I also attended several colleges simultaneously.

My teachers, stalwarts in their respective areas, had joined Gurudeva Tagore's institution without caring for what meagre amount they received as their salaries. For them work was Sadhana and that was reason why in colonial India, they were not allured by Government services, as they knew that by serving Gurudev Tagore's institute they were working for the nation. Most of them lived in mud houses, without electricity as they could not afford the luxuries of life. I was moved by their sense of dedication, their charming personality and their devotion to work, love and care for the students. They treated us as younger brothers as we mostly addressed them as Dada.

Acharya Nandalal Bose, Surendranath Kar, Ramkinkar, V.S. Masoji, Santideva Ghosh were celebrities in their respective areas. In the supervision of Nandalal Bose, nothing was imposed on the students. The teachers just guided their students according to the taste of the students. Nandalal Bose used to say that a true guru is he who only shows the path, only guides the pupil but never makes him to follow him. The students there got a chance to explore their inner qualities at the most. Their Pratibha was never curbed down. That is the reason that Jaya Appaswami, Ramkinkar Baiz, Indira Gandhi, K.G. Subramanym, Shankho Chaudhury, Krishna Reddy, Vinayak Rao Masoji, Sudir Ranjan, Khastagir, Satyajit Ray, Prithwish Neogy could become celebrities in their own fields. Imposition and supression never allows a person to flourish in its full and natural form. Satyajit Ray, who was a student of Santiniketan, very well said that if he had not joined Santiniketan, if Nandalal

Bose had not been his teacher, the world famous movie Pather Panchali would have not taken shape.

When I was a student, my teachers inspired me to write on art. They also involved me in mural painting and in several projects as projects were undertaken besides the routine class work. I was a student there but after leaving Santiniketan, whenever I sought their help, their guidance, they always helped me through letters. On Vijaya Dashami and on their birthdays whenever I sent them greetings, they always reciprocated promptly and never forgot to enquire about my academic progress. My teachers, till the last day of their life, did not forget their students. Normally it happens that a student remembers his teachers for the whole of his life but here at Santiniketan-nay the Tapovan I saw a unique tradition that the teachers did never forget their students.

When I was a student at Santiniketan, we had our classes only for four hours a day i.e. from 7.30 in the morning to 11.30 fore noon. After that we used to practise in the studio. We also indulged in sports and in cultural activities, as well as occasional dramatic performances, on full moonlight nights, we specially enjoyed dancing and singing in the open. We had to do social work also. At the time of any eventuality or natural calamity we students were supposed to do the needful. Our participation in celebrations and in social work went side by side. In this way, we were learning something or the other the whole of the day but we were never worried about our examination. We were examined by our teachers daily in our day today work. Hence, learning was full of joy and not a matter of tension or fear. During our student life we were not at all worried about our future. Our teachers guided us in such a way that we were fully confident that if time comes, we would be able to do the best. As soon as our student life was over and we were planning to leave the institution, our teachers and the then principal Surendranath Kar asked us not to leave Santiniketan. I along with four of my fellow students was accommodated in a project. As soon as the project was completed, he sent us all to some or the other job. Our principal wrote about me to the Government Home Science College Jabalpur and I was appointed there as a teacher even without sending my application. Actually they were not only our teachers but were our Gurus, our well wishers, our guardians. People outside Santiniketan had a faith in our institution and in our teachers that they would send their students who would fulfill their expectation.

Remembering my teachers I can never forget two of my other teachers, Pandit Kshiti Mohan Sen and Acharya Hajari Prasad Dwivedi. They were also there teaching at Visva Bharati and on several occasions I came in contact with them as my friends- philosophers and guides. To me their academic qualifications did not matter as they were hand-picked by Gurudeva Tagore and as they had already achieved excellence in their fields of study. They were known persons, revered by the nation. I feel that a shishya should never have any doubt about his guru's capabilities.

Yes, whatever I have achieved in my life, I owe everything to them, they inspired me to live a life worthy of living. I am grateful to my teachers and this can not be repaid. I never tried even to do it. I did what I could do. I did what was within my ability and capability. I have written books on them. I did research on them. I arranged Seminars on the birth centenary of Nandalal Bose and Surendranath Kar. I edited commemoration volumes on both of them and made scholars to contribute their articles on my teachers in those volumes. Satyajit Ray, Amartya Sen, Santidev Ghosh and several other celebrities also contributed in those volumes. I know well that what I received from them - my teachers- can never be repaid. This is just a token of my gratitude, my Shraddha towards them.



A Profile

In the dark dreary mundane existence life always needs something different to sustain it. An artist is God's gift to this world. In that manner he is to be perserved in a very dengitive manner in one's memory. Prof. Sovon Som is one such personality, Born on 1.8.1932, Prof. Som as a child was deeply influenced by his parents Late Khirod Bihari Shom (Father)

and late Madhuri Shom (Mother). His first achievement was to get a diploma in Fine Arts and Crafts (Visva Bharati). It was followed by a Post Graduate Degree from Calcutta University and D.Litt. from Ravindra Bharati University. He provided his Special touch to the Department of History of Arts, Rabindra Bharati University Calcutta as a professor and head. As Dean Faculty of Visual Arts of the same university, he added more innovations to the already existing tradional method. As U.G.C. visiting professor new venues were open to him. He visited Havana University Cuba in 1987, Comenius University Solovaki

in 1994 and Assam University India in 1997. He participated and lectured extensively at different national and International seminars-i.e. New York State University, Zordan University, Dacca University, Chittogang University .

International exposure to his painting came quite early at Amman in 1984, Havana 1987, New York 1987, Dacca 1993 and 1998. He published several books on Art and edited Lalit Kala Comtemporary No 36 and several university publications. He contributed as Art and music critic to Amrit Bazar Patrica, Frontier Weekly, Desh, Sananda and Daily Telegraph.

At present, though in his sixties, his brush has not lost its warmth and vigour. As a reputed painter and outstanding Critic his contribution remains unsurpassed.



गुरु स्मरण

डा० प्रभाकर पाण्डुरंग आपटे

हमारे जीवन में जन्मतः गुरु का स्थान माता-पिता का ही रहा है। उनके अतिरिक्त जिनसे हम प्राथमिक कक्षा से लेकर अत्युच्च कक्षा तक शिक्षा प्राप्त करते हैं, वे सब अध्यापक-प्राध्यापक हमारे शिक्षा गुरु होते हैं लेकिन जीवन में पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक एवम् आध्यात्मिक क्षेत्र में हम जिनसे ज्ञान और उपदेश पाते हैं, वे हमारे कक्षातिरिक्त गुरु ही रहते हैं और उनका महत्त्व असाधारण सा बना रहता है। शिक्षा-गुरुओं में भी कतिपय नित्य स्मरणीय होते हैं। इसीलिये प्रतिनिधि रूप से दो गुरुओं के कुछ संस्मरण यहां पर प्रस्तुत कर रहा हूं।

स्व० डा० त्र्यम्बक गोविन्द माईणकर मेरे प्रथम गुरु हैं। वे विलिंग्डन कालेज सांगली और फर्गुसन कालिज पुणे में संस्कृत के प्राध्यापक तथा फर्गुसन कालिज के प्राचार्य भी रहे। उसके बाद वे दिल्ली विश्वविद्यालय में प्राध्यापक एवं संस्कृत विभाग के अध्यक्ष रहे। सेवा निवृत्त होने पर भण्डार प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर में पदव्युत्तर विभाग के संचालक रहे। सन् 1952 में मैं संस्कृत का छात्र था। उनके पास अध्यापन की ऐसी प्रभावशाली शैली थी कि बी०ए० की कक्षा में ही मेरे मन में संस्कृत में शोध कार्य करने की प्रबल इच्छा अंकुरित हुई। एम०ए० कक्षा में सीमित छात्र-संख्या होने के कारण उनके घर पर ही प्रायः हमारे पाठ हुआ करते थे। जब हम उनके घर जाते थे तब उनके पिताजी बाहरी कक्ष से ही पुकारते थे, 'मधू (जो उनका घरेलु नाम था) तुम्हारे छात्र आये हैं।' बाद में चलता था हमारा पाठ मानो 'सह नावदधीतम् अस्तु' पद्धति पर। न समय की पाबन्दी, न घण्टी की आवाज।

उनकी दी हुई शिक्षा का पाठ्य लेकर एम०ए० परीक्षा देन पुणे पहुँचा। फर्गुसन महाविद्यालय में जिसके संस्थापक प्राचार्य थे संस्कृत कोशकार प्रो० वामन शिवराम आपटे। थोड़ी ही अवधि में डा० माईणकर फर्गुसन महाविद्यालय में संस्कृत प्राध्यापक और प्राचार्य के रूप में पुणे नगरवासी हो गये। उन्हीं के मार्गदर्शन में पीएच०डी० करने की मैंने ठान ली। प्रवास-आवास की चिन्ता किये बिना ही मैं पुणे पहुँच गया जहाँ सब प्रकार की कठिनाइयों का सामना मुझे करना पड़ा। उस समय मेरे परम गुरु यानी डा० माईणकर जी के गुरु डा० रा०ना० दाण्डेकर जी ने मेरी बहुविध सहायता की। 'पाश्चात्र आगम' यह विषय जब निश्चित हुआ तब डा० माईणकर जी ने मुझे मद्रास यूनिवर्सिटी में सामग्री संकलन के लिये डा० वी०राघवन् जी के पास भेजा। दक्षिण भारत का नक्शा भी न

जानते हुए मैं मद्रास की ओर चला। रास्ते में रेणुगुंठा स्टेशन के आने पर भगवान् वेंकेटश जी ने किसी अज्ञात सहायत्री द्वारा मुझे वहां उतरवाकर दर्शन करवाया और वहां के आस्थान विद्वान् स्व० पार्थसारथी भट्टाचार्य द्वारा पाश्चरात्र ग्रन्थों का परिचय करवाया।

मद्रास विश्वविद्यालय में डा० वी० राघवन् जी ने पाश्चरात्र आगम के उपलब्ध ग्रन्थ और पाण्डुलिपियों का विश्वरूप दर्शन खड़े खड़े करवाया। उस समय वे New Catalogus Catalogarum की सामग्री जुटा रहे थे। उन्होंने मुझे मैसूर भेजा जहां पर मुझे मिले मेरे जीवनगुरु श्रीमान् आसुरि श्रीनिवास अय्यंगार जिन्होंने मेरे शोध कार्य की मानो पूरी बागडोर ही हाथ में सम्माल ली। चन्द दिनों बाद स्वयं वे पुणे आकर प्रकाश राव नाम के एक इंजीनियर शिष्य के घर पर ठहरे और उन्होंने पाश्चरात्र आगम के ज्ञान का भंडार ही मेरे सामने खोल दिया। उसमें से कुछ अंशों का संस्करण करके मैंने पीएच०डी० की उपाधि प्राप्त की।

श्रीमान् आसुरि श्रीनिवास अय्यंगार और स्व० डा० वी० राघवन्, इन दोनों के चिन्तन के फलस्वरूप तिरुपति के केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ में आगम कोश प्रकल्प लिया गया और उसमें मुझे सम्पादन कार्य करने का अवसर मिला। वहां पर मुझे शोध कार्य के दो और गुरु मिले डा० रामचन्द्र शर्मा और डा० दक्षिणामूर्ति बालसुब्रह्मण्यम् जिन्होंने शोध कार्य के यम-नियमों से अवगत कराया। उसी कालावधि में मेरे पीएच०डी० के दो परीक्षक स्व० डा० के०सी० वरदाचारी और स्व० डा० जान् फिलिओझा से साक्षात्कार करने का अवसर मिला। स्व० डा० के०सी० वरदाचारी, जो दर्शन के प्राध्यापक रहे, उनके तिरुपति स्थित निवास पर हम कभी कभी जाकर चर्चा करते थे। एक दिन चर्चा से विमुख होकर वे बोले, I donot want to be intelligent with my friends; वे क्या कहना चाहते थे, इस पर मैं आज तक सोचता रहा हूँ। उन्होंने आगे केवल कहा, I want to meditate. इसका अर्थ मैं जो समझ सका वह है बौद्धिक ज्ञान ग्रहण की एक सीमा होती है, जिसके परे है चिन्तन, मनन और ध्यान। स्व० डा० फिलिओझा सन् 1981 में वाराणसी के विश्व संस्कृत सम्मेलन में मेरे शोध-पत्र पठन के समय उपस्थित रहे और मेरे पास आकर अभिनन्दन करते हुए बोले, "Write a monograph and send it to me. We shall publish it." बाद में वे भी नहीं रहे और Temple Text Correlation विषय पर बरसों तक मैं किताब लिख नहीं पाया। यह यादगार जब मैंने अनन्ताचार्य इन्स्टिट्यूट में चर्चा-सत्र के दौरान उनके पुत्र और पुत्रवधू डा० पिअेर और डा० वसुन्धरा को बताई तब डा० पिअेर ने कहा, 'यदि मेरे पिताजी ने आपको ऐसा कहा है तो हम आपकी सहायता करेंगे।' भाग्यवश उसी विषय को लेकर हमारा सम्पादन किया हुआ "Melkote through the Ages" नामक शोध-निबन्ध संग्रह प्रकाशन पथ पर है। इसमें उन दोनों का योगदान है। कुछ साल पहले पैरिस के मेरे अल्प कालीन प्रवास में

पैरिस के पास के एक देहात में स्व० डा० फिलिओझा का निवास स्थान देखने का अवसर मिला। मेरी गुरु-पत्नी ने मेरा स्वागत किया और स्वर्गस्थ गुरु का स्टडी रूम भक्तिभाव पूर्वक दिखाया। उस कमरे की देखभाल आज भी उनकी पत्नी इस प्रकार करती हैं कि मानों उनके पति अभी भी शोध कार्य में व्यस्त हैं। पाश्चात्य वायुमंडल में उस पतिव्रता के अनोखे दर्शन मेरे सौभाग्य से मुझे प्राप्त हुए। मैंने उनसे पूछा, 'सेवा निवृत्ति के उपरान्त प्राध्यापक महोदय का दिन क्रम कैसा रहता था।' उस पर उन्होंने फ्रान्सीसी भाषा में उत्तर दिया "Travail Travail et Travail" मतलब 'काम, काम और काम।' 'अजरामरवत् प्राज्ञः विद्याम् अर्थम् च साधयेत्।' यही सच है। स्व० डा० माईणकरजी की उक्ति मुझे याद आई, 'जब शोधकार्य में बैठना हो तो कुर्सी पर गोंद पोतकर बैठना चाहिये।'।

डा० माईणकरजी तिरुपति विद्यापीठ समिति के सदस्य बनकर हमारा काम देखने आ सके लेकिन उसके पहले एक हादसा हुआ जो अविस्मरणीय है। 27 मार्च 1961 रामनवमी का दिन था। केन्द्रीय समिति जिसमें स्व० डा० माईणकर थे, दिल्ली से मद्रास हवाई जहाज से आने वाले थे। तिरुपति से मद्रास हवाई अड्डे पर कार में मुझे भेजा गया था। उन्हें लेकर विद्यापीठ की कार मद्रास से तिरुपति की ओर बढ़ रही थी। ड्राईवर और गुरुजी के बीच मैं में बैठा था। अचानक एक छोटे पुलपर कार टकराकर पलट गई। डाक्टर माईणकर और दूसरे सदस्य खा. चपलाकान्त भट्टाचार्य बाएं दरवाजे से बाहर फैंके गये। पीछे थे लेखनऊ विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलगुरु के०ए० सुब्रह्मण्यम् अय्यर और उनकी पत्नी जो डाक्टर थीं। उन्होंने एक कार को रोककर अत्यधिक अस्वस्थ चपलाकान्त जी को अस्पताल में भर्ती करवाया। डाक्टर माईणकर जी बेहोश थे। उनके पास मैं ठहरा। कुछ देहाती सज्जनों के पानी पिलाने पर वे होश में आ गए। बड़ी मुश्किल से एक सिटी बस में जब उन्हें लेकर मैं जा रहा था तब होश में आकर वे मुझसे बोले, 'हम अस्पताल नहीं जाएंगे। मुझे होटल ले चलो।' मुझे तो एक ही अजन्ता होटल मालूम था जहां पर मैं ठहरा था और जहां से डा० राघवन् का घर पास था। हम बस से उतरकर टैक्सी में सवार हो गए। होटल में कमरा लिया। जब तक डाक्टर साहब बाथरूम जाकर जख्म वगैरह पोंछ कर तैयार हो गए, मैं डा० राघवन् को लेकर आ गया। डा० राघवन् के फैमिली डाक्टर से मामूली इलाज करवाया और डा० राघवन् ने वहीं पर मीटिंग का आयोजन किया। उसके दो दिन के बाद मैं गुरुजी को हवाई अड्डे पर विदा करके आया लेकिन रामनवमी की रात को हमारे निदेशक डा० बी०आर० शर्मा, जो तिरुपति से पधारें थे, मेरे पिताजी के निधन का तार लेकर आए। वह दुर्घटना हुई थी दोपहर को ठीक बारह बजे जब हम दुर्घटना-ग्रस्त हुए थे। निदेशक महोदय ने जब मुझे तुरन्त पुणे जाने को कहा तब तनिक सोचकर मैंने कहा, 'पिताजी की सेवा का मौका तो

चला गया है, अब गुरु सेवा का अवसर मैं गँवाना नहीं चाहता। कृपया उनसे (गुरुजी) यह बात न कहिये।' उन्होंने मान लिया। कुछ दिनों बाद श्रीमती माईणकर यानी गुरु पत्नी जी का उनकी भावना व्यक्त करता पत्र दिल्ली से आया। वही मेरी सेवा की रसीद थी।

श्रीमान् श्रीनिवास अय्यंगार उत्तरायु में संन्यास लेकर यतिराज बन गए। एक बार मैं उन्हें मिलने मेलकोटे ग्राम पहुँचा और मैंने उनसे कहा, 'स्वामी जी, आपने एक बार तिरुपति में प्रपा शब्द का सही अर्थ मुझे मन्दिर में ले जाकर समझाया था इसलिए मैं ठीक समझ सका।' तब उन्होंने मेरे सामने कागज पेन्सिल रखी और कहा, 'बताओ मैंने क्या समझाया और तुम क्या समझे।' तो मुझे लकीरें खींचकर बताना पड़ा और सुनना भी पड़ा कि मैं केवल आधा ही समझ पाया। फिर से वे मुझे मन्दिर ले गये और एक एक खम्भे का डिज़ाईन बनाकर उन्होंने असली प्रपा क्या होती है, उसका साधारण विवेचन किया। अध्ययन और शोधकार्य में कितना कुतूहल और गहराई चाहिए, यह पाठ मुझे इसमें से मिला। वहीं पूज्य यतिराज रामानुज मुनि आज भी उम्र की इक्यानवे पार करते हुए उतने ही सजग सक्रिय हैं जितने मुझे उनतालीस साल पहले दिखाई देते थे। सन् उन्नीस सौ चौतीस में जिस 'पौष्कर संहिता' के वे प्रकाशक थे और उनके पिताजी ने जो सम्पादित की थी उसकी चिकित्सक आवृत्ति आंगलानुवाद के साथ मैंने तैयार की जो 1997 में तिरुपति से प्रकाशित हुई। उसमें उनका आशीर्वचन समाविष्ट है और अगले साल जो उसका दूसरा खण्ड प्रकाशित होगा, उसमें भी उनका पुरस्कार रहेगा। पूजनीय यतिराज स्वामी जी का चातुर्मास अनुष्ठान आयोजित करने का महत् सौभाग्य मेरे परिवार को गत वर्ष मिला, यह भगवान् की कृपा है। इस साल चेन्नई का चातुर्मास अनुष्ठान सम्पन्न होने पर जब मैं उनके साथ हैदराबाद गया तब तिरुपति विद्यापीठ के निदेशक डा० आर. शर्मा और पं० यतिराज रामानुज मुनि जी का समसमा संयोग और सम्वाद सुनने और अनुभव करने का सौभाग्य मुझे मिला। दोनों ऋषि तुल्य गुरुवर—एक नब्बे साल से कुछ कम और दूसरे कुछ ऊपर। डा० बी.आर. शर्मा तो हमारे निदेशक रहे। लेकिन जब एक बार वे मेरे घर पर पुणे में आए थे और मैं कहीं गया हुआ था तब कुशल प्रश्न पूछते समय उन्होंने मेरी पत्नी से सीधा सवाल पूछा, 'डा० आपटे कौन सा अपना निजी शोध कार्य कर रहे हैं?' अगली बार जब मैंने उनसे मिलकर मेरे अंगीकृत शोधकार्य का ब्यौरा दिया तभी वे सन्तुष्ट हुए।

गुरुजनों का एक और संस्मरण प्रस्तुत कर मैं निवेदन समाप्त करूंगा। पूज्य यतिराज रामानुज मुनिवर को लेकर मैं भंडारकर इन्स्टिट्यूट गया था और मुलाकात हुई डा० दाण्डेकर जी से। पूज्य यतिराज स्वामी जी ने याद दिलाई सत्तर बरस पुरानी जब उनके पिताजी ने महाभारत के लिए अतिमूल्यवती ग्रन्थ लिपि की तालपत्र वाली पाण्डुलिपि भेंट दी थी।

डा० दाण्डेकर जी ने स्वामी जी की उम्र पूछते हुए कहा, 'आप मुझसे चार महीने बड़े हैं। I Seek blessings from you.' पूज्य स्वामी जी बोले, 'Dr. Dandekar, For the sake of Sanskrit and Indology you should live long. Complete century. Celebrate your centenary.' और एक क्षण रुककर कहा, "and invite me for the function," उपस्थित ज्येष्ठ विद्वान् हंस पड़े। बस उदात्त संवाद का उतना ही उदात्त विनोद प्रियता का स्तर।



लेखक परिचय

प्राच्य विद्या, विशेषकर संस्कृत का पाण्डित्य तथा विधि ज्ञान का मणि-कांचन विरल संयोग जिस व्यक्ति में हुआ है उन्हीं मां शारदा के लाडले पुत्र का नाम है श्री प्रभाकर पाण्डुरंग आपटे। आपटे जी का जन्म 21 फरवरी 1933 को महाराष्ट्र के अष्टे नामक स्थान पर पिता पांडुरंग गणेश आपटे तथा माता श्रीमती रुक्मिणी के घर पर हुआ। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा किलोस्कर

वाडी में हुई। तत्पश्चात् आपने विलिंगडन कालेज सांगली से संस्कृत विषय लेकर सन् 1954 व 1956 में बी.ए. और एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की। पीएच.डी. की शिक्षा सुप्रसिद्ध शिक्षा संस्थान फर्गुसन कालेज के प्राचार्य डॉ० माईणकर के मार्गदर्शन में पुणे विद्यापीठ पुणे में हुई। 'पाञ्चरात्र आगम' के समान दुरुह तथा अप्रचलित विषय पर गहन गम्भीर अध्ययन तथा वास्तविक अर्थों में अनुसन्धान करके आपने पीएच.डी. की उपाधि 1965 में प्राप्त की। इस अनुसन्धान प्रक्रिया में आप विश्व प्रसिद्ध विद्वानों तथा पण्डितों के निकट साहचर्य में आए। संस्कृत की इस साधना के साथ ही आपने विधि का अध्ययन किया। सन् 1959 में विधि महाविद्यालय पुणे से बी.एल. अर्थात् एल.एल.बी. तथा 1971 में एम. एल्. की उपाधि प्राप्त की।

डा० प्रभाकर आपटे ने बहुत महत्त्वपूर्ण पदों का दायित्व सम्भाला है। वे 1968 से 1970 तक आगम कोश विभाग, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति में व्याख्याता सम्पादक रहे। संस्कृत कोश, डेक्कन कालेज पुणे में 1974 से 1993 तक प्राध्यापक-सम्पादक पद पर कार्यरत रहे। इतिहास अनुसन्धान परिषद् दिल्ली में 1994 से 1997 तक अनुसंधाता रहे। 1997 से आप अनन्ताचार्य संशोधन संस्था मुम्बई में अतिथि प्राध्यापक के पद पर कार्यरत हैं। इसके साथ ही आप मद्रास विद्यापीठ में 1998-1999 में अभ्यागत प्राध्यापक पद पर रह चुके हैं। महाराष्ट्र उच्च न्यायालय मुम्बई में आप 1961 से एडवोकेट रहे हैं। अनुसन्धाता-गवेषक डा० पाण्डुरंग आपटे समय समय पर अनेक महत्त्वपूर्ण संगोष्ठियों तथा सम्मेलनों में सहभागिता करते रहते हैं। प्राच्य विद्या परिषद् के अलीगढ़, कुरुक्षेत्र,

शान्तिनिकेतन, जयपुर, अहमदाबाद, पुणे, धारवाड़, विशाखापत्तनम् और बड़ौदा के सम्मेलनों में आपने सहभागिता की तो कोशविज्ञान परिषद् के तिरुअनन्तपुर, चण्डीगढ़, आगरा तथा मैसूर की संगोष्ठियों में आप सम्मिलित हुए। इतिहास परिषद् के अलीगढ़ और चेन्नई सम्मेलन और 'प्राचीन विज्ञान तन्त्र ज्ञान' 1974, और 1977 के मुम्बई, चेन्नई सम्मेलन में आपका सक्रिय सहयोग रहा। 'विश्व संस्कृत सम्मेलन' के फिलाडेल्फिया, लायडन, वाराणसी, दिल्ली और बैंगलौर की गोष्ठियों में आप सम्मिलित हो चुके हैं।

भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान, मुम्बई में भारतीय दर्शनों का परिचय और संस्कृत साहित्य का परामर्श इन विषयों पर 1985 से 1992 तथा आपने निमन्त्रित व्याख्याता के रूप में व्याख्यान दिए। इसके अतिरिक्त मुम्बई, चेन्नई, उडुपी, कालड़ी, कोचीन, वाराणसी, इलाहाबाद, जबलपुर, पाण्डिचेरी, पुणे, रत्नगिरी कोल्हापुर, भोपाल के अतिरिक्त पैरिस तथा मांट्रिआल में भी आप निमन्त्रित व्याख्याता के रूप में जा चुके हैं। आगम वास्तु विज्ञान, कोश विज्ञान, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, प्राची विज्ञान व तकनीकी पर डा० आपटे के पचास से अधिक शोध निबन्ध प्रकाशित हैं। पौष्कर संहिता का सम्पादन तथा अनुवाद का श्रेय भी आपको है। फ्रँको-हिंदु ज्युरिसप्रुडन्स और ग्रीकोरोमन ओर हिंदु स्थापत्य पर विशेष अन्वेषण प्रकल्प में कार्यरत हैं। आपकी विद्वता का ही परिचायक है कि विश्व संस्कृत सम्मेलन के हालैण्ड के अधिवेशन में आप भारत के प्रतिनिधि थे, साथ ही आगम विभाग की अध्यक्षता का गौरव भी आपको मिला। सर्वार्थ संक्षेप समिति, नई दिल्ली ने आपको 'आगम विशारद' की उपाधि से 1995 में सम्मानित किया तो वास्तुवेदिक रिसर्च फाउण्डेशन, तिरुअनन्तपुरम ने 1997 में 'वास्तुविद्या प्रवीण' की उपाधि से आपको अलंकृत किया। आप एसोसिएशन ऑफ आर्किटेक्ट्स एण्ड इंजीनियर्स, कोल्हापुर के मानद सदस्य भी हैं। वास्तुवेदिक रिसर्च फाउंडेशन के महाराष्ट्र प्रान्त के अध्यक्ष पद का कार्यभार सम्भाल रहे हैं।



मेरे अनुकरणीय गुरु

डा० के.के. शर्मा

आज अनुकरणीय गुरु पर अपना लेख लिखते समय मैं न यह सोच पा रहा हूँ और न समझ ही पा रहा हूँ कि किसे अनुकरणीय कहूँ, किसे मार्गदर्शक कहूँ और किसे आलोक प्रदान करने वाला। मेरे जीवन की यात्रा बड़ी विचित्र है। प्राइमरी स्कूल में जब पिताजी ने दाखिल कराया तो वहाँ एक ऐसे गुरु के दर्शन हुए जिनका नाम तो मुझे स्मरण नहीं है, परन्तु उनके क्रिया कलाप अच्छी तरह याद हैं। हमारे गुरु इतने क्रोधी थे कि जरा जरा सी बात पर बच्चों को मुर्गा बनाना और फिर डण्डे से पिटाई करना उनका नियम था, आदत थी अथवा उस समय की प्रचलित परम्परा— कुछ कह नहीं सकता। जिस बेरहमी से वे मारते, वह मुझे सहन नहीं था। एक दिन मेरा भी नम्बर आ ही गया। वे बेंत लेने के लिए जैसे ही अन्दर कमरे में घुसे मैंने भागकर कमरे का कुण्डा बाहर से बन्द कर दिया और बाहर रखा ताला उठाकर लगा दिया। वहाँ से मैं सीधा देवीकुण्ड पाठशाला पहुँच गया। पिताजी का भय था इसलिए घर नहीं गया। संस्कृत पाठशाला के सभी अध्यापकों और बड़े गुरुजी ने मुझे भोजन करवाया और मैं वहीं सो गया। जब मेरी दूढ़ पड़ी तो शाम को बड़े भाई बनवारी लाल (गृह सेवक) मुझे खोजते हुए देवीकुण्ड आए। मैंने सारी बात उन्हें बता दी और वे अपने साथ मुझे घर ले गए। उसी दिन से मेरे मन में अध्यापकों के प्रति एक विरक्ति सी हो गई। बचपन था, खुला मन था, मस्तिष्क भी अविकसित था अतः वह छाप गहराई से मन में उतर गई। उसके बाद एच.ए.वी. इंटर कालिज देवबन्द में पांचवी कक्षा तक पढ़ा। केवल एक अध्यापक, श्री सतीशचन्द्र सम्भवतः उनका नाम था, का सारे विद्यालय पर प्रभाव था। वे बच्चों को मारते नहीं थे केवल समझाते थे, उनसे ज्यादा सम्मान शायद किसी और अध्यापक का नहीं था। बालक मन ने भीतर से कहा, गुरु ऐसा होना चाहिए।

1942 में पिताजी देवबन्द से सहारनपुर आ गए। 1943 में हम लोग भी वहीं आ गए। मैं उस समय पांचवी कक्षा का विद्यार्थी था। जैन हाई स्कूल में हमें प्रवेश दिलवाया गया। यहां पर कुछ अध्यापक छात्रों के साथ वैसा व्यवहार करते थे जैसे मेरे प्राइमरी स्कूल के अध्यापक ने किया था। बच्चे को मुर्गा बनाना, उसके ऊपर ईंट रखना और उनके सिर पर हाथ से मारना उनकी प्रायः आदत थी। यहाँ के अध्यापकों में मुझे केवल एक अध्यापक पं० गीताराम शर्मा जी ने सबसे अधिक प्रभावित किया। उनकी

कथनी और करनी में कोई अन्तर नहीं था। उनकी गणना आदर्श अध्यापकों में होती थी। उनके सजा देने का तरीका भी विचित्र था। जब मैं छठी क्लास में था तब वे हमें हिन्दी पढ़ाते थे। एक बार की घटना का मुझे स्मरण है कि उन्होंने हिन्दी शब्दों के अर्थ लिखवाए और सभी विद्यार्थियों से उन्हें याद कर आने की हिदायत दी। मैंने अर्थ याद नहीं किए और अगले दिन उन्होंने जब एक शब्द का अर्थ पूछा तो मैं बता नहीं पाया। उन्होंने मुझसे कहा 'कृष्ण कुमार, जाओ एक गिलास पानी ले आओ।' मैं पानी ले आया तो उन्होंने सवा गज जमीन अपने पांव से नापी और मुझसे कहा, 'इसे पानी से धो दो' मैंने धो दिया। उन्होंने मुझसे कहा 'इस पर पैरों के बल बैठ जाओ' और मुझे सम्बोधित करके क्लास को बताते हुए बोले, 'अब तुम्हें दान कर दूँ? तुम्हें शर्म नहीं आ रही है कि तुम ऐसे परिवार में पैदा हुए हो जिनके द्वारा हमारे जिले की हिन्दी का विस्तार हो रहा है। बस मुझे कुछ और नहीं कहना।' उनका वह कथन मुझे न जाने कहाँ छू गया। उसके बाद जीवन में यह निर्णय कर लिया कि कक्षा में दिये हुए कार्य को पूरा किये बिना विद्यालय नहीं जाऊँगा। हिन्दी हो या अंग्रेजी, कठिन शब्दों के अर्थ याद करूँगा और डिक्शनरी देखूँगा। उसी दिन से मेरी आदत बन गई कि पढ़ते समय जो शब्द समझ नहीं आया, मैंने डिक्शनरी देखने में कभी आलस्य नहीं किया।

बचपन से ही मां स्व० श्रीमती ब्रह्मी देवी ने शिक्षा दी थी 'स्वाभिमान से जीना। अन्याय के सामने कभी सिर नहीं झुकाना, अन्यायी चाहे तुम्हारे गुरु हों या तुम्हारे पिता'। मेरी मां मेरा आदर्श थीं। उनके वाक्य ब्रह्मवाक्य होते थे। भावी जीवन में अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करने की भावना ने मन में घर बना लिया।

हाई स्कूल पास करने के बाद शाकम्परी दास इन्टर कालिज सहारनपुर से इन्टर किया। वहाँ कोई अध्यापक तो मुझे प्रभावित नहीं कर सका परन्तु बारहवीं कक्षा में जब मैं आया तो विद्यालय के नए प्रधानाचार्य श्री जी.एन. चैटर्जी की छाप बड़ी गहरी पड़ी। हंसमुख परन्तु रोबीला चेहरा, मुँह पर हल्के से माता के दाग— पूरी तरह से शिक्षक, विद्यालय और छात्रों के लिए समर्पित। अजीब व्यक्तित्व था उनका। हमारी कक्षा में लगभग सत्तर छात्र थे। सत्र के शुरु होते ही आन्दोलन कर दिया कि गत वर्ष पत्रिका नहीं छपी इसलिए हमारा पैसा वापस किया जाए। जब मामला प्रधानाचार्य तक पहुँचा तो उन्होंने पांच मिनट में सारा मामला रफा दफा कर दिया। उन्होंने कहा, 'छात्रों, जब आप अपना प्रवेश पत्र लेने आएंगे तब आपको आपके पैसे मिल जाएंगे।' सब छात्र बहुत खुश, प्रिन्सिपल की जय जयकार और सचमुच उन्होंने ऐसा ही किया। जब हम प्रवेश पत्र लेने गए तब उन्होंने क्लर्क को कहा, 'प्रत्येक के दो दो रुपए वापस कर दो' और स्वयं कुर्सी डालकर बरामदे में बैठ गए। जो छात्र पैसे लेकर बाहर निकला उससे कहा, 'दो रुपए मुझे विद्यालय के लिए दान दे सकते हो?' और सभी छात्रों ने पैसे वापस कर दिये।

जीवन में पहली बार किसी प्रधानाचार्य से मैं प्रभावित हुआ। मन को लगा, जो कार्य दण्डात्मक तरीकों से नहीं किया जा सकता वह प्यार और दुलार से किया जा सकता है।

इन्टर की परीक्षा पास कर इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रवेश लेने के लिए सभी पत्राजात पूरे कर लिए तब मेरे बड़े भाई विजय कुमार शर्मा ने, जो इलाहाबाद विश्वविद्यालय के छात्र थे, पत्राजात देखकर कहा, 'इसमें चरित्र प्रमाण-पत्र नहीं है। वह अलग से होना चाहिए।' गाड़ी छूटने में उस समय मुश्किल से तीन घन्टे बाकी थे। रात्रि में ढाई बजे पंजाब मेल से जाना था। विचित्र स्थिति थी। अब क्या करें? हमारे प्रधानाचार्य श्री जी.एन. चैटर्जी गर्मियों की छुट्टियों में विद्यालय में ही आकर रहने लगते थे। रात के बारह बजे किसी सम्भ्रान्त व्यक्ति का दरवाजा खटखटाना वैसे भी अच्छा नहीं लगता, अनुचित भी है और वे तो हमारे प्रधानाचार्य हैं। परन्तु विवशता और आवश्यकता ने मुझे मजबूर कर दिया। मैं विद्यालय पहुंचा, चपरासी मंगल को कहा, 'प्रधानाचार्य जी को उठा दो' परन्तु वह हिम्मत नहीं जुटा पाया। 'मैंने स्वयं ही उनके कमरे का दरवाजा खटखटाया। वे जाग गए तथा जोर से पूछा 'कौन?' मैंने नाम बताया। वे उठे, पूछा 'क्या बात है?' मेरी बात सुनकर उन्होंने चपरासी से दफ्तर खुलवाया और स्वयं ही प्रमाणपत्र टाइप कर मुझे दे दिया। बस इतना ही कहा, 'समय से आवश्यक पत्रों को ठीक कर लेना चाहिए।' न डांट, न फटकारा परन्तु उनकी बात मेरे हृदय में आज तक अपना घर बनाये हुए है। शायद ही आज कोई ऐसा प्रधानाचार्य हो जो अपने छात्रों के लिए इस प्रकार कार्य कर सके।

क्या व्यक्तित्व था चैटर्जी साहब का! अपने छात्रों के विषय में वे अपने को कितना सम्बद्ध अनुभव करते थे, इसकी जानकारी मुझे मिली तब जब मैं एम.ए. प्रथम वर्ष का छात्र था। इलाहाबाद के चौक बाजार में मैं अपने मित्रों के साथ घूम रहा था कि बड़े जोर से कड़के की आवाज आई 'कृष्ण कुमार'। आवाज चैटर्जी साहब की थी परन्तु वे दिखाई नहीं दे रहे थे। मैंने चारों तरफ देखा, एक दूकान पर खड़े वे हाथ हिला रहे थे। मैं और मेरे साथी वहाँ पहुँचे। मैंने पांव छूए और आशीर्वाद लिया। उन्होंने पूछा 'यहाँ कहाँ घूम रहे हो?' मैंने उत्तर दिया, 'सर, सामान लेना था।' उन्होंने जानकारी चाही मैं कौन से हॉस्टल में रह रहा था। जानकारी लेकर बोले, 'सुबह खाना तुम्हारे साथ खाऊँगा। दस बजे हॉस्टल पहुंच जाऊँगा।' यह सुनकर मेरे देवता कूच कर गए। हम फौरन हॉस्टल चले गए। महाराज से कहा कि दस बजे खाना तैयार होना है। हॉस्टल में रहने वाले सहारनपुर के सभी छात्रों को चैटर्जी साहब के आने और खाना खाने की सूचना दी। उस दिन रात को नींद भी कम आई, धक धक होती रही। सुबह सफाई आदि करवा कर निश्चिन्तता की सांस ली। दस बजने में पांच मिनट पर चैटर्जी साहब रिक्रशे से हॉस्टल के फाटक पर उतरे, मेरे कमरे तक गए, मेरे साथियों से मिले और कर दिया अपना इन्स्पेक्शन का

काम शुरू। कमरे का सारा सामान देखा और जितनी देर में भोजन की तैयारी होती उन्होंने हॉस्टल के बाथरूम, शौचालय, रसोई सब कुछ देख डाला। भोजन किया और फिर इविंग क्रिश्चियन कालिज में प्रयोगात्मक परीक्षा लेने चले गए। इतने वर्षों बाद भी मैं आज सोचता हूँ कि क्या कोई प्रधानाचार्य अपने छात्रों के विषय में इस भांति निकट की जानकारी प्राप्त करेगा। वास्तव में वे शिक्षा के प्रति पूरी तरह समर्पित थे। मैं आज जो अपने छात्रों में इतनी अधिक रुचि लेता हूँ, शायद यह वही संस्कार मेरे भीतर है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय में दाखला तो मिल गया था परन्तु वहाँ हॉस्टल में दाखले की समस्या होती है। मेरे जैसे व्यक्ति को तो और भी अधिक हुई। उस समय संस्कारों से मैं पूरी तरह पण्डित था। अगर किसी ने खाते समय थाली छू दी तो खाना छोड़कर उठ जाता था। अतः ऐसे छात्रावास की आवश्यकता थी जहाँ शुद्ध भोजन मिले और प्याज तक का प्रवेश निषिद्ध हो। इस दृष्टि से केवल जैन हॉस्टल ही उपयुक्त था और इसी में सहारनपुर के अधिकांश छात्र, विशेषकर जैन परिवारों के लड़के, प्रवेश लेते थे। उस वर्ष हॉस्टल में प्रथम वर्ष के छात्रों की संख्या अधिक थी और हम सब रैगिंग के खिलाफ थे। सबने मिलकर योजना बनाई कि वरिष्ठ छात्रों की पिटाई करेंगे और उस के लिए बाग में से डण्डे काट लाए। जब हम इसकी तैयारी कर ही रहे थे तो सुबह हमारे वार्डन साहब श्री लालमोहन बैनर्जी, जो मिट्टू बाबू के नाम से प्रसिद्ध थे, और अपने समय के प्रथम भारतीय रेलवे मजिस्ट्रेट रह चुके थे, आए और उन्होंने अपने अध्ययनकाल के रैगिंग के किस्से सुनाए। उन्होंने बताया कि रैगिंग बहुत जरूरी है, इससे परस्पर परिचय होता है। एक दूसरे को जानने और समझने का मौका मिलता है। छोटों द्वारा बड़ों का सम्मान करना सिखाया जाता है और छात्रावास में रहने के कायदे बताये जाते हैं। परन्तु रैगिंग करते समय बड़ों को भी ध्यान रखना चाहिए कि वे मारपीट न करें और न ही अश्लील व्यवहार करें। उनकी बात का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा कि हमने अपना इरादा बदल दिया और आपस में बैठकर तय कर लिया कि रैगिंग का कोई विरोध नहीं करेगा। पांच रुपए प्रथम वर्ष के छात्र और तीन रुपए द्वितीय वर्ष के छात्र इकट्ठा करके दावत करेंगे। उस परिचय-मिलन के अवसर पर चीफ प्रीफेक्ट मिश्रा ने कुछ अशोभन व्यवहार किया जिससे मुझे उससे चिढ़ हो गई। रात में जब हाजरी का कागज आता तो मैं अलग अलग भाषाओं में उसमें हस्ताक्षर करता और मिश्रा को गलत नामों से पुकारता। एक दिन मिश्रा ने वार्डन से शिकायत कर दी। वार्डन साहब ने मुझे बुलाया और बहुत जोर से बोले, 'क्या बदतमीजी मचा रखी है। जाइए हॉस्टल खाली कर दीजिए'। हॉस्टल खाली करने के नाम पर मेरे पैरों तले से मानो धरती ही खिसक गई और मैंने कहा, 'सॉरी सर, आगे ऐसा नहीं होगा।' तब वह और ज्यादा गुस्से में बोले, 'गेट आउट, माफ कर दो- चले आते हैं पढ़ने। मुझे इस तरह के कमजोर आदमी पसन्द नहीं।' मैं अजीब उलझन में था

कि क्या करूँ। जब सहारनपुर के वरिष्ठ साथियों को यह बात बताई तो उन्होंने कहा, 'तुम मिट्टू बाबू की आदत जानते ही नहीं। वे साहसी और दृढ़ आदमियों को पसन्द करते हैं। तुम्हें दृढ़ता से मिश्रा की बात को काटना चाहिए था।' तीसरे दिन मिश्रा के साथ मैं फिर उलझ गया। मेरी फिर शिकायत हुई। वार्डन साहब के सामने फिर से पेशी हुई। इस बार मेरा रंग बदला हुआ था। मैंने पूरी दृढ़ता से कहा, 'जो करना हो कर लीजिए। निकाल दीजिए हॉस्टल से। गलती मिश्रा की ही है।' वे यह सुनकर खड़े हो गए और मैं भय से आशंकित। उन्होंने मेरे पास आकर मेरी पीठ थपथपाई और कहा, 'शाबास, मुझे ऐसे ही छात्र चाहिए' और अगले रोज जब वे सुबह हॉस्टल अपने नियमित राउण्ड पर आए तो मिश्रा की भर्त्सना की कि वह छोटी छोटी बातों की शिकायत क्यों करता है। मैंने निडरता, दृढ़ता, साहस और सत्य के लिए अड़ने का पाठ उनसे सीखा। मिट्टू बाबू ने हमको जातिभेद से ऊपर उठने की सीख न केवल उपदेशों से दी अपितु अपने व्यवहार से भी सिखाया क्योंकि उनके घर का कामकाज एक जमादारनी करती थी। छुआछूत की भावना से ऊपर उठकर कार्य करने के संस्कार उन्हीं से मिले। मिट्टू बाबू की एक बात और ध्यान आ रही है गरीबों और दलितों के प्रति उनका व्यवहार। एक दिन सुबह चार बजे जब हम लोग पढ़ रहे थे बाहर से किसी को बेंत से मारने की आवाज आई। देखा तो मिट्टू बाबू एक सम्भ्रान्त व्यक्ति को बेंत से मार रहे थे। पूछने पर ज्ञात हुआ कि उस व्यक्ति ने सोते हुए रिक्शा वाले को उठाकर स्टेशन चलने के लिए कहा और मना करने पर उसे मारा। गरीब आदमी को बिना गलती के मारने पर उसे मिट्टू बाबू ने दण्ड दिया। मिट्टू बाबू तीन वर्ष तक हमारे वार्डन रहे। हमने उनसे बहुत कुछ सीखा—संवेदनशीलता, पारस्परिक व्यवहार, छोटे-बड़े का सम्मान और सामाजिक समानता। वे मेरे औपचारिक गुरु तो नहीं थे परन्तु गुरु तुल्य हैं और आज लगभग पैंतालीस वर्ष व्यतीत होने पर भी जब कभी विश्वविद्यालय में बिताये गए दिनों की याद आती है और कहीं बातचीत होती है तो ऐसा नहीं हो सकता कि मिट्टू बाबू का उल्लेख न होता हो।

1950 से 1954 तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय में अध्ययन किया। उस समय विश्व प्रसिद्ध विद्वानों से मिलने और पढ़ने का अवसर मिला। उनमें से कुछ ऐसे प्राध्यापक रहे जिनकी अमिट छाप आज भी मस्तिष्क पर अंकित है। शायद मैंने अपने अध्यापन काल में बहुत कुछ उनकी शैली को ही अपनाया। उनमें से कुछ प्रमुख अध्यापक जिन्हें मैं आज भी अनुकरणीय गुरु के रूप में मानता हूँ में से एक हैं— श्री जे०एस० नेगी, जो प्राचीन इतिहास पढ़ाते थे। वे इतिहास ऐसे पढ़ाते थे जैसे वे बोल रहे हों और हम इतिहास लिख रहे हों लेकिन वह डिकटेनर नहीं था। वह घटनाओं की इतनी जानकारी थी कि कई पुस्तकें एक साथ पढ़ने के बाद भी वह सामग्री हमें उपलब्ध नहीं होती थी। उस समय बी०ए० में पढ़ा हुआ प्राचीन भारत का इतिहास आज तक कण्ठस्थ है। वे कक्षा में

अनुशासित प्राध्यापक थे परन्तु कक्षा से बाहर उनका मित्र जैसा व्यवहार था। उन्हें बहुत निकटता से जानने और समझने का अवसर मिला जब प्राचीन भारत के छात्रों का हमारा बैच कौशाम्बी में उत्खनन के प्रशिक्षण के लिए गया। वहां उन्होंने हमें उत्खनन करते समय उसकी बारीकियों को समझाया, लेअर और पिट का अन्तर बताया और जमीन की खुदाई का तरीका बताया। हुआ यूं कि खुदाई करते हुए एक दिन हम को एक शिलालेख की प्राप्ति हुई। उस समय प्रोफेसर नेगी वहां उपस्थित नहीं थे। उनके आने पर जब उन्हें वह शिलालेख दिखाया तो वे उसके ऐतिहासिक मूल्य को आंक कर प्रसन्न तो हुए क्योंकि वह घोसीताराममठ का महत्त्वपूर्ण शिलालेख था परन्तु साथ ही उसका कोना टूट जाने के कारण गुरुजी अप्रसन्न भी हुए। तब उन्होंने हमें समझाया कि ऐसा उत्खनन छोटे उपकरणों से किया जाता है न कि कुदाल से जैसा कि हम लोग कर रहे थे।

बी०ए० के प्रथम वर्ष में हमें भारत प्रसिद्ध अंग्रेजी के विद्वान् श्री एस०सी० देव महोदय से पढ़ने का सौभाग्य हुआ। उन्होंने और तो जो कुछ पढ़ाया वह महत्त्वपूर्ण था परन्तु हमें जो Gradation of words उन्होंने पढ़ाया वह आज तक हमारे लिए अत्यधिक लाभदायक सिद्ध हो रहा है। सामान्यतया हम पर्यायवाची शब्दों को एक दूसरे के स्थान पर प्रयोग कर लेते हैं जबकि उन्होंने उन शब्दों के सूक्ष्म अन्तर को समझाया। यही कारण है कि मैं भाषा में कभी अनुचित शब्द का प्रयोग न तो स्वयं करता हूं और न दूसरों को करने देता हूं।

एम०ए० राजनीति शास्त्र करते समय जिन गुरुओं से मैं बहुत प्रभावित हुआ वे थे कैप्टन ए०बी० लाल, श्री ए०डी० पन्त, डा० एम०जी गुप्ता और डा० ईश्वरी प्रसाद। कैप्टन ए०बी० लाल ने हमें मार्डन पालिटिकल थॉट पढ़ाया। उनकी कक्षा प्रारम्भ होने के बाद कोई कक्षा में प्रवेश नहीं कर सकता था। उनका कठोर अनुशासन था। एक बार सहारनपुर से इलाहाबाद जाने वाली ट्रेन लेट हो गई। जब मैं पहुँचा तो लेक्चर प्रारम्भ हो चुका था। मैंने बाहर खड़े होकर उनका भाषण सुना और घण्टा समाप्त होने के बाद उनसे मिला तथा उपस्थिति लगाने का अनुरोध किया। उनका उत्तर था, 'मैंने तुम्हें देख लिया है और नोट कर लिया है। यदि एक हाजरी के कारण परीक्षा से रोके जाते हो तो मैं गवाही दूंगा कि तुमने लेक्चर पूरा सुना परन्तु हाजरी हो चुकी थी इसलिए उपस्थिति नहीं लगाई गई।' उनका लेक्चर बिल्कुल विषय से सम्बद्ध और गम्भीर होता था। उनका पढ़ाया हुआ हॉब्स लाक, रुसो, ग्रीन और हीगल का आदर्शवाद का सिद्धान्त आज भी इतने वर्षों बाद मुझे जबानी याद है। दूसरी बात जो हमने उनसे सीखी वह थी कि अध्यापक को खुशामद पसन्द नहीं होना चाहिए। एक दिन जब वे सेमीनार ले रहे थे तब एक छात्र, जो पुलिस विभाग में अच्छे पद पर था, उनके कक्ष में आया और कहने लगा, 'सर आप बहुत अच्छा पढ़ाते हैं। और कोई ऐसा नहीं पढ़ाता है।' उन्होंने उत्तर

दिया, 'गेट आउट एण्ड दैन एन्टर।' और तब कहा, 'किसी अध्यापक के सामने इस तरह की बात मत करना।' सत्र समाप्त होने पर अपने अन्तिम लैक्चर में उन्होंने छात्रों को कहा था, 'देखो, कभी जीवन में कमीना मत बनना। हमेशा शार्टकट रास्तों से न जाकर खुले रास्तों से जाना।' ये दोनों बातें जीवन में बहुत उपयोगी सिद्ध हुई।

श्री ए०डी० पन्त के पढ़ाने का तो कोई जबाब ही नहीं था। वे हमें हिस्टोरिकल रिलेशन्स पढ़ाते थे। कक्षा में आते ही लेक्चर प्रारम्भ कर देते और अफ्रीका का इतिहास इस प्रकार पढ़ाते थे जैसे अफ्रीका के नगरों से गुजर रहे हों। फसोदा संकट पढ़ाते समय उन्होंने ऐसा दृश्य उपस्थित किया मानो नील नदी के एक किनारे से ब्रिटेन की सेनाएं और दूसरे किनारे से फ्रान्स की सेनाएं आकर आमने सामने युद्ध के लिए खड़ी हो गई हों। उनके दरवाजे विद्यार्थियों के लिए हमेशा खुले होते थे।

डा० एम०जी० गुप्ता अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध, विशेष रूप से हिटलर, पढ़ाते समय इतने भावुक हो जाया करते थे कि छात्र तक रोमांचित हो जाते थे।

मेरा सौभाग्य है कि मुझे विश्व प्रसिद्ध इतिहासकार डा० ईश्वरी प्रसाद जी से भी पढ़ने का अवसर मिला। 1953 में हमारा अन्तिम बैच उन्होंने पढ़ाया, फिर सेवा निवृत्त हो गए। बन्द गले का कोट, पैन्ट, छोटा कद, हंसमुख चेहरा और गोल टोपी—यह उनका बाहरी रूप था। डा० राधाकृष्णन् के बाद उस समय उनसे अच्छा वक्ता और किसी को नहीं माना जाता था। उनके लैक्चर से पहले उनका चपरासी भागा भागा आता और कहता—'आज क्लास होगी' परन्तु कुछ समय बाद पता चलता कि प्रोफेसर साहब हाई कोर्ट या अन्य कहीं भाषण देने चले गए। जिस दिन उनकी क्लास होती थी तब समय का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता था। दो दो तीन—तीन घन्टें क्लास चलती। प्राचीन राजनैतिक सिद्धान्त और फ्रैन्च रैवोल्यूशन के तो वे विशेषज्ञ थे। हमारी क्लास का आलम यह होता था कि कक्षा में छात्रों के अतिरिक्त अन्य विषयों के छात्र, अध्यापक और पास के न्यायालय से वकील आदि भी आकर उनका लैक्चर सुनते। कक्षा से बाहर बरामदे तक खचाखच भरा रहता। लोग टकटकी बांधे, ध्यानपूर्वक उनका भाषण सुनते थे। उनसे हमने पढ़ना सीखा, पढ़ाना सीखा और सबसे बड़ी सीख यह ली कि कोई भी काम करने से व्यक्ति छोटा नहीं हो जाता है। यह सीख ईश्वरी प्रसाद जी के किसी उपदेश या भाषण से नहीं सीखा, सीखा उनके आचरण से। हुआ यूं कि अभी नया नया विश्वविद्यालय में बी०ए०में प्रवेश लिया था। किसी को जानता नहीं, पहचानता नहीं। एक दिन विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के रीडिंग रूम में पुस्तक लेने के लिए काउन्टर पर चिट दी। काफी देर खड़े रहने के बाद भी जब पुस्तक नहीं आई तो साथ में खड़े एक साथी ने जानकर या अनजाने में मुझसे कहा, 'गोल टोपी ओढ़े जो बुढ़ा खड़ा है, उस चपरासी से कहो। वह किताब ला देगा।' मैंने आव देखा ना ताव और कहा 'इधर आइए, यह किताब लाइए।'।

स्वयं तो लाभान्वित होता ही है, अन्यो में उसे वितरित कर उन्हें भी लाभान्वित कर देता है। यह मां भगवती की कृपा ही थी जिसने मुझमें वह चेतना जागृत की जिससे मैंने गुरुजनों से जो प्राप्त किया वह मैं अपने विद्यार्थियों में वितरित कर पाया।



लेखक-परिचय

विश्व-इतिहास, एशिया के इतिहास, राष्ट्रीय इतिहास, प्रदेश के इतिहास से हटकर, सच्चे अर्थों में क्षेत्रीय इतिहास— अपने जनपद सहारनपुर के इतिहास में रुचि लेने, उसे प्यार करने, उसे पढ़ने, उसमें गहराई में जाकर शोध करने और समस्त पहलुओं से उस इतिहास को रचने वाले डा० के. के. शर्मा अर्थात् कृष्ण कुमार शर्मा का जन्म सहारनपुर जनपद के शिक्षा, संस्कृति, धर्म सभी दृष्टियों से विलक्षण देवबन्द नामक कस्बे में 3 जुलाई 1933 को एक साहित्यिक, देशभक्त, सम्मानित परिवार में हुआ। पितामह अर्थात् पिता के चाचा यशःकाय पद्मश्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' हिन्दी साहित्य में शैलीकार, पत्रकार, हिन्दी रिपोर्ताज के जनक रूप में चिर स्मरणीय हैं तो पिता नामशेष आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र 'लघुकथा के जनक' नाम से सुविख्यात हैं। माता स्वर्गीया ब्रह्मीदेवी नीतिपरायणा, कर्तव्यपराणा और धर्मशीला महिला थीं।

कृष्णकुमार जी की इन्टरमीडिएट तक की शिक्षा सहारनपुर जैन इन्टर कालिज तथा एस.डी. इन्टर कालिज से 1950 में पूर्ण हुई। बी.ए. तथा एम.ए. राजनीति शास्त्र की परीक्षाएं उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से क्रमशः 1952 तथा 1954 में उत्तीर्ण की। प्राचीन भारत को विशेष अध्ययन का विषय बनाते हुए उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय से 1961 में इतिहास की एम.ए. परीक्षा विश्वविद्यालय में पांचवां स्थान लेकर उत्तीर्ण की। स्नातक कक्षा में पढ़ते हुए ही उन्होंने साहित्यरत्न की उपाधि भी प्राप्त कर ली थी। आगरा विश्वविद्यालय से 1970 में इतिहास में आपने पीएच.डी. की उपाधि अर्जित की।

प्रारम्भ से ही अध्ययनशील शर्माजी खेल-कूद में भी रुचि रखते थे तथा अच्छे खिलाड़ी थे तभी इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कबड्डी के वे 1953-54 में कलर होल्डर रहे, नागपुर एवं पूना में उन्होंने क्रमशः 1952 एवं 1953 में अपने विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व किया। 1953-54 में भारत श्रीलंका अन्तरराष्ट्रीय रिले रेस में भी उनका योगदान रहा।

अध्यापन-जीवन इन्टरमीडिएट कालिज से प्रारम्भ करके उन्होंने जे.बी.जैन पी.जी. कालिज सहारनपुर में 1965 में इतिहास विभाग में प्रवक्ता का पद सम्भाला। जून 1994 में विभागाध्यक्ष के रूप में ही वहां से सेवा निवृत्त हुए।

उन्होंने मुझसे चिट ली और अन्दर चले गए पुस्तक निकालने। जब वे चले गए तो एक वरिष्ठ साथी ने कहा, 'जानते हो ये कौन हैं? ये डाक्टर ईश्वरी प्रसाद हैं।' मेरे पर तो घड़ों पानी पड़ गया और मैं जाकर दूर खड़ा हो गया। कुछ देर बाद वे पुस्तक लेकर काउन्टर पर आए परन्तु मैं पुस्तक लेने का साहस नहीं जुटा पाया। उनकी सरलता, विनम्रता, महानता और छात्रों के प्रति उनकी कर्तव्यपरायणता देखकर मैं नतमस्तक हो गया। मुझे सपने की उक्ति 'छोटी छोटी बात पर ध्यान देने वाला व्यक्ति महान् होता है' की याद आई। डा० ईश्वरीप्रसाद उस बात पर खरे उतर रहे थे। वे लाइब्रेरी के इन्चार्ज थे। खाली खड़े रहने से विद्यार्थी के लिए पुस्तक लाना उन्होंने बेहतर माना और उनके उस आचरण से मैंने सीखा कि छोटा काम करने से कोई व्यक्ति छोटा नहीं हो जाता है।

छात्र-जीवन से बाहर भी एक व्यक्ति ऐसे मिले जो मेरे शिक्षा गुरु न होकर भी मेरे लिए गुरु समान हो गए, आज भी सम्माननीय एवं स्मरणीय बने हुए हैं। शिक्षा समाप्ति के पश्चात् नकुड़ कस्बे के एक इन्टर कालिज में नियुक्ति हुई। नया नया इलाहाबाद विश्वविद्यालय से पढ़कर आया था। साक्षात्कार बहुत अच्छा हुआ था। पहले दिन विद्यालय गया पूरे आत्मविश्वास के साथ। पहुंचते ही प्राचार्य श्री बी.आर. अग्रवाल ने बुलाया और कहा, 'मिस्टर शर्मा, मैं जानता हूं कि तुम्हें अपने विषय का बहुत अच्छा ज्ञान है परन्तु तुमसे आयु में बड़ा होने के नाते एक परामर्श दे रहा हूं। अपनी कक्षा में सदा पूरी तैयारी करके जाना। तुम यह जान लो कि अध्यापक की नित्य परीक्षा होती है, विद्यार्थी की वर्ष में एक बार।' मैं अग्रवाल साहब की बात समझ गया और अपने अध्यापक के जीवन में अपनी कक्षा में बिना पढ़े नहीं गया। मां भगवती की कृपा से मुझे इसका लाभ भी मिला। मेरे छात्र आज भी मेरे पढ़ाने के कायल हैं और विद्यार्थी-जीवन समाप्त करने के अनेकों वर्षों बाद भी न केवल मुझे याद रखते हैं बल्कि मेरे प्रति उनका आदर भाव भी सदा एक सा बना रहता है।

गुरुजनों की कृपा से जीवन में सच्चाई, निडरता, दृढ़ता और ईमानदारी से कार्य करने का मार्ग प्रशस्त हुआ। अध्ययन में रुचि बढ़ी और विषय को गम्भीरता से समझने का अवसर मिला। मां ने बचपन में जो स्वाभिमान से रहने और अन्याय के सामने न झुकने तथा संघर्ष करने का पाठ पढ़ाया था, मेरे गुरुजनों ने उस भाव को और अधिक परिपुष्ट तथा सशक्त बनाया। मैं अत्यन्त सौभाग्यशाली समझता हूँ स्वयं को जो मुझे इस प्रकार के महान् गुरुजनों की शरण में जाने का अवसर मिला परन्तु इसके साथ ही मैं मां भगवती के समक्ष पूर्ण श्रद्धा और भक्ति से अवनत हूँ जिनकी अनुकम्पा से मैं अपने गुरुजनों द्वारा प्रदत्त अथाह ज्ञान सागर के कुछ कण बटोरने में और उन्हें आत्मसात् करने में समर्थ हुआ। गुरुजन तो सूर्य के समान सभी विद्यार्थियों को ज्ञान वितरित करते हैं परन्तु यह तो पात्र के ऊपर निर्भर करता है कि वह किस भांति उसे ग्रहण करता है और

स्वयं तो लाभान्वित होता ही है, अन्यो में उसे वितरित कर उन्हें भी लाभान्वित कर देता है। यह मां भगवती की कृपा ही थी जिसने मुझमें वह चेतना जागृत की जिससे मैंने गुरुजनों से जो प्राप्त किया वह मैं अपने विद्यार्थियों में वितरित कर पाया।



लेखक-परिचय

विश्व-इतिहास, एशिया के इतिहास, राष्ट्रीय इतिहास, प्रदेश के इतिहास से हटकर, सच्चे अर्थों में क्षेत्रीय इतिहास— अपने जनपद सहारनपुर के इतिहास में रुचि लेने, उसे प्यार करने, उसे पढ़ने, उसमें गहराई में जाकर शोध करने और समस्त पहलुओं से उस इतिहास को रचने वाले डा० के.के. शर्मा अर्थात् कृष्ण कुमार शर्मा का जन्म सहारनपुर जनपद के शिक्षा, संस्कृति, धर्म सभी दृष्टियों से विलक्षण देवबन्द नामक कस्बे में 3 जुलाई 1933 को एक साहित्यिक, देशभक्त, सम्मानित परिवार में हुआ। पितामह अर्थात् पिता के चाचा यशकाय पद्मश्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' हिन्दी साहित्य में शैलीकार, पत्रकार, हिन्दी रिपोर्ताज के जनक रूप में चिर स्मरणीय हैं तो पिता नामशेष आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र 'लघुकथा के जनक' नाम से सुविख्यात हैं। माता स्वर्गीया ब्रह्मीदेवी नीतिपरायणा, कर्तव्यपराणा और धर्मशीला महिला थीं।

कृष्णकुमार जी की इन्टरमीडिएट तक की शिक्षा सहारनपुर जैन इन्टर कालिज तथा एस.डी. इन्टर कालिज से 1950 में पूर्ण हुई। बी.ए. तथा एम.ए. राजनीति शास्त्र की परीक्षाएं उन्होंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से क्रमशः 1952 तथा 1954 में उत्तीर्ण की। प्राचीन भारत को विशेष अध्ययन का विषय बनाते हुए उन्होंने आगरा विश्वविद्यालय से 1961 में इतिहास की एम.ए. परीक्षा विश्वविद्यालय में पांचवां स्थान लेकर उत्तीर्ण की। स्नातक कक्षा में पढ़ते हुए ही उन्होंने साहित्यरत्न की उपाधि भी प्राप्त कर ली थी। आगरा विश्वविद्यालय से 1970 में इतिहास में आपने पीएच.डी. की उपाधि अर्जित की।

प्रारम्भ से ही अध्ययनशील शर्माजी खेल-कूद में भी रुचि रखते थे तथा अच्छे खिलाड़ी थे तभी इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कबड्डी के वे 1953-54 में कलर होल्डर रहे, नागपुर एवं पूना में उन्होंने क्रमशः 1952 एवं 1953 में अपने विश्वविद्यालय का प्रतिनिधित्व किया। 1953-54 में भारत श्रीलंका अन्तरराष्ट्रीय रिले रेस में भी उनका योगदान रहा।

अध्यापन-जीवन इन्टरमीडिएट कालिज से प्रारम्भ करके उन्होंने जे.वी.जैन पी.जी. कालिज सहारनपुर में 1965 में इतिहास विभाग में प्रवक्ता का पद सम्भाला। जून 1994 में विभागाध्यक्ष के रूप में ही वहां से सेवा निवृत्त हुए।

शर्मा जी का शिक्षण एवं शिक्षणेतर गतिविधियों में समान रुचि एवं अधिकार रहा। इसी का परिणाम रहा कि एक ओर उन्होंने अनेक सेमीनार तथा कान्फ्रेंस में भाग लिया तथा शोधपत्र प्रस्तुत किए तो दूसरी ओर 1963-65 में वे मंगलौर में कम्पनी कमाण्डर-होम गार्ड रहे; 1967-74 में मेरठ विश्वविद्यालय शिक्षक संघ की कार्यकारिणी के सदस्य रहे; जिला माध्यमिक शिक्षक संघ के अनेक वर्षों तक प्रोटेक्शन सेक्रेटरी रहे तथा अपने महाविद्यालय में दीर्घ 12 वर्ष तक शिक्षक संघ के सचिव का पद सम्भालते रहे। सहारनपुर के अनेक शिक्षा संस्थाओं के अध्यक्ष, प्रबन्धक तथा सदस्य हैं।

शर्मा जी सांस्कृतिक तथा सामाजिक गतिविधियों में पूर्ण निष्ठा तथा रुचि से भाग लेते हैं। इसी का परिचायक है आपका सन्दर्भ संस्थान सहारनपुर का आजीवन संस्थापक अध्यक्ष एवं संरक्षक, शेखुल-ए-हिन्द शोध संस्थान, भाउपुरा सहारनपुर का आजीवन संरक्षक तथा संस्कृत सेवा परिषद् सहारनपुर का आजीवन संरक्षक होना।

शर्माजी के अनेकों शोध-पत्र शोध-गोष्ठियों में प्रस्तुत किये गए हैं तथा अनेकों शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। कतिपय शोध पत्र हैं 'गान्धी जी एण्ड पार्टिशन आफ इन्डिया' (1972) 'गान्धीजीस इम्पैक्ट आन देवबन्द स्कूल' (1986), 'शशांक की भूमिका और आचार्य शुक्ल का इतिहास बोध' (1986) 'प्रमाकरजी का इतिहास बोध' (1986) इनके अतिरिक्त 40 से अधिक लेख, कविताएं आदि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। शर्माजी द्वारा रचित लाइफ एण्ड टाइम्स आफ लाला लाजपत राय (1975) तथा भारत की ऐतिहासिक मानचित्रावली (1976) प्रकाशित पुस्तकें हैं।

क्षेत्रीय इतिहास, विशेषकर जनपद सहारनपुर का इतिहास-विशेषज्ञ शर्माजी को यदि कहा जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। उनका सर्वाधिक उल्लेखनीय कार्य है-सहारनपुर सन्दर्भ (1986) जो शर्माजी द्वारा संपादित है। सहारनपुर की महान् विभूतियां (1996) उनकी दूसरी महत्वपूर्ण कृति है जो डा. सिप्रा बैनर्जी के सह लेखन में प्रस्तुत की गई है। इस विशाल ग्रन्थ में 151 महान् विभूतियों के व्यक्तित्व तथा कृतित्व पर शोध-परक लेख हैं। सहारनपुर के प्राचीन इतिहास को उन्होंने उशीनर-वर्तमान सहारनपुर, सहारनपुर-ऐतिहासिक सन्दर्भ, राष्ट्रीय आन्दोलन (सहारनपुर में 1857-1919) तथा सहारनपुर में स्वाधीनता संघर्ष (1920-1947) इन चार भागों में सहारनपुर सन्दर्भ में समेटा है। स्वतन्त्रता के पश्चात् अब तक के सहारनपुर के इतिहास को 'सहारनपुर का इतिहास' नामक विशालकाय ग्रन्थ में समेटने में लगे हुए हैं। उनकी अगली कृति है भारतीय संस्कृति, धर्म एवं दर्शन पर आधारित ग्रन्थ 'जय भवानी' जिसका विचार उनके मन में अमेरिका तथा मेक्सिको आदि की दूसरी बार की यात्रा के समय आया। इतिहास और साहित्य के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों को मान्यता प्रदान करते हुए विभिन्न संस्थाओं ने उन्हें सम्मानित किया जिनमें उल्लेखनीय हैं, स्व. डा. लक्ष्मी नारायण लाल स्मृति सद्भाव

एवार्ड (1993), राष्ट्रीय साहित्यकार अभिनन्दन समिति सहारनपुर द्वारा प्रदत्त साहित्य शिरोमणि की मानद उपाधि (1995) और उत्तर भारत श्रमजीवी पत्रकार परिषद्, सहारनपुर द्वारा प्रदत्त सम्मान पत्र (2000) आदि।

डा०के०के० शर्मा के निर्देशन में पन्द्रह छात्र शोध कार्य कर पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं तथा अनेक अभी शोधरत हैं।

डा०के०के० शर्मा 'अनुकरणीय गुरु' नामक ग्रन्थ के प्रधान-सम्पादक हैं।



गुरु शिष्य परम्परा और मैं

डा० श्रीमती अनीता सेन

हमारे देश की शिक्षा पद्धति में गुरु शिष्य परम्परा का बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहा है— प्राचीन भारत की वैदिक परम्परा तथा विभिन्न विषयों में पारंगत विद्वानों के जीवन चरित का अध्ययन करने से हमें इस बात की जानकारी मिलती है। प्रगति के इतिहास ने शिक्षा पद्धति को नये आयाम दिए और शिक्षा का क्षेत्र गुरुकुल से हटकर विद्यालयों तक विस्तारित हो गया।

संगीत कला का शिक्षण गुरु शिष्य परम्परा में सर्वाधिक पनपा। इसी परम्परा ने तानसेन और बेजू बावरा जैसे कलाकारों को बनाया, लेकिन प्रगति के विभिन्न आयामों ने संगीत के शिक्षण को भी गुरु-शिष्य परम्परा पद्धति से महाविद्यालयीन पद्धति की ओर प्रेषित कर दिया।

इक्कीसवीं सदी की ओर बढ़ते हुए समय के चरणों को रोका नहीं जा सकता, यह सही है किन्तु किसी भी पद्धति के औचित्य पर विचार करते समय सर्वश्रेष्ठ पद्धति की सराहना करनी ही पड़ेगी।

मैंने बचपन से संगीत सीखा। मेरे अंदर की चेतना ने जब बाहरी जगत् को समझने की शक्ति पाई, उम्र शायद चार-पांच वर्ष की रही होगी। तभी से संगीतमय वातावरण से हमारे घर की चहार दीवारी अभिविक्त होती रही। मेरे कानों में पड़ने वाले यमन, बिलावल, खमाज राग के स्वरों ने और मेरी बड़ी बहन हेमलता के नियमित शिक्षण और गायन ने मुझे संगीत की ओर अग्रसारित किया और मैं संगीत सीखने लगी।

मेरे प्रथम गुरु का नाम है— पं. विष्णु कृष्ण जोशी। वे ग्वालियर में रहते थे। वहाँ माधव संगीत विद्यालय में राजा भैया पूछवाले जी के पास उन्होंने संगीत की शिक्षा पाई। उन्हें कुछ समय तक पंडित विष्णु नारायण भातखण्डे जी के पास भी संगीत सीखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तथा संगीत अध्यापक बनकर संगीत कैसे सिखाया जाये, इसका मार्गदर्शन भी उन्हें, उन्होंने दोनों से मिला, जिसका लाभ मुझे बहुत हुआ।

बचपन की याद करती हूँ तो पुलकित हो उठती हूँ। वे बड़े पवित्र दिन थे— अनुशासन और कर्ममयता से पूर्ण। मेरे माता पिता आदर्श पालक थे। वे अपने बच्चों को साधारण तथा असाधारण दोनों प्रकार की ज्ञान विधाओं से परिचित कराना चाहते थे इसलिए उन्होंने बाहरी तौर पर 'यह सीखो, वह सीखो' न कहते हुए, हमें परोक्ष रूप से ज्ञान के विशाल सागर में तैरने के लिये छोड़ दिया और प्रशिक्षण की सारी सुविधाएं

उपलब्ध करा दी। पिताजी स्वयं बड़े अध्ययनशील थे। 'भवन्स जर्नल' तथा ऐसे ही कुछ प्रतिष्ठित प्रकाशनों की पुस्तकें नियमित रूप से वे मंगवाते और पूरी पुस्तकों को आदि से अंत तक पढ़ने के बाद ही अलमारी में रखते। उनके इस प्रकार पुस्तकों की छः अलमारियां थी विश्व की उत्तम पुस्तकों से भरी हुई।

मैंने इसी पावन पृष्ठभूमि में जीवन जिया है और आज अपनी उपलब्धियों को देखते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि जो कुछ भी मुझे मिला, वह सब मेरे माता पिता के आशीर्वाद एवं मार्गदर्शन का ही फल है। पिताजी बड़े अंतर्ध्यानी थे। उन्होंने घर में ही हमारी संगीत शिक्षा को संगीत विद्यालय का रूप दे दिया था और हमारे गुरु जोशी मास्टर साहब को वे सारी सुविधाएँ प्रदान की जिससे वे निश्चिन्त होकर संगीत शिक्षण कर सकें। मेरा संगीत शिक्षण इस तरह विद्यालयीन शिक्षण होते हुये भी गुरु शिष्य परम्परा से प्रभावित था। हमारी कक्षाएँ प्रतिदिन दो से तीन घण्टे लगती और जो कुछ हमने उन पांच वर्षों में सीखा, शायद आज पन्द्रह वर्षों में भी उतना सीखना संभव नहीं होगा। मेरे पहले संगीत विद्यालय का नाम था श्रीराम संगीत महाविद्यालय। बाद में मैंने समय समय पर कई गुरुओं से शिक्षा प्राप्त की। इनमें पंडित हल्केराम भट्ट का महत्त्वपूर्ण योगदान है। उनसे मैंने सरगम, सादरे, तराने, ख्याल, तुमरियां, अनूठी बंदिशें और टप्पे सीखे। इसके पूर्व मेरा कंठस्वर ग्वालियर घराने के दबंग एवं ओजपूर्ण गायकी से अभिसिंचित हो चुका था। टप्पा गायकी मेरे लिए बिल्कुल नई, अनूठी और विचित्र थी। उन्होंने मुझे टप्पे के खाचे बताये और गाने का ढंग सिखाया। प्रो. बी.आर. देवधर, जिनके पास शिन्दे खान, उस्ताद बड़े गुलाम अली खां साहब, तानरस खां, अल्लादिया खां आदि अनेक विद्वान गायकों की शैली और बंदिशों का अनुपम संग्रह था, से भी मुझे बिलावल के प्रकार, केदार के प्रकार तथा कुछ रागों की चलन और बंदिश सीखने का अवसर मिला। इतना ही नहीं उन्होंने मुझे राग के विस्तार की गहराई, रागों की बढ़त और बरत बताई। डा० मुनीश्वर दयाल जी से गया घराने की विशिष्ट गायकी जानने का तथा पुराने गायक गायिकाओं की विशेषताओं का परिचय प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। दिल्ली की श्रीमती माधुरी मट्ट ने मुझे तुमरी के बोल, बनाव और बढ़त के तरीके सिखाए। जिस प्रकार खयाल की गायकी एक एक स्वर को लेकर आगे बढ़ती है वैसे ही तुमरी की गायकी भी एक एक स्वर को लेकर बोल बनाव के सहारे कैसे फैलती है, यह उनसे ही सीखने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ। पंडित लक्ष्मण प्रसाद जयपुर वाले मुम्बई के सुप्रसिद्ध गायकों में से एक रहे। उन्होंने संगीत की तालीम और शिक्षा पद्धति पर कई प्रकार के शोध किए। उपकणों का प्रयोग और भिन्न भिन्न प्रकार की मुरकियों के सृजन से गायकी को कैसे आकर्षक बनाई जाये, इसके प्रति उनसे मैंने बहुत सी बारीकियां सीखीं, विशेषकर के तुमरी की तालीम से सम्बन्धित।

जब इंटरमीडिएट सेकण्ड ईयर में थी तो अचानक चार पांच दिन के बुखार से माँ चल बसी थी। घर की जिम्मेदारी और माँ की ममता की शून्यता ने मुझे झकझोर दिया और कुछ समय के लिये मेरी आवाज जाती रही। इस समय मैंने सितार सीखा और यह क्रम मेरा कई वर्षों तक चला। सितार के मेरे प्रथम गुरु पं. तलवलकर जी थे, उनके बाद जबलपुर की श्रीमती गायत्री नायक थीं और बाद में मुम्बई की श्रीमती अन्नपूर्णा शंकरजी, से मैंने सितार की विधिवत् तालीम ली।

गुरु का ध्येय ही होता है अपने शिष्य के प्रयासों को सफल और सार्थक करना। उसकी ज्ञान पिपासा को शांत करना। कुछ गुरु-इसे प्रत्यक्ष रूप से करते हैं और कुछ परोक्ष रूप से अपने शिष्यों को ऐसा तैयार करते हैं कि सफलता उनके लिये निश्चित सी होती है।

मैं मूलतः मध्यप्रदेश की रहने वाली हूँ जहाँ तुमरी गायकी का वातावरण उतना अधिक नहीं है जितना ख्याल गायकी का है। मेरा रुझान धीरे धीरे ख्याल गायकी के साथ साथ उन दिनों तुमरी की ओर भी होने लगा था क्योंकि मैं उसकी काल्पनिक, असीम फैलाव से प्रभावित थी। गुरु भी मुझे सौभाग्य से बहुत अच्छे मिले। पं० हल्केराम भट्ट जी ने जब सिखाया था तब मैं युवती थी, जिसकी गोद में दो बच्चे थे, एक पांच छः साल का दूसरा साल-डेढ़ साल का और कर्तव्य क्षेत्र में हायर सेकेंडरी स्कूल के प्राचार्य का दायित्व तथा पारिवारिक जिम्मेदारियाँ। गुरुजी आकाशवाणी नागपुर में सारंगी वादक रहे और वहाँ से सेवानिवृत्त होने के बाद दो वर्ष तक हमारे पास रहे। व्यावसायिक संगीतज्ञ होने के बावजूद मुझे सिखाते सिखाते उन्हें कुछ लगन लगी कि उनके पास जो कुछ है वे मुझे अधिक से अधिक सिखा दें। मेरे पास बहुत कम समय होता था कि मैं उनके पास बैठकर सीख सकूँ। मेरी परिस्थिति समझकर वे दिनभर मेरे आफिस में बैठे रहते और जैसे ही मैं थोड़ी सी कार्यमुक्त होती या अकेली होती तो मुझे सिखाना शुरू कर देते। उन्होंने मुझे तानपूरा ले कर बैठकर कभी नहीं सिखाया। मुझे चलते फिरते, काम करते, रसोई बनाते समय वे सिखाने लगे। कभी कभी परेशान होकर मैं उदास हो जाती तो बोलते 'बेटा, इन हाथों ने आज तक कभी किसी को कुछ नहीं दिया है। तू ले ले, जितना ले सकती है। तेरे बहुत काम आयेगा।' ऐसी हुई तुमरी की मेरी प्रारम्भिक शिक्षा। ग्वालियर घराने की पारंपरिक ख्याल गायकी से हटकर उन्होंने एक नई विधा से मेरा परिचय कराया। वह थी तुमरी और टप्पा गायकी की विधा। बंदिश को वे बारीकियों और मुरकियों सहित रटवाते। कहते 'यदि रात को नींद से जगाकर भी कोई तुमसे सुनाने को कहे, तो तुम्हारी प्रस्तुति में कभी कोई फर्क नहीं आयेगा, यदि तुम अच्छे से रटकर तैयार कर लोगी।' पहले टप्पा रटते उसके कमानदार, झटकेदार, मुरकीदार गायकी के साथ और बाद में उसे ताल में बैठकर अभ्यास करा देते। इसके लिये उन्होंने मुझे ताल बताया था

‘गधे की दुम’ है तो ताल पंजाबी ठेके की ही तरह किन्तु अन्त में गधा आने के कारण यह ठेका पुराने संगीतज्ञों के बीच ‘गधे की दुम’ कहलाता है। उन्होंने मुझे कुछ सादरे भी सिखाए। सादरा याने झपताल की बंदिश होती है जिसमें ध्रुपद की तरह उपज के विभिन्न प्रकारों से गायकी सजाई जाती है। सादरे के साथ साथ उन्होंने भिन्न भिन्न रागों में सरगम, तराने, छोटे ख्याल, बड़े ख्याल भी सिखाए, पुरानी होरियाँ, फाग और कजरी भी सिखाई तथा दो टप्पे तुमरियां भी बताई। वे हमारे पास मुश्किल से डेढ़ दो साल रहे लेकिन इस अल्प अवधि में उन्होंने मुझे उक्त प्रकार के संगीत जगत् से परिचित कराया। आज उनकी सिखाई हुई तुमरियां और टप्पे गाती हूँ। शास्त्रीय संगीत की मेरी प्रारम्भिक शिक्षा, उनके द्वारा सिखाई हुई तुमरी की विधा के लिये पोषक तत्त्व बनकर रह गयी है।

हर गुरु ने मेरे ज्ञान की पतली परतों को खोलकर नये नभ मंडल का दर्शन कराया है। यही गुरु का धर्म, श्रेष्ठधर्म के रूप में मेरे सामने आया। गुरु की शिक्षा कब, कैसे, कितने परिणाम में होती है इस संबंध में कई प्रश्न चिह्न उठा करते हैं। दरअसल इस प्रकार की परम्परागत शिक्षा-दीक्षा, गुरु का शिष्य के प्रति और शिष्य का गुरु के प्रति समर्पित भाव और निष्ठा के बिना सम्भव नहीं। गुरु अपने ज्ञान के भंडार से अपने अनुभवों को बांटता है, संग्रहीत बंदिशों, रागों और तान आलापों को वितरित करता है और संगीत की मौलिकता से शिष्यों का परिचय कराता है।

किसी व्यक्ति की परिपक्वता और पूर्णता के लिए कक्षागत शिक्षा का भी बहुत महत्त्व है। समूह में होने के कारण अलग अलग बौद्धिक क्षमता के विद्यार्थी एक ही प्रकार के ज्ञान को अपने गुरु के पास से प्राप्त करते हैं। इससे उनके बीच प्रतिस्पर्धा की भावना का विकास होता है और आपस में छात्र एक दूसरे से अधिक जानने सीखने की कोशिश करते हैं। संगीत के शिक्षण में भी कक्षागत शिक्षा पद्धति अर्थात् समूह में संगीत शिक्षा की भी अपनी महत्ता है क्योंकि कुछ बेसिक ज्ञान की बातें समूह में जल्दी पढ़ाई जा सकती हैं।

गुरु की गुरुता कभी भी जिज्ञासा या प्रश्नों की मुखापेक्षी नहीं होती। हर गुरु एक-समान अभिव्यक्ति वाले भी नहीं होते। कुछ सूत्रबद्ध शैली से सिखाते हैं, कुछ गायकी के गुरु या गुण तत्त्वों को तैयार करते हैं। कुछ गुरु गायकी के विस्तार पर अधिक ध्यान देते हैं। जैसी जैसी जिसकी क्षमता होती है, गुरु वैसा ही सिखाते हैं तथा अपने पूर्व गुरुओं से उन्होंने जैसा जैसा पाया होगा, वैसी शिक्षा गुरु अपने शिष्यों को देते हैं। सही कहा जाये तो गुरु-शिष्य परम्परा के द्वारा गायन वादन शैली की परम्परा का स्थानान्तरण गुरु से शिष्य तक होता है। सोचकर ही देखें न हम भला अपना क्या बताते हैं? जो कुछ हमारे गुरुओं ने अपने गुरुओं की शिक्षा को हमें दी, वही शिक्षा समय आने पर हम अपने शिष्यों को देते हैं। इतना अवश्य है कि गुरु शिष्य के अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दोनों प्रकार के व्यक्तित्व को आकार प्रदान करता है। उदाहरण के लिये प्र० बी० आर० देवधर साहब के

पास सीखते समय यह बात बहुत अच्छी तरह समझ में आई। वे सम्पूर्ण पंचम राग में झपताल की एक बंदिश सिखा रहे थे—“उड़त नव नव..” इसे बड़े गुलाम अली खां साहब कैसे गाया करते थे, ठीक उसी ढंग से बताते हुए देवधर साहब ने हमें सिखाया था। यह बंदिश झपताल के वजन में होते हुये भी, कहीं भी प्रत्येक मात्रा की बांट पर गिरती हुई नहीं बनाई गई थी। बंदिश के शब्द संयोजन के साथ राग का इतना सुन्दर समन्वय और मेल बहुत कम मिलता है। ऐसे ही मारवा में एक बड़ा ख्याल बताया था “तू ही जग दाता”। देवधर साहब स्वयं अपनी सीखी हुई बंदिशों और राग की परिपूर्णता में इतने परिपक्व और रससिक्त होते कि उनके पास बैठकर सीखते समय राग स्वयं एक मूर्तरूप लेकर प्रगट होता। यह वे तभी कर सकते थे, जब अपने शिष्य की योग्यता को देखते हुये अपने ज्ञान भंडार से रत्नों को बिखेरने के लिए स्वयं आह्लादित हो जाते। उनके द्वारा सिखाई बंदिशों में सम का एक मोड़ के रूप में आना और वह भी सहज भाव से इतनी नई बात थी, जिसने मुझे तुमरी गायन करते समय सम को नज़ाकतपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने का ज्ञान दिया। इसी प्रकार पं० लक्ष्मण प्रसाद जयपुर वाले जी ने सूत्रबद्ध तरीके से मुरकी की तान सिखाकर गले में ऐसी बैठाई कि वह मेरे तुमरी के गायन में बहुत काम आयी। गुरु-शिष्य परंपरा की शिक्षण पद्धति का यह दायरा इतना विशाल है कि अपने गुरुओं के बारे में जितना लिखा जाये, कम है। आज हम लोग जो कुछ भी गाते हैं, सब कुछ उनकी दी हुई शिक्षा का ही परिणाम है। हमारी अंतर्मुखी और बहिर्मुखी चेतना को उन गुरुओं की गायकी ने ही आप तक पहुंचाया है नहीं तो हमारी गायकी टाइप राइटर की छपाई की तरह केवल मात्र शब्द और स्वर की ‘एक अपरिपक्व चित्रकथा’ होती।



लेखिका-परिचय

ग्वालियर घराने की ख्याल गायकी को समृद्ध करने वाली, तुमरी गायकी को अपनी विशिष्टता से लोकप्रियता के शिखर पर पहुँचाने वाली, संगीत-शास्त्र की विदुषी, सुमधुर गायिका हैं डा० श्रीमती अनीता सेन। अनीता जी का जन्म 1 सितम्बर 1933 को हुआ।

अनीता जी संगीत-गायन में पारंगत हैं परन्तु साथ ही उनका पाण्डित्य भी उल्लेखनीय है। उन्होंने गायन में ग्वालियर से संगीत रत्न, लखनऊ से सितार में संगीत विशारद, खैरागढ़ के आई०के०एस० विश्वविद्यालय से संगीत वाचस्पति और एम०एम्यूस की परीक्षा उत्तीर्ण की है तो संगीतेतर-राजनीति शास्त्र में सागर विश्वविद्यालय से एम०ए० की तथा जबलपुर से बी०टी० की उपाधि भी प्राप्त की। उन्होंने बम्बई से ‘ड्राइंग एण्ड पेन्टिंग’ में इन्टरमीडिएट की परीक्षा भी पास की है।

अनीता जी ने खैरागढ़ विश्वविद्यालय से ही 'The Contribution of Tagore to the Classical Music of India' विषय पर शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर पीएच०डी० की उपाधि भी अर्जित की।

सुपण्डिता एवं सुगायिका श्रीमती सेन खैरागढ़ विश्वविद्यालय के संगीत विभाग में प्रोफेसर तथा डीन पद पर कार्य कर चुकी हैं। मध्य प्रदेश के साथ-साथ भारत के अन्य कतिपय प्रदेशों के विश्वविद्यालयों के शैक्षिक एवं सांस्कृतिक संगठनों की आप सदस्य रह चुकी हैं। एम०पी० बोर्ड ऑफ सेक्रेट्री एजुकेशन के साथ इन्दौर, नागपुर, जबलपुर आदि की शिक्षा संस्थाओं से भी आप सम्बद्ध रहें।

डा० श्रीमती सेन ने समय-समय पर विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, एन० सी०इ०आर०टी० तथा दिल्ली, कुरुक्षेत्र, मुम्बई, खैरागढ़, कलकत्ता, वाराणसी, भोपाल, कानपुर, इन्दौर, नागपुर, जबलपुर आदि के अनेक विश्वविद्यालयों अथवा संस्थाओं द्वारा आयोजित अनेक संगीत सेमिनारों तथा कार्यशालाओं का निर्देशन किया है अथवा उनमें भागीदारी की है। उनके पाण्डित्यपूर्ण निर्देशन में शोधकार्य सम्पन्न कर अनेक विद्यार्थियों ने पीएच०डी० की उपाधि प्राप्त की है। आप स्वयं भी अनेक विश्वविद्यालयों की पीएच०डी० अथवा शोध-कार्य की परीक्षक भी हैं।

डा० अनीता सेन के बीस से अधिक शोधपत्र प्रतिष्ठित शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। आकाशवाणी से उनकी अनेक वार्ताएं तथा संगीत फीचर्स प्रसारित होती रहती हैं। आप आकाशवाणी तथा दूरदर्शन की उपशास्त्रीय संगीत-गायन की वरिष्ठ कलाकार हैं।

तानसेन संगीत समारोह, ग्वालियर तथा अन्य अनेक अखिल भारतीय संगीत सम्मेलनों में आप गायन प्रस्तुत कर चुकी हैं तथा आकाशवाणी और दूरदर्शन के राष्ट्रीय कार्यक्रमों में भी आपकी भागीदारी रहती है।

सुगायिका अनीता जी ने लगभग 300 से अधिक खयाल, तुमरी, दादरा, टप्पा, तराना आदि की रचना की है। उनकी बंदिशों में मधुरता के साथ-साथ शुद्धता का सुन्दर समन्वय होता है। आप गायन के साथ लेखन, वह भी गीत लेखन, में भी सिद्धहस्त हैं। लेख तथा व्यंग्य लेखन भी करती हैं। उनके कई गीति नाट्य हैं - 'जंगल फिर लहरायेंगे' (पर्यावरण) 'सूई धागा मशीन', 'फूलों का झगड़ा', 'वर्षा मंगल', 'ऋतु शृंगार', 'फिर सुबह होगी', 'दीपावली' एवं काव्य 'फूल की कहानी'। आकाशवाणी से आपके गीत, आलेख एवं रूपक प्रसारित होते रहते हैं। इनके अतिरिक्त अनीता जी के लेखनी-प्रसूत प्रकाशित ग्रन्थ हैं 'रवीन्द्र संगीत' तथा 'तुमरी गायकी'।

गायिका डा० अनीता सेन के ग्रामोफोन रेकार्ड्स, काम्पेक्ट डिस्क तथा प्री-रिकार्डिंग कैसेट्स में उल्लेखनीय हैं 'गीत गाँधी', (HMV Records) तुमरी, दादरा

एण्ड भजन, (Swarshri Enterprises, Bombay) तुमरी, दादरा एण्ड टप्पा (Geetanjali Enterprises, Bombay) और आई बदरिया करी, (T.Series), Vocal Music Lessons in four Pre-recorded cassettes with reading material; Communicating Science Through Music Eklavy-Bhopal, Hori' (विभिन्न प्रान्तों के होरी गीतों का संकलन) और अष्टनायिका भेद पर आधारित 'अष्टनायिका' नाम से तुमरियों का संकलन।

आप अपने पति सुगायक, पण्डित, कवि डा० अरुण कुमार सेन द्वारा लिखित एवं स्वरबद्ध 'गीत रामायण' को उनके साथ गाकर महामहिम राष्ट्रपति कीर्तिशेष डा०शंकर दयाल शर्मा जी से राष्ट्रपति भवन में सम्मानित हो चुकी हैं।



मेरे गुरुदेव

स्वामी सत्यमित्रानन्द गिरि

गुरु और शिष्य का सम्बन्ध बहुत प्राचीन काल से हम लोग ऐसा मानते हैं कि प्राक्तन कार्यों का ही फल हुआ करता है। अनेक सत्पुरुषों को अपने मानसिक रूप से गुरु मानकर उनसे जहाँ-जहाँ भी कुछ श्रेष्ठ मिला उसे स्वीकार करने का प्रयत्न किया है। उन प्राचीनतम दिव्यतम श्रेष्ठ महापुरुषों में मैं आनन्दमयी भी हूँ जिन्होंने मुझे अपना वात्सल्य प्रदान किया है। लेकिन अपने विश्वविद्यालयीय जीवन को समाप्त करके स्नातक बनने के बाद जैसे ही मैं हिमालय के क्षेत्र में गया तो मुझे एक महापुरुष का दर्शन हुआ जिन्होंने मेरी युवावस्था में बड़ी कृपा करके मेरा मार्गदर्शन करने का यत्न किया। उन्हें मैं अपने विद्या गुरु के रूप में मानता हूँ जिनसे मैंने उपनिषद्, भगवद्गीता और संस्कृत के अन्य ग्रन्थ पढ़े क्योंकि विश्वविद्यालय की जो पढ़ाई है उससे अध्यात्म का बहुत कुछ नाता रहता नहीं है। जिन लोगों को लोकजीवन व्यतीत करना हो, सरकारी नौकरी करनी हो, उनके लिये तो वह सब अच्छी बातें हैं परन्तु मेरे जैसे व्यक्ति के लिये उसकी उपयोगिता अपने आप ही कम हो गयी। स्वामी वेदव्यासानन्द सरस्वती जी महाराज अपने समय के बड़े श्रेष्ठ साधक विद्वान्, प्रचारक और तपस्वी महापुरुष थे। उनके साथ रहने का दो-तीन वर्ष तक अवसर मिला। लेकिन कई बार ऐसा होता है कि विद्या किसी से प्राप्त की जाती है और अध्यात्म विद्या किसी से प्राप्त की जाती है। हमारे शास्त्र कहते हैं कि विद्याओं में अध्यात्म विद्या श्रेष्ठ है। अध्यात्म की दृष्टि से यह विद्या लौकिक नहीं होती है। इसे अन्तर में प्राप्त किया जाता है और अन्तर जिसको झुकता है वही वास्तव में गुरु होता है। उस दृष्टि से मुझे तत्कालीन अत्यंत प्रसिद्ध तपस्वी नारायण स्वामी जी महाराज के दर्शन करने का अवसर प्राप्त हुआ जो केवल एक मृत्तिका की हांडी रखते थे और शरीर के ऊपर केवल एक कौपीन वस्त्र होता था। सुना ऐसा गया है कि अपने पूर्व जीवन में वे न्यायाधीश थे। उनके द्वारा एक गलत निर्णय होने के बाद एक निरपराध व्यक्ति को दण्ड मिल गया। रात्रि में उनको स्वप्न आया और भगवान् ने उनको कहा कि 'न्याय की कुर्सी पर बैठकर तुमने अन्याय किया है।' भोर में उनको ऐसी प्रेरणा हुई कि 'मैं ऐसे पद पर नहीं रहूँगा जहाँ इस प्रकार का कार्य व्यक्ति से जाने या अनजाने हो जाता है।' महाराज के पास अनेक लोग आते थे। मुझे भी यह सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे शरीर का स्पर्श करने नहीं देते थे लेकिन एक दिन उनके चरणों में कुछ व्याधि हुई और मैंने विनम्रतापूर्वक उनसे कहा कि हम तैल मर्दन करें? उन्होंने अनुज्ञा प्रदान कर दी। उनसे मैं प्रभावित क्यों हुआ? उसका एक

कारण है कि मैंने उन्हें बहुत छिप-छिपकर देखने की चेष्टा की। वैसे कभी शिष्य को अपने गुरु की परीक्षा नहीं लेनी चाहिए। लेकिन मेरे मन में ऐसा था कि जिसके प्रति मेरे मन में श्रद्धा हो वह श्रद्धा अकाट्य होनी चाहिए, अटूट होनी चाहिए। उसकी भग्नावस्था जीवन में कभी न आए ऐसे किसी महापुरुष से जीवन में प्रेरणा लें। इसलिये मैं रात्रि में बारह बजे भी जाकर उनकी कुटीर के पास उनकी खिड़की से झाँककर देखता कि उनकी नित्यचर्या क्या चल रही है और तब देखकर बड़ा आश्चर्य और अपने ऊपर लज्जा भी आई कि वे रात्रि की निशीथ वेला में अपने पैरों में और हाथों में रस्सी बांधकर खड़े हैं और बड़े प्रेम से जप कर रहे हैं। दूसरे दिन मैंने प्रातःकाल पूछा कि 'आपकी इतनी आयु हो जाने के बाद भी आप इतनी कठोर साधना क्यों करते हैं।' उन्होंने कहा, "मनुष्य जीवन निद्रा के लिये प्राप्त नहीं हुआ। इसमें पूरी तरह से सावधान होकर भगवान् का स्मरण करना चाहिए। मैं मानव तन में हूँ और मैंने नियम लिया है कि मैं तीन घण्टे से अधिक सोऊँगा नहीं। उसके बाद जब जप करने लगता हूँ तो कभी तन्द्रा आने लगती है। इसलिये मन को दण्ड देने के लिये मैं अपने आप ही रस्सी से अपने को कसकर रखता हूँ।" जब यह बात सुनी तब तो मेरी उनके प्रति और अधिक श्रद्धा हो गयी और मन में लगा कि सिद्धि होने के बाद भी साधक को सावधानी पूर्वक अपने मन को वश में करने के लिये और अपने नियमों का पालन करने के लिये बहुत सजग रहना चाहिए। दूसरे दिन प्रातःकाल ही एक बड़ी अद्भुत घटना घटी। प्रायः संसार में सभी प्राचीन काल से ही साधु-महात्मा और ब्राह्मणों के ऊपर बहुत कृपालु होते हैं। तपस्वियों के ऊपर होते हैं, साधकों पर होते हैं, उनकी करुणा उतरती है। लेकिन भोर में मैंने देखा कि महाराज ने, जो मेहतर वहाँ सफाई करने के लिये आता था (आज से पैंतालिस पचास वर्ष पहले की बात होगी) उन्होंने उस व्यक्ति को बुलाया और बुलाने के बाद अपने कुटी के बराण्डे के कोने में पत्थर से जो कुछ दबा हुआ था उसकी ओर इशारा किया, क्योंकि वे प्रायः मौन ही रहा करते थे। मैंने देखा कि उस प्रस्तर के नीचे सौ दो सौ रुपये पड़े होंगे, वह दे दिया। स्वामी महाराज तो पैसा रखते भी नहीं थे और स्पर्श भी नहीं करते थे। मैंने कहा, 'जब आप पैसा स्पर्श ही नहीं करते हैं तो आपने इसे रहने क्यों दिया?' उन्होंने कहा 'यदि मैं किसी को कहता कि इस मेहतर को दो सौ रुपये की सहायता करो तो कोई नहीं करता क्योंकि लोग जातिवाद में इतने जकड़े हुए हैं कि उनके मन में हरदम यह रहता कि मेहतर को दान करने से कोई पुण्य थोड़े ही लगेगा। लेकिन मुझे मालूम है कि इसकी बच्ची बीमार है, इसको रुपयों की आवश्यकता है। इसलिये मैंने सोचा मैं पैसा नहीं लेता पर यह पैसा किसी अच्छे व्यक्ति के काम आ सकता है। इसलिये मैंने झाडू से एक तरफ करके पत्थर से इसको दबा कर रखा कि जब सवेरे वह आएगा तो मैं उसको यह दे दूँगा।' यह घटना देखने के बाद मन में इतना प्रेम जागा कि हम गीता में पढ़ा करते थे कि 'ईश्वर सर्वभूतों

के हृदयों में विराजमान हैं और इस प्रकार का दर्शन करने वाला महात्मा, जो सब में वासुदेव का दर्शन करे, वह तो बहुत दुर्लभ है। मुझे ऐसे दुर्लभ महापुरुष का दर्शन करने का, उनकी सेवा करने का अवसर मिला। वे बारम्बार कहते थे कि 'मन के ऊपर विश्वास मत करना और कभी ऐसा मत मानना कि तुम पूरे साधु हो गये हो। जीवन के अन्तिम दिन तक तुम्हारा साधना, स्वाध्याय, चिन्तन यह सब निरन्तर चलते रहना चाहिए और इसको चरितार्थ कर उन्होंने जीवन में स्वयं सन्देश दिया, केवल वाणी के द्वारा नहीं, वर्तन के द्वारा। एक ओर उनकी निराकार की अद्भुत निष्ठा और दूसरी ओर वर्ष में एक बार छप्पन भोग लगाते थे। वे उस समय सबको सूचना देते थे, जिला के अधिकारी को, पुलिस के लोगों को, प्रबुद्ध लोगों को कि कल छप्पन भोग लगेगा। किसी को ऐसा न लगे कि इसमें दम्भ और पाखण्ड है। इसीलिये बहुत बड़े पाण्डाल में पचास-पचास सौ-सौ थालियों में सजाकर के मिठाइयाँ रखी जाती थीं और उन सजी हुई मिठाइयों में कलाकन्द, बरफी, पेड़ें। और फिर उसके बाद वे एक कौपीन पहने-पहने खूब संकीर्तन कराते थे। खूब कीर्तन कराते-कराते जब वे भाव समाधि में चले जाते तब लोगों को ऐसा लगता कि बाल कृष्ण भगवान् आए होंगे और इनके भोग का ग्रहण किया होगा। तभी ये समाधि अवस्था में हैं। तभी अधिकारियों के समक्ष उस पाण्डाल की सारी चादरें हटायी जाती और मैं भी सौभाग्यशाली उसका एक दर्शक रहा हूँ। छोटे-छोटे हाथों के बने हुए चिह्न, किसी मिष्ठात्र में पैरों के चिह्न, कहीं चलते हुए बालक का दृश्य उन मिठाइयों पर आ जाता और वह छप्पन प्रकार का सारा व्यञ्जन उसमें से एक कण महाराज नारायण स्वामीजी लेते थे और बाकी कहते 'इस प्रसाद पर पूरा अधिकार तो पूरे समाज का है। उन्होंने तो मुझे जीवन में जो अन्तर प्रसाद दिया है उस प्रसाद को तो लोग प्राप्त नहीं कर सकते हैं।' इसलिये इस भौतिक प्रसाद को मिष्ठात्ररूप से प्राप्त करके वे अपने जीवन को धन्य बनायें यह उनकी प्रेरणा रहती थी। ऐसा सर्वात्मभाव, ऐसी निष्ठा, ऐसी तितिक्षा, ऐसा मौनभाव में बिना प्रदर्शन किये हुए जीना आज के युग में अत्यन्त कठिन है। ऐसे में मानसिक रूप में स्वीकार किये गये अपने सद्गुरु नारायण स्वामी जी महाराज का स्मरण कर रहा हूँ। उनकी अनन्त कृपा का दर्शन मुझे आज भी होता है।

अन्य अनेक गुरुओं के द्वारा भी मुझे अनेक प्रेरणायें मिली जिनमें वृन्दावन के स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराज का विस्मरण मैं कभी नहीं कर सकता। इसी प्रकार कई ऐसे तपस्वी संन्यासी मिलें जिनका मैं नाम भी नहीं जानता किन्तु उनके प्रति मेरी गुरु बुद्धि रही है और उनसे जो कुछ मैंने श्रेष्ठ पाने का यत्न किया, उनकी कृपा से मुझे मिलता चला गया। गुरु तत्त्व अत्यन्त विशाल है। गुरु की महिमा सम्पूर्ण रूप से कोई कह नहीं सकता है और वह गुरु स्रष्टा है, वह पोषक है, वह संहारक है क्योंकि वह दुर्विचारों का विनाश करता है इसलिये वह शंकर है। वह सद्विचार का पोषण करता है

इसलिये विष्णु है। एक बिल्कुल खाली माटी के भीतर अंकुर डालकर उत्पादित करता है सद्विचारों को इसलिये ब्रह्मा है और इसीलिये गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुर्साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः' ऐसा कहकर उन पूज्य गुरुओं के चरणों में प्रणाम करता हूँ। सबको उस गुरु तत्त्व की वास्तविकता ज्ञात हो और आज के भौतिक गुरुडम से अपने को बचाए।

प्रदर्शन परायण लोगों से अपने को प्रभावित न करके, आन्तरिक दर्शन से जो जीते हैं, ऐसे महापुरुषों की शरण और उनकी वाणी, उनके प्रति विश्वास इस समाज में फिर से जागे ऐसा मैं परमेश्वर के चरणों में प्रार्थना करता हूँ।



लेखक परिचय

स्वामी सत्यमित्रानन्द गिरि जी महाराज का संन्यास आश्रम ग्रहण करने से पूर्व नाम था अम्बिकाप्रसाद। उनका जन्म अश्विन मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्थी तिथि तदनुसार 19 सितम्बर 1933 को आगरा के सात्विक, निष्ठावान् और धर्मपरायण दम्पती श्री शिवशंकर पाण्डे और श्रीमती त्रिवेणी देवी के घर हुआ। सरकारी विद्यालय में पिता अध्यापक थे, बदली का काम था अतः

अम्बिकाप्रसाद का शैशव अधिकतर ननिहाल में व्यतीत हुआ। वहां रामसनेही सम्प्रदाय के एक महात्मा ने उनके शैशव में ही उनके संसार के उपकार करने तथा परिवार को उनके सुख से वंचित रहने की भविष्यवाणी कर दी थी। शिशुकाल में ही अम्बिकाप्रसाद के ध्यान मुद्रा में जाने तथा धार्मिक कृत्यों में रुचि लेने का पता चल गया था।

1945 में वर्नाक्यूलर पास करके डी०ए०वी० कालिज कानपुर से उन्होंने इन्टरमीडिएट की परीक्षा उत्तीर्ण की। तदुपरान्त 'साहित्यरत्न' तथा शास्त्री की उपाधि प्राप्त की। घर पर विवाह की चर्चा होने पर वे गृहत्याग कर घूमते हुए नैमिषारण्य, अयोध्या, चित्रकूट आदि होते हुए ऋषिकेश आ गए। वहाँ स्वामी शिवानन्द तथा उनके 'डिवाइन लाइफ सोसायटी' से प्रभावित होने पर भी वे अपनी साधना में ही लीन रहे।

महामण्डलेश्वर स्वामी वेदव्यासानन्दजी, जो उस समय अपनी साधना और तपस्या के लिये सर्वमान्य थे, से अम्बिकाप्रसाद ने ब्रह्मचर्याश्रम की दीक्षा ली तथा तभी से उनका नाम सत्यमित्रानन्द हो गया। गुरु के आदेश से उन्होंने ग्यारह महीने तक कठोर साधना की। तब उनके मन में देश को जानने-पहचानने की इच्छा जागृत हुई और उन्होंने महानगरों, नगरों, ग्रामों, यहाँ तक की आदिवासियों के वनस्थली गाँवों की भी यात्रा की तथा देश में व्याप्त निर्धनता से द्रवित हो कुछ करने की प्रेरणा प्राप्त की। गुरु के आदेश से 1955 से 1959 तक उन्होंने 'गीतासन्देश' का सफलतापूर्वक सम्पादन तथा प्रकाशन की

व्यवस्था की। 19 अप्रैल 1960 को मात्र सत्ताइस वर्ष की आयु में आपको ज्योतिषीठ की उपपीठ भानुपुरा के महिमामण्डित जगद्गुरु शंकराचार्य के पद पर अभिषिक्त किया गया। तब आप अपने उपदेशों से संसार त्याग का नहीं समाज-सुधार का उपदेश देते हुए भारत भ्रमण करते रहे। आपके उपदेशों से प्रेरित असंख्य भक्त अपने दुर्व्यसनों से मुक्त हुए।

अपने एक भक्त के आमन्त्रण पर 1962 में स्वामीजी ने नैरोबी की यात्रा की। वहाँ अपने व्यक्तित्व, पाण्डित्य, आचरण तथा उपदेशों से उन्होंने हिन्दू समाज को मन्त्रमुग्ध कर दिया। 42 दिन नैरोबी वास के बाद उन्होंने अन्य अफ्रीकी देशों-युगाण्डा और तंजानिया की भी यात्रा की। वहाँ के लोग भी उनसे अत्यधिक प्रभावित हुए। भारत वापस आकर देश भर में भ्रमण करते हुए मन्दिर निर्माण, मन्दिरों का जीर्णोद्धार, सत्संग-मण्डलों की स्थापना के साथ स्कूल-कालिज निर्माण आदि विविध कार्य भक्तों द्वारा सम्पन्न करवाते रहे। समाज-सुधार के कार्यों में लीन रहने पर भी उन्हें शंकराचार्य का पद जनसामान्य से घुलने मिलने में बाधक प्रतीत होता और तभी नौ वर्ष पश्चात् 1969 में उन्होंने उक्त शंकराचार्य के महिमामण्डित पद से स्वयं को मुक्त कर लिया। यह कोई छोटा त्याग नहीं था फिर भी इस त्याग से जहाँ उनकी क्रियाशीलता बढ़ गयी वहीं लोगों में उनका सम्मान भी बढ़ा।

1970 की रामनवमी को सत्यमित्रानन्दजी ने हरिद्वार में 'समन्वय कुटीर' की स्थापना की। इसके साथ समन्वय आश्रम तथा समन्वय ट्रस्ट की स्थापना की गयी। लोक हितकारी कार्यों में यह ट्रस्ट लग गया और तभी चलती स्वास्थ्य सेवाओं के साथ फिजियोथेरेपी सेंटर, गौशाला, समृद्ध पुस्तकालय आदि की स्थापना के अतिरिक्त अन्त्योदय-कार्य, अकाल, भूकम्प आदि में सेवा तथा सहायता कार्य भी सम्पन्न होने लगे। समन्वय 'साधना पथ' मासिक पत्र भी प्रकाशित करता है। सप्त सरोवर हरिद्वार में मुख्य आश्रम होने पर भी इसके अनेक केन्द्र तथा शाखाएं देश में हैं। लन्दन में तो समन्वय परिवार वर्षों से कार्यरत है तो अन्य स्थानों पर भी इसके प्रार्थना केन्द्र हैं।

भारत माता के लिए अटूट श्रद्धा तथा अनाविल भक्ति के परिणामस्वरूप नवम्बर 1978 में उन्होंने हरिद्वार में 'भारत माता मन्दिर' का निर्माण करवाया। भारत माता के साथ देशवरेण्य देशनायकों, वीर ललनाओं, शहीदों तथा शिवजी को भी उसी मन्दिर में प्रतिष्ठित करना एक अनुकरणीय प्रयास है।

देश के साथ विदेशों में भी आपका कार्य चलता रहता है। 1969 में आप लन्दन, जर्मनी, फ्रांस, स्विटजरलैण्ड आदि गए तथा हिन्दू धर्म, दर्शन, भारतीय जीवन-पद्धति आदि से लोगों को परिचित करवाया। पाश्चात्य भक्तों को दीक्षा दी। 1973 में आप दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों में भी गए तथा धर्म का प्रचार किया। इसी भांति

समय समय पर उनका विदेशों में सोदेश्य यात्रा जारी है।

संन्यासी स्वामी जी का समाज-सुधार का कार्य अतीव व्यापक तथा विविध है। समाज में फैली कुरीतियों जाति प्रथा आदि और दुव्यर्सनों मद्य-पान आदि से मुक्ति दिलाने में आप सदा सचेष्ट रहते हैं तो शिक्षा के प्रचार-प्रसार के भी आग्रही हैं तथा सर्वोपरि आध्यात्मिकता की शीतल-सरिता में भी अवगाहन करवाते हैं। वस्तुतः एक जागरूक धर्माचार्य से अपेक्षित सभी कार्य वे करते हैं साथ ही सन्त समाज में भी समन्वय स्थापित करने में वे सदा प्रयासशील हैं।



HOMAGE TO MY UNFORGETTABLE GURUS

Dr. Devendra Kaushik

Having formally retired on the first of March this year (1999) from the post of Professor in the Jawahar Lal Nehru University's School of International Studies after a 44-years stint as a teacher, I look back upon a few of my Gurus who not only enriched my knowledge but also helped me to shape up as a successful teacher by modestly striving to follow in their footsteps. Their ideal personal life, compassionate character, helpful nature and unbounded love for students combined with tireless cognitive pursuit of knowledge and a total devotion to the profession illumined the path of my life as a lode-star. The one striking thing about them was their continuous preoccupation with acquiring more and more of knowledge to be able to impart it generously to all who would care to receive it. The famous Sanskrit sutra 'Guru Brahma, Guru Vishnu, Guru Devo Maheshwara, Guru Sakshat Param Brahma, Tasmai Sri Gurve Namaha' applied to them most aptly.

Kalyan Rai Upadhyaya, my English language teacher in the school (I was not educated in a convent public school) in Saharanpur was one of the few teachers who left an indelible imprint on my life. He was not just my English language teacher but a kind neighbour and family friend. Our family association continued even long after he had left Saharanpur and taken over as a college principal in his native Badaun district in Uttar Pradesh. Dressed immaculately in a three-piece English costume Upadhyaya ji had a rare knack of achieving something extraordinary, namely, fostering interest in learning a foreign language. He was a hard taskmaster as a teacher of English language giving particular attention to correct pronunciation, spellings, grammar and of course a lucid style. He took great pains to teach his students write beautifully, always exhorting them to improve their hand-writing, I still vividly remember his regular advice-"Always cut your 't's, dot your 'i's' and open your 'e's'. Don't be lazy in consulting the dictionary whenever you are in doubt about the spelling or meaning of a word"-was another point he was never tired of emphasising. His rigorous training has helped me a lot in writing books and

articles without taxing much my editors.

Sita Ram ji was another teacher of mine who besides inculcating in me love for the subject of Economics at the intermediate level also taught me the importance of being good mannerly in life. "Ba-Adab-Ba Nasib, Be-Adab-Be Nasib"- used to be his first sentence while entering the class room. Sita Ram ji was an excellent communicator who could explain the most abstract and abstruse ideas in a simple language often by using folk idioms. At the end of his lecture he would always raise questions to test if the students had really grasped what he had taught. To the student who would give the best answer he used to reward with a four-anna coin. I still recollect having received his four-anna prasad on a number of occasions.

To Sita Ram ji I remain indebted for his physical economy approach which rejects the monetarist view of economics. Economics is not just about money, he taught us. How I wish this simple truth is not forgotten at a time when the world is on the brink of a great disaster for the human kind due to the Maya of the monetarist pseudo-Economics propagated by the IMF and the World Bank.

Uzbek historian (he was actually Tajik by nationality) Mavlan Gafarovich Vakhobov who was my scientific supervisor for my second doctorate from the Tashkent University I owe a lot for initiating me into the socio-historical objective approach based on the works of Marx and Lenin to the nationality question. Without a creative (not dogmatic) application of this approach it is not possible to satisfactorily explain the historical phenomenon of modern nationalism and create a proper state mechanism for maintaining inter-ethnic harmony in our present day world. Vakhobov was a very simple open-minded person who would not like to impose his views. Notwithstanding the high Party and state positions held by him (he had been Deputy Prime Minister of Uzbekistan and Secretary of the Central Committee of the Communist Party in Uzbekistan) he would make any person calling on him feel at home. In his house he would treat me with delicious Uzbek pulao cooked by him. The other Soviet scholar Alexei Mikhailovich Dyakov though he was formally never my teacher was also a Guru of sorts in as much as during my six-month stay at the Moscow Academy of Social Sciences of the Central Committee of the Communist Party of the Soviet Union, my frequent interaction with him helped to deepen my understanding of the highly complex character of the nationality question in India. Dyakov was an open-hearted saintly person besides being one of the top Indologists

of the USSR. He started as a medical doctor and became the Health Minister of Tajikistan which position he gave up for an academic career on account of his deep love for India. His was an open house of a traditional Indian Guru and any body could just walk upto him in his country house near Moscow to seek his advice without making a prior appointment. I still fondly remember my long discussions with him on the Santhals, Mundas and Bhils of India as he sat on a chair feeding the birds and playing music for them, He told me about his discovery of the birds' love for music.

Babajan Gafurov, who headed the USSR Academy of Sciences, 200 year old Institute of Oriental Studies in Moscow, for more than two-decades was also like a Guru to me. I worked as a Visiting Professor at his Institute for two years from 1972 to 1974. Our association, however, went back to the period before my joining his Institute and continued after I left Moscow. I was immensely benefitted by his profound knowledge of Central Asian, history. My long interaction with him has helped me in coming up as an Indian historian of Central Asia.

Not long ago this year on 28 July under the auspices of Maulana Abul Kalam Azad Institute of Asian Studies in Calcutta of which I happen to be the Chairman, an International Conference on Central Asia was held to mark the 90th birth anniversary of Gafurov, The Conference was inaugurated by Prime Minister Atal Behari Vajpayee who recalled Gafurov's contribution to Central Asian history and strengthening of Indo-Soviet Cultural and Scientific ties. When I Planned this conference I was not aware that 28 July 1999 would be Guru Purnima day. I am happy that I could get the Prime Minister of the country who is himself a poet and son of a teacher and the Union Human Resource Development Minister Dr. Murli Manohar Joshi, also a teacher, along with a host of scholars from Russia, China, Armenia, Germany and the Central Asian Republics and India for paying homage to a real Guru of mine. To Gafurov, to Vakhabov, to Dyakov, to Upadhyayaji and Sita Ramji I would like to pay my homage. As before, they continue to be a perennial source of inspiration and moral strength for the remaining part of my life.

A Profile

Dr. Devendra Kaushik, son of Sri Rati Ram Tyagi of Saharanpur, saw the first rays of life on March 1, 1934. He passed the early steps of education in Saharanpur and shifted



to Lucknow to obtain LL.B. degree in 1954 and passed M.A. History with specialization in Western History and became richer with three gold medals to his credit. A Ph.D. degree from Agra University in 1963 on Central Asia in Modern times; A study in Anglo Asian colonial rivalry in 19th Century' further helped him to widen his wings for distant horizons. Yet another Ph.D. 'On Implementation of Soviet nationalities policy in Central Asia' 1917-1937,' from Tashkant, USSR established Dr. Kaushik as distinguished scholar.

Meerut College, Meerut provided him an opportunity to launch his academic career and he never looked back. A brief stint at Kurukshetra University paved way for Readership at Jaipur in 1974, post of Director, Pre-entry Coaching Institute for Scheduled Castes and Scheduled Tribes was the next step. Chief Warden and Head of the Dept. of History and Indian Culture, Director Rajasthan studies, Director Jain Studies was the natural outcome. Professor Dept. of History and Dean of Students Welfare Udaipur entered the JNU at Delhi on March 29, 1986 where he taught and occupied the chair at Centre for Soviet and East European studies, School of International studies. He retired on 1st March 1999.

His association with foreign institutes remains matchless. As visiting professor at Institute of Oriental studies USSR and Academy of Sciences, Moscow (1972-74) he won laurels in his field. He worked as Research fellow for three and half years at Tasskant Institute of Social Sciences, Moscow helped him in research pursuits. He did his fieldwork at Institute of Foreign Affairs Warsaw, and Karl Marx University Budapest. He participated actively in the seminars and conferences at D'Shombe, USSR, Tokyo, Ashkhadad, Samarkand. He is remembered for his contribution to UNESCO International Conference on Central Asia (1969) and Indo Soviet Historians symposium under the auspices of the Indian Council of Historical Research, New Delhi (1976).

He visited USSR, Hungary, Poland and England in 1981 in connection with his research project-Soviet Union and the Third World. As a penalist he attended World Congress of Soviet Studies in 1985 at Washington and U.N. Seminar on National Building and Regional Security held in South Asia in 1985 at Lahore. As a member of Indian goodwill delegation

under the leadership of Sri Ram Niwas Mirdha he visited Uzbekistan and Kazakistan

He is the member of Academic Councils and Courts of a number of Universities.

A number of books flowed from his pen-India and central Asia in Modern Times, Soviet relations with India and Pakistan, Indian Ocean Towards a peace Zone, China and the third world, Socialism in Central Asia, China in Ideological Puzzle and as co-author- Towards collective security in Asia. He edited along with Soviet academician L.V. Mitaon, 'Lenin, His Image in India.' Induski-ocean Problems, Bezatasnosti -Lenin in Russian was published from Moscow, 'Perspectivies on security in the 'Indian Ocean Region' and 'Hind Mahasagar and Suraksha' were also published. A number of research papers of Dr. Kaushik are very popular with scholars.

He was awarded Soviet Land Nehru award on 'Lenin his image and India in 1970'. In 1982 Bulgarian parliament presented him G. Damigov birth centenary medal. He has been holding posts of alumins of Soviet Academic Institutes Moscow and founder president of International Corporations.

After his retirement from JNU, he is holding the post of Chairman, Maulana Abul Kalam Azad Institute Calcutta.

